इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक:
प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र

प्रस्तुतकर्त्ता:
श्रीप्रकाश शुक्ल

हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

1999

भूमिका

कविता मूर्त लोक है। लोक अमूर्त कविता है।... कविता और लोक दोनों ही जीवन की विविधता से जुड़े हैं .... जीवन जब सुघड़ होता है तब शिष्टोन्मुख होता है। जब अनगढ़ होता है तब लोकोन्मुख होता है... इस अनगढ़ता की तरह लोकोन्मुखता भी अनंत व वैविध्यपूर्ण होती है और जीवन का बहुलांश इसी से जुड़ा है। जाहिर बात है, इस अनन्त व वैविध्य परक जीवन को पकड़ना ही कविता का उद्देश्य भी होता है और कविता अपनी समस्त आत्यंतिकता में इसी ओर झुकती आयी है। कविता की यही उन्मुखता ही लोकोन्मुखता है। इस प्रकार जैसे लोकोन्मुखता जीवन के वैविध्य से जुड़ी है, वैसे ही कविता भी। जैसे लोक के अपने अपने (इसीलिए विविध भी) राग होते हैं, वैसे ही कविता के भी। जैसे शिष्टोन्मुखी काव्य एक निश्चित की ओर जाता है और एक प्रकार की 'रीति' का शिकार होता है, वैसे लोकोन्मुखी काव्य एक अनिश्चित की ओर होता हुआ रीति-मुक्ति में ही अपना विकास करता है। कविता का उद्देश्य भी इसी अनिश्चितता की ओर उन्मुख होना है और हमारी हिन्दी कविता सदा से ही इस ओर उन्मुख होती आयी है।

इस प्रकार संसार का हर शिष्ट एक जैसा होता है जबकि हर लोक अपनी तरह का होता है। कविता को जब जब अपनी तरह के होने की जरूरत पड़ेगी, तब तब वह लोक की ओर मुड़ेगी। इसी कारण संसार की हर वस्तु कविता से युक्त है। यूँ यह भी कह सकते हैं कि संसार की हर वस्तु अपनी आत्यंतिकता में एक कविता है। संसार में एक क्षण में जितने प्राणी पैदा होते हैं, कम से कम उतनी कविता उस क्षण में उत्पन्न होती है। इस प्रकार संसार जैसे मूलत: काव्योन्मुखी है, वैसे कविता भी संसारोन्मुखी! यह संसारोन्मुखता ही अपने आदिम राग में लोकोन्मुखता है।

हम संसार की ऐसी ही कविता की तलाश में निकले हैं और इस आधार पर आगे बढ़ने को उद्यत हैं कि इसका प्रतिनिधि भाग वह लोक ही है जो हर प्राणी व समाज से उसके मूल राग में जुड़ा हुआ है। इस रूप में कविता की मूल प्रवृत्ति लोक धर्मी ही रही है, क्योंकि हर कवि का आरम्भ यही से होता है। यह वही लोक धर्मिता भी है, जो हिन्दी आलोचना के केन्द्र में है।

इसी को ध्यान में रखकर हमने **साठोत्तरी हिन्दी कविता में लोक सौन्दर्य** जैसे विषय को चुना। इसमें मेरी दृष्टि सदैव ही हिन्दी साहित्य की समग्र परम्परा पर रही है, जिसके आधार पर भरसक कोशिश की गयी है कि प्रवृत्ति व व्यक्ति के बारे में लिखते यह समझा जाय कि वह कहाँ से जुड़ता है और कैसे जुड़ता है? इस रूप में हमारा प्रयास यही रहा है कि अनावश्यक संदर्भों से बचा जा सके और आवश्यक संदर्भ छूटें भी नहीं। शायद यही कारण है कि कबीर व निराला जैसे कवि बार बार आये हैं, क्योंकि वे आने वालों के बार बार प्रेरक रहे हैं। इसके लिए हमने इस शोध प्रबन्ध को छ: भागों में विभाजित किया है-

(क) लोक तत्व और लोक सौन्दर्य

(ख) हिन्दी काव्य और लोकधर्मिता

(ग) साठोत्तरी हिन्दी कविता की अवधारणा

(घ) साठोत्तरी हिन्दी कविता में लोक सौन्दर्य

(ङ) भाषायी एवं शिल्पगत परिवर्तन

(च) उपसंहार

प्रथम अध्याय-

"लोक तत्व और लोक सौन्दर्य" में हमने लोक और सौन्दर्य को परिभाषित करने के साथ लोक सौन्दर्य को भी परिभाषित करने की कोशिश की है और यह दिखाया है कि कैसे आधुनिक काल तक आते आते सौन्दर्य अपने आध्यात्मिक सत्ता से हटकर लोक की ओर

मुड़ता है और कैसे लोक विशेष से हटकर स्वभावत: सामान्य के सौन्दर्य की ओर झुकता है, और यह भी स्पष्ट किया है कि आधुनिक समय तक लोक और सौन्दर्य दोनों ही अपनी बहिरंग अवस्थितियों से मुक्त होकर 'अभिकेन्द्रिक' (Centripetal) हो जाते हैं।

दूसरे अध्याय-

"हिन्दी काव्य और लोकधर्मिता" में यह बताने की कोशिश की गयी है कि आदिकाल से आरम्भ हुए हिन्दी साहित्य की मूल परम्परा लोकधर्मी ही रही है और 'घटनाओं में विस्फोट के साथ चरित्रों में संकोच होता जाता है'।

तीसरे अध्याय-

"साठोत्तरी हिन्दी कविता की अवधारणा" में 'साठोत्तरी' शब्द के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए, अन्य बातों के अलावा, इसे 'मृत्यु की कोख से निसृत काव्य' कहा गया है, जिसपर तत्कालीन नायकों/रचनाकारों की छाया का प्रभाव दिखायी देता है। इसे पूर्णत: मोहभंग की कविता भी कहा गया है, जिसमें एक प्रकार की 'केन्द्रीयता' के टूटने की बात कही गई है। यह आत्म-बद्धता से मुक्ति का प्रयास भी रही है।

चौथे अध्याय-

"साठोत्तरी हिन्दी कविता में लोक सौन्दर्य" में सबसे पहले यह बताया गया है कि स्वतंत्र भारत में जैसे जैसे लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण (Democratic decentralization) की प्रक्रिया को बल मिलता गया है, वैसे वैसे हिन्दी कविता में लोक जीवन की अभिव्यक्ति का भाव प्रबल होता गया है। इस संदर्भ से इस समय में लोक सौन्दर्य परक कविताओं की पाँच विशेषताओं और दस रूपों को भी बतलाया गया है। इसी के साथ साठोत्तरी हिन्दी कविता के 15 कवियों का कालक्रम के अनुसार मूल्यांकन भी किया गया है जिनके नाम इस प्रकार हैं- केदारनाथ सिंह, विजेन्द्र, ऋतुराज, राजेश जोशी, मंगलेश डबराल, वीरेन डंगवाल, आलोक धन्बा, ज्ञानेन्द्र पति, अरुण कमल, स्वप्निल श्रीवास्तव, नवल शुक्ल, निलय उपाध्याय,

एकांत श्रीवास्तव, बद्री नारायण और बोधिसत्व।

पाँचवें अध्याय-

"भाषाई एवं शिल्पगत परिवर्तन" में यह स्पष्ट किया गया है कि हिन्दी कविता की भाषा स्वभावत: लोक मन में रची बसी भाषा से जुड़ती आई है और आधुनिक काल की भाषा 'तनाव' व 'बिम्ब' युक्त हो जाती है, जो इसे मध्यकालीन भाषा से अलग रूप प्रदान करता है जहाँ भाषा में 'तनाव' से अधिक 'तन्मयता' के लक्षण मिलते हैं। आधुनिक काल में समय समय पर हो रहे भाषागत परिवर्तनों को भी लक्षित किया गया है और "भाषाई आंतरिकता", "शब्द-प्रसरण", "लोक शब्दों का प्रचुर प्रयोग", "लोक चरित्रों का प्रयोग" के माध्यम से शिल्पगत परिवर्तन को बताया गया है।

छठें और अंतिम अध्याय-

"उपसंहार" में यह स्पष्ट करने की कोशिश की गई है कि कला और साहित्य में संरक्षण की अतिशयता 'कलात्मकता' का शिकार बनाकर उसे उसकी आंतरिक शक्ति से वंचित करती है। यह लोकधर्मी कविताओं के लिए घातक है।

इस रूप में इस समग्र शोध प्रबन्ध में हमारी दृष्टि हिन्दी कविता के माध्यम से उस मनुष्यता को बचाने की रही है, जिसकी अगली 21वीं शताब्दी व तीसरी सहस्त्राब्दी में सबसे अधिक जरूरत है। इसीलिए हमने हर एक 'प्रवृत्ति' को उसके पूरे 'संदर्भ' में पकड़कर अगली सम्भावनाओं की तलाश की है। हम कहाँ तक सफल हैं। यह हिन्दी कविता के आगामी विकास की दिशा पर निर्भर होगा।

अंत में सबसे पहले तो मैं आभारी हूँ अपने गुरु *डा0 सत्य प्रकाश मिश्र जी* के जिनकी मीठी हड़कान ने मुझे इस उबाऊ कार्य के प्रति सदैव सचेष्ट बनाये रखा।

इसके साथ ही *भाभी अर्चना जी* और *भइया उमाकांत जी* के स्नेहिल, अबाधित और अनाहत सहयोग व सत्प्रेरणा का भी आभारी हूँ, जिनका होना इस शोध के होने से अनिवार्यत:

जुड़ा है और इसी कारण यह कार्य इन्हीं को समर्पित है।

इनके अलावा *पत्नी सुनीता* की कोंचा-कोंची, इलाहाबादी मित्र *चन्द्रशेखर* की इस आशय की हालचाल, गाजीपुर की स्थानीयता से शीघ्र मुक्ति की इच्छा ने मेरे इस अनपेक्षित कार्य को सफल बनाया। इसमें इलाहाबाद का वह परिवेश व परिस्थितियाँ तो हैं ही जिन्होंने अल्प समय में बहुत कुछ सीखने का अवसर दिया, जहाँ अकसर मैं नहीं, बल्कि मेरी 'स्कूटर' मुझ पर सवार रहा करती थी !

कहना न होगा कि *भाई विजय वर्मा* का बनारसी कम्प्यूटर यदि न होता तो निश्चय ही यह कार्य अभी भी हवा में झूल रहा होता। अत: उन्हें भी साधुवाद।

31.03.1999 -श्रीप्रकाश शुक्ल

गाजीपुर

अनुक्रम

अध्याय -1

लोक तत्व और लोक सौन्दर्य

1- लोक के बारे में विद्वानों के विचार-

'लोक' शब्द पहले से ही व्यापक अर्थ देने वाला रहा है और इसका सीधा और सामान्य कारण इसकी अपनी आंतरिक गतिशीलता ही है। वस्तुत: लोक जड़ता के विरुद्ध गति का विद्रोह ही है, और इस रूप में यह गतिशील है। इसकी यह गतिशीलता भी स्वत: स्फूर्त है, जिसके कारण इसके अपने भीतर ही अंतर्निहित हैं। जो बाह्य कारण हैं, वे तो इन्हीं आंतरिक कारणों के विस्फोट ही हैं।

'लोक' का सीधा अर्थ प्रत्यक्ष होता है। वेद व्यास की 'शत साहस्री संहिता' में भारतीय लोक जीवन के अनेक मार्मिक चित्र मिलते हैं और इसी में उन्होंने एक जगह लिखा है-

"प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नर:"

तब जाहिर है यह जीये गये यथार्थ पर आधारित मानवीय अनुभूतियों से जुड़ा रहता है और ये अनुभूतियाँ रचना में संवेदना को आधार बनाकर स्पंदित होती रहती है। 'लोक' का अर्थ कुछ विद्वान सीधे 'लोग' से लगाते हैं। *डा0 हरद्वारी लाल शर्मा* लिखते हैं- 'लोक' शब्द का लम्बा इतिहास है पर हमें इसके लिए जंगल में जाना अनिवार्य नहीं। यह वेदों से चलकर आया है और युगों की यात्रा में इसका अर्थ और रूप परिवर्तन हुआ है। कहीं इसका अर्थ 'स्थान' है, जैसे स्वर्ग-लोक, कहीं स्थानीय लोग, जैसे 'सुनि अपजस देहहिं मोहि लागू'। यही सम्राट अशोक द्वारा उत्कीर्ण शिलालेखों

में 'सब्बो लोको' है।[1] इससे स्पष्ट होता है कि 'लोक' का अर्थ 'लोग' है। पर प्रश्न उठता है 'कौन लोग'? और इस प्रश्न के साथ ही लोक शब्द की शक्ति का संकोच होता है और हम विशेषण के साथ कहते हैं, बड़े लोग, छोटे लोग, अमीर लोग, जर्मन लोग गरीब लोग। पर इस विशेषीकरण के बाद भी इसका मूल मन्तव्य बना रहता है- जर्मन लोग का मतलब सभी जर्मन, गरीब लोग का मतलब सभी गरीब। तब यह ठीक ही है जैसा डा0 हरद्वारी लाल शर्मा लिखतें हैं कि 'सच पूछें तो लोक शब्द में इसकी बीज शक्ति और मूल मन्तव्य ही 'सब' है। वेदों में यह 'विश्व' का पर्याय भी है। जहाँ इसका अर्थ है 'बहु' और 'सर्व' और वहाँ यह शब्द पहले विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है जैसे विश्वानि भुवानि, विश्वानि दुरितानि, विश्वे देवा: (सारे भुवन, सारे पाप, सारे देवता। अंत में चलकर इसका अपना अर्थ हो गया विश्व = संसार, दुनिया।) विश्व का यही अखिल और अखण्ड रूप 'लोक' शब्द में झलकता है। (उप0)

अब यहाँ से पता चलता है कि 'लोक' का महत्व विश्व से भी बड़ा है। इसे प्रमाण और अधिकार के स्रोत के रूप में स्वीकार किया गया। लोग क्या कहेंगे? (लोक-मत), इसी तरह का है। 'हंस गवनि तुम नहिं बन जोगू/ सुनि अपजस देहहिं मोहि लोगू'। यह मानस में भगवान राम के मुँह से निकला सहज वचन है। स्वयं भवभूति ने उत्तर-रामचरितम् में राम को आर्दश शासक के रूप में चित्रित करते हुए उनसे कहलवाया है-

राज्यं, दयां च, सौख्यं च, यदि वा जानकीमपि।

आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा।

(राज्य, सुख व दया, यहाँ तक कि सीता को भी लोक के आराधना हेतु छोड़ते हुए मुझे व्यथा न होगी)

इससे स्पष्ट है कि 'लोक' की संकल्पना में समानता का भाव मिलता है। यह

सामूहिक चेतना का स्रोत है। लोकतंत्र का मूल बीज यही लोक है।

अपनी इसी पुस्तक में डा0 हरद्वारी लाल शर्मा लिखते हैं कि 'लोक के अर्थ में भू-भाग का बहुत महत्व नहीं है। जिस लोक (लोगों) के साथ व्यक्ति अपने आपको भावात्मक और सामाजिक रूप से 'एकमएक' कर सकता है, वही उसका 'लोक' है। इंग्लैण्ड, अमरीका अथवा किसी भी विदेश में रहकर कोई भी भारतीय अपनी जाति, कुल, कुटुम्ब, प्रदेश व देश के साथ (कुछ अपवादों को छोड़कर) अनेक कड़ियों से जुड़ा रहता है।' (पृ0-13)

इसी से इसका भी संकेत मिलता है कि 'लोक' का अर्थ 'देखना' है और वह भी 'अपनेपन' के भाव से।

'लोक' के अध्ययन की दिशा में सबसे पहले पश्चिमी विद्वानों का ध्यान गया जहाँ पहले इस अध्ययन को "पापुलर एण्टी क्वीटीज" के नाम से जाना जाता था। पश्चिम में यह लोक 'Folk' था, जो Civilized Society से इतर था और इन दोनों के बीच कहीं से भी कोई सम्पर्क नहीं माना जाता था। लोक से जुड़े जो भी अध्ययन होते थे, वे आदिम जाति के रूप में ही होते थे। सन् 1846 में थामस महोदय ने इसका नाम 'फोक लोर' दिया।

Folk शब्द एंग्लो-सेक्सन शब्द Folc का विकसित रूप है, जो जर्मन में Volk हो गया है। Volk का अर्थ है- 'किसी सभ्यता से दूर रहने वाली पूरी जाति'। पर जब इसका अध्ययन किया गया, तब इसमें Lore शब्द जोड़ दिया गया जो एंग्लो-सेक्सन शब्द Lar से बना हुआ है जिसका अर्थ है- वह जो सीखा जाय। इस प्रकार 'फोकलोर' का अर्थ हुआ- असंस्कृत लोगों का ज्ञान।[1+]

इस रूप में लोक के अध्ययन (लोक साहित्य) में पाश्चात्य विद्वानों ने लोक को बहुत कुछ आदिम जातियों का आत्मकथात्मक उत्स ही माना है, और एक बड़ी सीमा

तक वह है भी, किंतु इससे भी आगे बहुत कुछ है, जिसके बारे में वे नहीं बोलते। वस्तु स्थिति तो यह है कि लोक में जो विश्वास, परम्परायें, जादू-टोना और दैवी चमत्कार के गीत तथा वार्तायें हैं, थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ आधुनिक समाज में भी प्रचलित हैं। स्वयं अंग्रेजी के विद्वान टाइगलर और लैंग ने इसे प्रतिपादित किया है। फेअर के Golden Bough में भी इसका उल्लेख मिलता है। यह सच है जिन्हें हम आज पौराणिक गाथायें, कथायें व लोक वार्तायें कहते हैं, उनमें मानव के सामाजिक व मानसिक विकास की प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है।

भारतीय मानस लोक की इन्हीं संभावनाओं की तलाश करता हुआ, 'लोक' को 'फोक' से अलग करता है और यह संस्कृत साहित्य से लेकर हिन्दी साहित्य तक में देखा जा सकता है। यह बात गौरतलब है कि जहाँ पाश्चात्य साहित्य 'लोक' का अध्ययन एक पृथक अध्ययन के रूप में करता है, भारतीय साहित्य में आरम्भ से ही यह 'लोकजीवन' से जुड़ा हुआ है। इससे यह स्पष्ट है कि 'लोक' के आंतरिक स्वरूप को आरम्भ से ही स्पंदित होता माना गया है। यह पृथक नहीं, संयुक्त अध्ययन का विषय रहा है और यह अध्ययन सदैव 'वेद' की तुलना में किया गया है।

वेद व लोक का विभाजन भी 'पुरुषसूक्त' के पहले नहीं था, क्योंकि श्रम विभाजन के पूर्व लोक व वेद में भेद नहीं था। पहला विभाजन श्रम विभाजन के कारण हुआ और दूसरा 'वाचिक परम्परा' से वेद को बचाने के लिए। इस रूप में यह सर्वविदित है कि लोक वेद के सापेक्ष माना गया है। इस कारण से 'लोक' की व्युत्पत्ति में भारतीय विद्वानों के बीच काफी मतभेद है। एक वर्ग इसका सम्बन्ध "लोकृदर्शने" से मानता है, तो दूसरा 'रुक' या 'रोक' से (जिसका अर्थ चमकना होता है।) खैर मूल अर्थ चाहे जो हो, प्रयोगत: इसका प्रथम अर्थ 'स्थान' मिलता है और ऋग्वेद में यह इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैसे 'स्थान-दो' के लिए 'देहि लोकम', बाद में तीन लोक,

चार लोक आदि। इसी के साथ वेद या शास्त्र से इतर के लिए भी लोक का प्रयोग होता है। उसी समय से 'लोके वेदे च' के रूप में 'लोक' की एक सत्ता मानी गयी है।[2]

स्वयं गीता में भी वेद से इतर लोक की सत्ता स्वीकार की गयी है। "अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित: पुरुषोत्तम"। प्राकृत व अपभ्रंश के 'लोक अप्पवाय' (लोक प्रवाद) व 'लोग जत्ता' (लोक यात्रा) शब्द भी उसी अर्थ की ओर संकेत करते हैं। यही अर्थ हिन्दी में भी मिलता है। (सो जानब सत्संग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ- तुलसी)।[3]

इस रूप में हम देखते हैं कि लोक व वेद संस्कृत साहित्य में एक साथ मिलते हैं जिन्हें हम लोक व शिष्ट संस्कृति से सम्पृक्त हुआ मान सकते हैं। वस्तुत: इस अर्थ में लोक, वेद विरोधी न होकर वेद पूरक ही है और इसे (लोक को) एक और नया शास्त्र कहकर नहीं टाला जा सकता। लोक सम्पर्क के बिना सभी शास्त्र अधूरे हैं। लोक का अमृत-निष्पंद जिस शास्त्र में नहीं मिला, वह कितना ही पण्डिताऊ हो, निष्प्राण रहता है। जो शास्त्र लोक के साथ नहीं जुड़ा, वह बुद्धि का छलावा है।[4] इस तरह यह लोक सुविस्तृत है। स्वयं 'जैमिनीय उपनिषद' में कहा गया है-

'बहु व्याहितो वा अयं। बहुशो लोक:। क एतद अस्य पुनरहितो अयात- जै0 उ0 ब्रा0 - 3/28

(यह लोक अनेक प्रकार से फैला हुआ है। प्रत्येक वस्तु में यह प्रभूत है)

इस तरह हम पाते हैं कि लोक एक सतत परिवर्तनशील परिभाषाओं की अवधारणा है और यह अवधारणा समय के परिप्रेक्ष्य में नया स्वरूप ग्रहण करती जाती है, जिससे लोक के बदलते सन्दर्भ का पता चलता है। यह बदलता संदर्भ वस्तुत: लोकमन की अनुभूतियों से जुड़ा हुआ है और उनकी प्राथमिकताओं से भी। धीरे धीरे जो लोक, वेद व शास्त्र की तुलना में और उसके समानान्तर विकसित हो रहा था, बाद में शिष्ट

की तुलना में अपना विकास किया क्योंकि वर्गीय व्यवस्था के उदय के साथ वेद/शास्त्र ने 'शिष्ट' का स्वरूप ग्रहण किया और ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि 'लोक चिंतन' किसी भी प्रकार 'रीतिवाद' के विरुद्ध जाती है। *इसी कारण वह रूढ़ि नहीं, रूढ़ियों का अतिक्रमण है।*

हमारे हिन्दी के आचार्यों द्वारा लोक को अपने अपने ढंग से परिभाषित करने की कोशिश की गयी है जिसमें कुछ में लोक को रूढ़िबद्ध ढंग से बताया गया है तो कुछ में रूढ़ियों के अतिक्रमण के रूप में। किन्तु जिसमें लोक को ग्रामीणता से सम्बद्ध करके व्याख्यापित किया गया है, उसमें भी लोक के गतिशील पक्ष को प्रकारांतर से माना गया है। वस्तुत: हमारे यहाँ आदिकाल स्वयं ही संस्कृत व प्राकृत काव्यों के प्रति विद्रोह था। अत: जहाँ तक हिन्दी की बात है तो उसकी अपनी परम्परा में लोक को संघर्षशील व विद्रोही के रूप में ही आरम्भ से देखा गया है और सच तो यह है कि इसी विशेषता का विकास परवर्ती साहित्य में मिलता है। आदिकाल, भक्तिकाल व आधुनिककाल का साहित्य इसका प्रमाण है।

कुछ परिभाषायें निम्नवत है-

डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी-

'लोक शब्द का आधार, जनपद या ग्राम्य नहीं है, बल्कि नगरों और गावों में फैली वह समूची जनता है, जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं।' इसमें 'लोक' शब्द को पारंपरिक स्थान से मुक्त करके उसे मानवयुक्त किया गया है। जाहिर बात है कि यह मानव, एक चेतन प्राणी है, जिससे 'लोक चेतना', 'चेतन-लोक' का स्वरूप ग्रहण करती है। इससे स्पष्ट है कि यह चेतन-लोक, पुरातन की पुनरावृत्ति न कर, अपने प्रत्यक्ष ज्ञान से नूतन को संरचित करता है। यह नूतन की संरचना

जन्य इच्छा ही इसे संघर्षमय व विद्रोही बनाती है। इस रूप में हिन्दी समाज का लोक उत्तरोत्तर मनुष्य केन्द्रित होता गया है जिसके फलस्वरूप लोक की सामूहिकता का पता चलता है। 'स्थान' को आधार बनाकर जो लोक 'समुदाय मात्र था, अब आगे 'मनुष्य' को आधार बनाकर यह 'सामूहिक' हो गया। सामूहिकता की इसी भावना के फलस्वरूप ही उसमें जागरुकता दिखायी पड़ती है। उसमें आत्म विश्वास आता है। उसमें नयी स्फूर्ति का संचार होता है। आज के लोक का यह ही नित्य लक्षण है। इसे अन्य विद्वानों की परिभाषाओं में देखा जा सकता है।

डा0 बासुदेव शरण अग्रवाल-

"लोक का अध्ययन बुद्धि का कुतूहल नहीं है। इसे बस एक और नया शास्त्र कहकर नहीं टाला जा सकता। लोक के बिना अन्य सभी शास्त्र अधूरे हैं। जो ज्ञान लोक-हित के लिए नहीं है, वह अधूरा है, मानवी चिंतन का छूंछा फल है। जो शास्त्र लोक के साथ नहीं जुड़ा, वह बुद्धि का छलावा है....."

डा0 श्यामाचरण दुबे-

"कलाओं के उद्भव व विकास का पहला चरण लोक भावना और सामुदायिक चेतना से अनुप्राणित रहा। कला के सृजन व उपभोग दोनों में सामूहिकता स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती थी......" (सापेक्ष: लोक संस्कृति विशेषांक)

डा0 श्रीराम लाल

"लोक की सीमा केवल ग्रामीण या साधारण जनता तक नहीं है। ऐसा संकीर्ण

अर्थ तो बहुत बड़ी साहित्यिक ही नहीं, सामाजिक व सांस्कृतिक भूल का द्योतक है, क्योंकि समस्त चराचर मात्र में लोक की समीचीन अलंकृति ही परम उपादेय एवं मांगलिक है।" (भारतीय लोक संस्कृति की अध्यात्म भूमि: सम्मेलन पत्रिका विशेषांक)। इस रूप में "लोक जीवन में समाज के स्तर पर समीकरण ही संस्कृति है और इस संस्कृति का काव्य के स्तर पर अभिव्यक्ति ही सौंदर्य है।" यह बात और है कि भारत में इस संस्कृति की मूल भावभूमि अध्यात्म को स्वीकार किया गया है, जो धीरे-धीरे कम होता गया है। यह कमी ही, लोक को आधुनिक मनुष्य के निकट लाती है।

डा0 लक्ष्मीधर बाजपेयी-

"लोक का तात्पर्य सर्व साधारण जनता है। दीनहीन, दलित, शोषित, पतित, पीड़ित लोग तथा जंगली जातियाँ कोल, भील, संथाल, गोंड, नाग, शक, हूण, किरात, पुक्कस, यवन, खस आदि सभी लोक समुदाय मिलकर लोक संज्ञा को प्राप्त होता है।" (भारतीय लोक संस्कृति का आधार : सम्मेलन पत्रिका विशेषांक) इसी क्रम में वे आगे लिखते हैं कि ऊपर से अलग दीखने वाले इन सभी लोगों के बीच एक ऐसा सूत्र है जो सभी को जोड़ता है और वह है: भारतीय आध्यात्मवाद। यह आध्यात्मवाद ही धीरे धीरे परिवर्तित होकर मनुष्यता के धरातल पर आता है और यह आज से समय की विलक्षण विशेषता है।

डा0 रमेश कुन्तल मेघ-

"लोक जन समुदाय का वह भाग, किंवा जन समुदाय है, जो नागरिक संस्कृति से किंचित दूर होगा। उभरते हुए वर्गीय विभाजन के आधार पर मार्क्स-एंजेल्स ने बताया कि विभिन्न वर्गों और उनके स्वाभाविक अंतर्विरोध के कारण कला की प्रतिभा

को कुछ लोगों में सीमित कर दिया गया तथा व्यापक तौर पर जनता की कलात्मक प्रतिभा को दबा दिया गया" (सापेक्ष: लोक संस्कृति विशेषांक)। अत: मेध जी के अनुसार यही से चंद व्यक्तियों की कलात्मक प्रतिभा बनाम जनता की कलात्मक भावना का विभेद होने लगा। यही से *लोक साहित्य* का आरम्भ होता है, जिसमें लोक कथायें, लोक गीत, मिथक, मुहावरे आदि आते हैं। इसके बाद *लोक व्यवहार* आते हैं, जो न साहित्य हैं, न कला। जैसे विश्वास, प्रथा, अंध विश्वास, कर्मकाण्ड आदि। अगला रूप *लोक कला* का है जैसे लोक नृत्य, लोक नाट्य आदि। आगे *लोक विज्ञान* है जैसे लोक विचार, जादू-टोना आदि। लोक व्यवहार, लोक कला, लोक विज्ञान, लोक संस्कृति के अन्तर्गत ही आते हैं।

इस रूप में हम देखते हैं कि लोक का संदर्भ लगातार बदलता रहा है और इसके परिणाम स्वरूप बीसवीं शताब्दी तक आते आते नये सौन्दर्यबोध का उदय हो चुका था। यह है संघर्ष की प्रचण्ड सौन्दर्य प्रतीति जिसमें शहर व ग्राम, शिष्ट व लोक, पुराने व आधुनिक के अन्तर्विरोध प्रशमित होते जा रहे हैं और प्रकृति के ऊपर मनुष्य की दक्षता बढ़ती जा रही है। आज हमें नए सिरे से कथा मानकों, क्रमांकों, अभिप्रायों की आवश्यकता है जिसमें सौन्दर्यबोध तो होगा ही, किन्तु अंधविश्वास व सामंतीय सम्बन्ध नहीं होगा। यह ही लोक का आधुनिक परिदृश्य होगा।

लोक और समाजशास्त्रीय दृष्टि-

लोक की समाजशास्त्रीय दृष्टि वस्तुत: मार्क्सवादी दृष्टि से जुड़ी है, जिसमें द्वन्द्वात्मक पद्धति को महत्व दिया गया है। लोक की इतिहासवादी दृष्टि (लोक चेतनावादी) इसे द्वन्द्वात्मक नहीं मानती। वस्तुत: मार्क्सवाद लोक व शास्त्र के बीच द्वन्द मानकर चलता है और स्वयं डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कहना है। इस दृष्टि विचार करने

पर लोक का गतिशील पक्ष उभरकर सामने आता है। इसे हम हिन्दी साहित्य में आदिकाल, विद्यापति, जायसी, सूर कबीर, तुलसी आदि में देख सकते हैं, जो लोक जीवन से अधिक परिचित थे। डा0 राम विलास शर्मा भी लोक-शास्त्र के बीच इसी द्वन्दात्मक रिश्ते की बात करते हैं और इसका कारण यही है कि लोक चेतनावादी (इतिहास दृष्टि) इतिहासकारों की तुलना में लोक का ज्ञान रचनाकारों को अधिक है।

यूँ तो वर्ण और वर्ग विरोधी मन्तव्यों से भरे इतिहास में लोक के निरंतर टूटने और फिर से उसके नये रूपों में जुड़ने का क्रम आदिकाल से आज तक बराबर मिलता रहा है, किन्तु इतिहास के किसी भी दौर में यह द्वन्दहीन नहीं रहा है और लोक-द्वन्द के मूल हमेशा ही वर्गीय रहे हैं। अत: मर्यादा के नाम पर, प्रजाहित के नाम पर इस लोक के द्वन्द की वर्गीय पहचान को मिटा देने की कोशिश हमेशा होती रही है। यह दूसरी बात है कि इसे मिटाया नहीं जा सका, चाहे वे इतिहास दृष्टि सम्पन्न विद्वान ही क्यों न हो। *राजेश्वर सक्सेना* ठीक कहते हैं कि 'भारत के इतिहास में चाहे आदि मानव की सांस्कृतिक पहचान का प्रश्न हो, या वैदिक संस्कृति के विकास का, चाहे बौद्ध और इस्लामिक संस्कृति के प्रतिपक्षों की ठोस भूमिका का सम्बन्ध हो, या फिर आधुनिक युग में साम्राज्यवादी अंग्रेजी की पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव का, इन सभी दौरों में लोक संघर्ष की जातीय परम्परा अविच्छिन्न रही है। भारत के इतिहास में लोकबद्ध संघर्ष की एक महान सांस्कृतिक परम्परा रही है और इसे आदिम जादू से लेकर परवर्ती युगों के धार्मिक मतमतान्तरों, भक्ति, योग और तन्त्र की हर पद्धति व साधना में देखा जा सकता है। इन सभी में लोक की अंतश्चेतना ध्वनित होती है।[5]

इस रूप में हम कह सकते हैं कि आधुनिक समय में लोक के नये माडल के विकास की जरूरत हैं। राजेश्वर सक्सेना ने ऊपर के ही लेख में आगे लिखा है कि

'आज के युग में मध्य युग की सामंतवादी धार्मिक नैतिक विचारों पर टिके हुए लोक के माडल तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रबुद्धतावादी और उदारवादी विचारों पर टिके हुए लोक के माडल से काम नहीं चलेगा। जिस तरह से मध्ययुगीन चिंतन में पनपने वाले लोक व धर्म की अंतरंगनिष्ठता का प्रतिपादन करने वाली बुनियादें अब खोखली हो चुकी है, उसी तरह आधुनिक युग में लोक व विज्ञान की एकजुटता को साबित करने वाली अनेक बुजुर्आ विचारधारायें और पूँजीवादी प्रजातन्त्र की शैलियाँ भी एकदम बेमानी हो चुकी हैं। इन पूँजीवादी शक्तियों ने सामन्तवादी मध्यकालीनता से एक काम चलाऊ किन्तु चालाकी भरा समझौता कर लिया है। पूँजीवाद की इस साजिश के चलते लोक का, लोक जीवन का नया माडल तैयार नहीं हो पा रहा है।... इस लोक के नये माडल के लिए जरूरी है कि धर्म को बाहर छोड़ दिया जाय..." (उप0)[6] इससे स्पष्ट है कि लोक का अधुनातम स्वरूप धर्म के सापेक्ष्य नहीं समझा जा सकता, क्योंकि वह रूढ़ नहीं है। वह सम्प्रदायग्रस्त भी नहीं है।

वस्तुत: ध्यान से देखने पर पता चलता है कि आज लोक की सामुदायिक भावना को तोड़ने, उसकी संवेदनाओं को नष्ट करने की कोशिश लगातार की जा रही है। तब 'लोक के विखण्डन की परिस्थिति में, लोक दर्शन की अवमानना में, लोक धर्म की निरर्थकता में ही व्यक्ति की निजता संस्कार पाने लगती है'[7] और यह लोक जीवन के विच्छिन्न होने का प्रमाण है। लेकिन यह भी सत्य है कि पूँजीवादी ताकतों की तमाम कोशिशों के बावजूद लोक जीवन अपना नैरंतर्य बनाये हुए हैं। यह भी सच है कि अब लोक का पारम्परिक अर्थ बदल चुका है। अपने आधुनिक अर्थ में लोक अव जनवाद का, समाजवादी जनवाद का द्योतक हो गया है। लोक के इस नये रूपांतरण को इतिहास के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी नियमों से समझा जा सकता है।.... यह आधुनिक जनवाद भारत की कृषि संस्कृति को आगे बढ़ाता है, उसमें नये जमाने के द्वन्द भरता

है।[7] इस रूप में लोक जीवन के बदलते जो नवीन उपादान है, उससे लोक मन व लोक धर्म के बदले स्वरूप का पता चलता है। हमारे देश में कृषि की व्यवस्था से लोक स्वरूप का निर्माण होता रहा है जिससे कृषि की बदलती व्यवस्था से निश्चय ही लोक मन में बदलाव आया है और इसे ठीक ठीक समझने की जरूरत है। इसी को आधार बनाकर *डा0 कमलेश दत्त त्रिपाठी* लिखते हैं कि 'लोक चित्रण ही लोकोन्मुखता नहीं है। लोक परकता लोक के ठोस यथार्थ को देखना और उसे निर्णायक भूमिका भी देना है।[8]

वास्तव में यह तो एक विचारणीय प्रश्न है ही आज जब हम लोक-रक्षा की बात करते हैं, तो क्या इसका मतलब पिछड़ी हुई ग्राम संस्कृति की रक्षा की बात से है या कि इसका कोई खास मतलब होता है? लोक की रक्षा का सवाल यदि पुरानी परम्पराओं की रक्षा से ही है, तब तो परम्परा जीवंत, विकासमान नहीं हो सकती। अत: लोक रक्षा का सवाल लोक के गतिशील तत्वों की रक्षा से जुड़ा है, क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था के प्रभाव में आर्थिक ढांचों में परिवर्तन होने से सामाजिक संस्थाओं में बदलाव आया है और लोक के अध्ययन में इसका उल्लेख निश्चित होना चाहिए। इस रूप में लोक, 'जन' के निकट आ रहा है। इस रूप में आज का संक्रमण लोक संस्कृति से जन-संस्कृति की ओर है। इस ओर अपनी बात को स्पष्ट करते हुए *डा0 राजा राम भादू* लिखते हैं "लोक संस्कृति व्यापक संस्कृति के समानान्तर चलती रहती है और समाज सापेक्ष है। ब्रिटिशकाल में ही लोक समुदायों पर पड़ रहे भारी परिवर्तनों का प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया था और जैसे ही ब्रिटिश शासन के प्रति विरोध की भावना फैली, लोक संस्कृति में भी परिवर्तन आया। संथालों का विद्रोह, मुंडा विद्रोह आदि"।[9] *इससे स्पष्ट है कि संघर्ष, आधुनिक समय में लोक चेतना का प्रमुख अंग बन जाता है और यही सौंदर्य का कारण होता है।*

अत: यह तो स्पष्ट है कि लोक का जन में यह रूपांतरण महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह जमाना 'मास कल्चर' का है, न कि "फोक-कल्चर" का। आज हमें नये सिरे से कथा मानकों तथा उनके क्रमांकों, नये कथाभिप्रायों की अनिवार्यता है। निस्संदेह इसमें लोक सौंदर्यबोध का सामूहिक सामुदायिक चौखट होगा, किंतु अंधविश्वास व सामंतीय सम्बन्ध विलीन हो जायेंगे। आखिरकार लय, संगीत व कविता ही तो लोक संस्कृति का प्राण है। इसकी तरफ संकेत करते कार्ल बुशर ने "रिद्म" में लिखा है- "लय-संगीत, कविता आदि मानव के श्रम से पैदा हुई। शारीरिक परिश्रम उस दिशा में अत्यन्त आसान हो जाता था, जब कार्य एक लय के साथ किया जाता था। हाथ से सामूहिक रूप से काम करते समय शक्ति का एक संग्रहीत रूप उपस्थित करने के लिए उसे एक लय में बाँधना जरूरी हो जाता था और इस प्रकार मांस पेशियों के कार्य में जब अधिकतम शक्ति लगने लगती थी, तो अपने आप एक स्वर फूट पड़ता था। इन स्वरों पर आदि मानव ने शब्दों का एक परदा चढ़ा दिया और वह संगीत बन गया। इसके अतिरिक्त औजारों की धातुओं से टक्कर लगना और उनके स्वर का निकलना भी उसके लिए प्रेरणा का कारण बना। इसी तरह बहुत से औजार वाद्य यंत्रों में परिणत हो गये"[10] इस तरह लोक जीवन में 'सौंदर्यत्व' गहरे अनुस्यूत है।

इससे स्पष्ट होता है कि लोक में व्याप्त यह सौन्दर्यबोध समय के साथ बदलता रहता है।

लोक और इतिहास दृष्टि-

लोक की इतिहास दृष्टि वास्तव में लोक चेतनावादी दृष्टि ही है, जो लोक व शास्त्र के द्वन्द्वात्मक रिश्ते को नहीं मानती। यहाँ पर इतिहास दृष्टि से आशय लोक केन्द्रित इतिहास से है, जो मौखित साक्ष्यों को आधार बनाकर लोक के ऐतिहासिक

विकास क्रम को रेखांकित करना चाहती है।

आज वस्तुत: इतिहास लेखन की एक नयी धारा का उन्मेष हुआ है, जिसमें 'इतिहासकारों का पूरा जोर इस बात पर नहीं होता कि किसी काल में क्या घटा? अपितु यह जानने को इच्छुक होता है कि जब कोई घटना घट रही थी तब लोग उसके बारे में क्या सोच तहे थे'[11] इसमें इस पर ध्यान दिया जाता है कि ये लोग कैसे अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कराते थे। अब इनकी संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है। इस लोक चेतनावादी दृष्टि का विकास किन परिस्थितियों में हुआ, यह जानना हमारे लिए बेहद रोचक है। वस्तुत: 18वीं शताब्दी के अंत और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जब व्यापारी एवं पूँजीवादी सभ्यता में आदमी, जन का लोप होने लगा, तो यूरोप के बौद्धिकों में जन को खोजने का रुझान बढ़ा। इस विंलुप्त हो रहे जन के लिए उन्होंने सर्वप्रथम उसकी पारम्परिक लोकप्रिय संस्कृति को खोजने का अभियान चलाया जो इस सभ्यता में लुप्त हो रही थी[12] और इस तरह लोक की अवधारणा का विकास हुआ। 1774 ई0 में जे0 बी0 हर्डर ने 'फाक स्लाइड' (Volk slied) अर्थात 'फाकसांग' (लोकगीत) का प्रचलन किया। इस शताब्दी के अंत तक लोक कथाओं के ही अर्थ में थोड़ा उससे भिन्न 'फाक साज' (Volk-sage) शब्द का जन्म हुआ। 19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जोसेफ गोरेस नामक पत्रकार ने 'फाकलोर' शब्द का जन्म हुआ। 1850 में 'फाकस कासपोल' शब्द इसके लिए प्रयुक्त हुआ। विभिन्न यूरोपीय देशों में इसी तरह की शब्दावलियों प्रचलित हुई (उपर्युक्त तथ्यों हेतु हम डा0 बद्री नारायण लोक संस्कृति एवं इतिहास के ऋणी हैं)। यूरोप में लोक प्रिय संस्कृति के प्रमुख सिद्धान्तकार जे0जी0 हर्डर ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि पुनर्जागरण के बाद के विश्व में पुरानी कविता का नैतिक प्रभाव लोकगीत में ही सुरक्षित है। इसके दूसरे बड़े सिद्धान्तकार 'ग्रिम' ने 'लोकप्रिय संस्कृति' की सामुदायिकता के सिद्धान्त को स्थापित किया। इन दोनों के

प्रभाव में यूरोप में राष्ट्रीय लोकगीतों के संकलन पर संकलन निकलने लगे।

जाहिर सी बात है भारत में भी इसका असर पड़ा। यहाँ इसका संकलन दो प्रवृत्तियों के कारण हुआ। पहला, औपनिवेशिक अधिकारियों द्वारा यहाँ के मानस को समझने के लिए, दूसरा यहाँ के कुछ कवियों द्वारा अपनी परम्परा की पहचान के लिए।

इस तरह से 'लोक' की अवधारणा का विकास संभव हुआ, जिसके आधार लोक चेतनावादी व सबाल्टर्न द्वारा इतिहास लेखन की बात भी की गई। डा0 अजय तिवारी ठीक लिखते हैं कि 'लोक संस्कृतिवाद भी भारत में सबाल्टर्न की तरह पश्चिम से आया है। इतिहास निर्माण में मौलिक योगदान की अभिलाषा से प्रेरित कुछ तरुण लेखक बौद्धिक समाज में अपनी जगह बनाने हेतु इस ओर दौड़ चले हैं।'[13]

इस तरह से इतिहास लेखन की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास किये जा रहे हैं। इससे इतिहास व साहित्य को एक दूसरे के निकट लाने में मदद मिली है। इसके लिए किसी काल के साहित्य की मदद ली जा सकती है। जैसे मध्यकाल में भारतीय जनजीवन। जब मध्ययुगीन भक्ति साहित्य, लोक के इतिहास के लिए प्राथमिक स्रोत के रूप में लिया जा सकता है, तभी हम दरबारी इतिहास लेखन से मुक्त हो सकते हैं। इसके साथ ही लोक साहित्य के कतिपय रूपों का ध्यान भी रखा जा सकता है क्योंकि इसमें अभिव्यक्त लोकमन, उसके वर्तमान में भोगी गयी अनुभूतिपरक सहज और सशक्त अभिव्यक्ति होती है। आम आदमी तो लोकधर्मी परम्परा के दर्पण मे ही उस क्रूरतापूर्ण शोषण की जीवित तसवीर देखता है। इसके दो उदाहरण यहाँ पर दिये जा सकते हैं, जिसके लिए मैं *पं0 गुणसागर विद्यार्थी* का ऋणी हूँ।[14] एक हैं बुन्देलखण्ड का प्रसिद्ध लोक नृत्य, जिसमें सामन्ती शोषण का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है-

'पिसी हती सो बिक गई, भुस लै गयो अदवार

टोटे में टलवा गये, बाड़ी में खंगवार

जरीबाने में लिख लो दोई जोबना।'

(कृषक मजदूर के श्रम सीकर से उपजा गेहूँ बिक गया, भूसा बँटाई में चला गया, घाटे में गाय बैल भी कुरक हो गये, सूद व्याज में पत्नी के जेवरात भी हजम कर लिये गये... जब कुछ नहीं बचा, तो मजदूर कहता है कि मेरी पत्नी का गदराया यौवन लूटकर कर्ज वसूल ले...)

दूसरा उदाहरण- बघेली लोकगीत है-

हमरी कैसे चुकत तिहाई।

मेड़न मेड़न हम फिर आये डीमा देत दिखाई।

छोटी छोटी बाल कढ़ी है कूरा रहे फराई।

जमींदार को आव बुलौवा, को अब करै सहाई।

थलिमा, बछिया, साहुति लै लई, दै गई पास लुगाई।

(घर की थाली, कटोरी, गाय-बछिया आदि के चले जाने पर तिहाई चुकाने के लिए अब लुगाई का यौवन ही शेष रहा....)

इससे स्पष्ट है कि सामंती शोषण का अध्ययन करते हुए लोक की इतिहास दृष्टि को विकसित किया जा सकता है।

वास्तव में लोक-साक्ष्य को आधार बनाकर लिखा गया इतिहास उससे अधिक प्रमाणिक होगा, जो शासक वर्ग द्वारा लिखा जाता है। इस संदर्भ में *नर्मदा प्रसाद गुप्त* लिखते हैं।[15]

लोक साक्ष्य चार वर्गों में उपलब्ध है।

1- मौखिक परम्परा में जीवित जैसे लोक कथाएँ, लोक गीत, जनश्रुतियाँ, लोक गाथायें, मिथक, लोक कहावतें आदि।

2- लिखित परम्परा में सुरक्षित जैसे सनद, पटौ, पत्र हस्तलिखित ग्रंथ।

3- उत्कीर्ण जैसे प्रस्तर, काष्ठ, ताम्रादि पर खोदे लेख, लोकमूर्तियाँ आदि।

4- चित्रांकित जैसे गुहाओं में, पुराने मंदिरों में, कपड़े, चमड़े, कागज आदि पर। अत: इन लोक साक्ष्यों को आधार बनाकर इतिहास लिखे जाने की जरूरत है।

इस आधार पर लिखे गये इतिहास को साहित्य के निकट लाया जा सकता है। लोक साक्ष्यों में, लोक साहित्य में, या साहित्य में उपस्थित विवरण को जब भी सजीव बनाया जायेगा, तब स्वाभाविक रूप से वह अतीत व वर्तमान के मध्य एक अनंत वार्तालाप या संवाद स्थापित कर देगा[16]। इस संदर्भ में होमर की रचना का जिक्र बार-बार किया जाता है कि यदि कोई भी व्यक्ति 'इलियड' को इतिहास की रचना मानकर पढ़ता है, तो उसको इसमें अधिकांश बातें कल्पित लगने लगती हैं, किन्तु यदि इसका अध्ययन साहित्यिक कृति के रूप में किया जाय तो वह ऐतिहासिक तथ्यों से परिपूर्ण, इतिहास ग्रंथ लगता है। इसी को प्रसिद्ध इतिहासकार अर्नोल्ड टायनवी कहते हैं कि 'सभी इतिहास एक सीमा तक, इलियाद की भाँति हैं- सम्पूर्णता में ऐतिहासिक नहीं हो सकते।[17] अत: इतिहास व साहित्य समान जन्मा न होने के बाद भी, एक दूसरे के निकट खड़े दिखाई देते हैं।

दरअसल आज सारा विवाद गैर-परम्परागत वास्तविक इतिहास लेखन से जुड़ा है और यह तभी संभव है जब उपेक्षित लोक मानस की स्मृतियाँ, किंवदन्तियाँ, गीत, कथायें, मिथक और आख्यानों के रूप में मौजूद लोक-संस्कृति के विविध रूपों, विशेषकर मौखिक स्रोतों की नयी सामग्री का भण्डार माना जाय। यूँ इससे जुड़ी दो इतिहास दृष्टि कार्य करती है- एक तो लोक संस्कृतिवादी जिसमें लोक संस्कृति के आधार पर राष्ट्रवाद के नये साँचे को गढ़ने की कोशिश की जाती है और दूसरी सबाल्टर्न जिसमें उपेक्षित जन समुदाय की स्मृतियों एवं कार्य कलापों के आधार पर राष्ट्रवाद की चेष्टा

की जाती है। किन्तु ये दोनों आपस में इतनी मिली है कि विभेद करना कठिन है। लोक संस्कृतिवादी व सबल्टर्न दोनों इतिहासकार सभी प्रकार की कुलीनतावादी स्थितियों को नकारकर लोक को सम्पूर्ण व स्वायत्त इकाई का रूप देते हैं, इसलिए उनकी इतिहास दृष्टि को उपाश्रयी दृष्टि कहा गया है।[18]

वैसे तो लोक चेतनावादी इतिहासकारों ने इतिहास के अध्यन की नई दृष्टि का विकास किया है जैसे रणजीत गुहा[19], ज्ञानेन्द्र पाण्डे[20] किंतु इसके लिए कोई नया स्रोत इन लोगों ने नहीं तलाशा। इनके लेखन का आधार वही पुराने अभिजन स्रोत ही हैं। अपने इतिहास लेखन के सम्पूर्ण दर्शन में लोक प्रिय संस्कृति की आवश्यकता महसूस करते हुए भी ये इतिहासकार अपनी लोक चेतनावादी दृष्टि का विकास नहीं कर पाये हैं, क्योंकि रणजीत गुहा से लेकर ज्ञानेन्द्र पाण्डे तक तथा सुधीर चंद्र से पार्था चटर्जी तक जितने भी अनुश्रुतिवादी हैं, वे पहले तो लोक साहित्य व शिष्ट साहित्य के सम्बन्ध को लेकर उलझते हैं, दूसरे इसमें कोई भी लिखित स्रोतों से अलग जाकर, उपेक्षित जनता के मौखिक स्रोतों से अपना इतिहास निर्माण नहीं करता।[21] अपने इसी लेख में डा0 अजय तिवारी इन 'उपाश्रयी' इतिहास विदों का मजाक उड़ाते और मार्क्सवादी पद्धति के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करते कहा है कि ये अध्ययन मार्क्सवाद से पलायन करने का संकेत करते आधुनिकतावाद की विखण्डन पद्धति के अधिक निकट हैं। उनके अनुसार 'मार्क्सवाद की द्वन्द्वात्मक पद्धति को ठुकराकर वे समाज में साथ-साथ क्रियाशीलता विभिन्न वर्गों और समुदायों को एक दूसरे से मिलते टकराते नहीं देखते, बल्कि एक के विरोध में दूसरे की गतिविधि को इतना चरम रूप देते हैं कि इतिहास प्रक्रिया का जटिल रूप धुँधला पड़ जाता है और अपनी सतही, सपाट दृष्टि को गूढ़ बनाने के लिए वे लोक चेतना के आदिम स्रोतों की ओर जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि वे लोग, लोक व शास्त्र को परस्पर विरोधी मानते हैं और जैसा कि रणजीत गुहा कहते हैं-

'कुलीन वर्ग से स्वतंत्र जनता अपने व्यवहार में खुद ब खुद स्वत: स्फूर्त ढंग से जो योगदान करती है उसका अध्ययन इतिहास निर्माण में संतुलन करने के लिए जरूरी है। (Subalturn studies : खण्ड-1, पृ0 2, 3)।

पर लोक चेतनावादी सबाल्टर्न इतिहासकारों की सबसे बड़ी समस्या यह रही है कि एक ओर ये कुछ नया करने व देने के चक्कर में मार्क्सवादी पद्धति से दूर जाते हैं और दूसरी ओर लोक संस्कृति का अध्ययन और उसका उपयोग कुलीन वर्ग द्वारा प्रदत्त साक्ष्यों के आधार पर करते हैं। लोक संस्कृति के तत्वों के आधार पर इतिहास गढ़ने की इच्छा तो है किन्तु खतरा नहीं उठाना चाहते और इसीलिए द्वन्द्वात्मक पद्धति को तिलांजलि देते वे परस्पर विरोधी पद्धति को अपनाते हैं जिससे वे उसी संकट में फँस जाते हैं जिससे छुटकारा पाना चाहते हैं। वे अपनी पूर्व निर्मित मानसिकता को लोकर लोक के पास जाते हैं लेकिन लोक के अध्ययन हेतु अपेक्षित धैर्य उनमें नहीं होता। उनकी प्रतिज्ञायें जितनी पवित्र हैं, उनका परिचय उतना ही दारुण।[22] इससे एक बात तो स्पष्ट होती है कि साहित्य और इतिहास दोनों में व्यक्ति जितना ही कुलीनतावादी जीवन दृष्टि के निकट होता है उतना ही उसके भीतर लोक के प्रति ललक का भाव दिखायी होता है। अत: लोक चेतनावादी इतिहास दृष्टि के लिए सबसे जरूरी है- ऐसी जीवन दृष्टि।

लोक में देश व काल की अवधारणा-

लोक संस्कृति में देश की अवधारणा जड़ न होकर गतिशील है और यह देश उनके अपने जुड़ाव की चेतना से निर्मित होता है। आरम्भ में लोक संस्कृति का देश उसका अपना गाँव व चबूतरा होता था और उसके बाहर का सभी कुछ परदेश होता था। . किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि उनमें अलगाव था क्योंकि लोक के आदर्श

मूल्य कई कई जगह एक जैसे होते थे। अत: दूरी व अलगाव में फर्क था। दूरी के बावजूद वे अपनी आंतरिक निजता में एक दूसरे से जुड़े रहते थे और यही सच्चा लोक मानस था और इसी रूप में समझा जाना चाहिए। इसी आधार पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि ब्रज की गोपियाँ दिन-रात रो रोकर व्यर्थ ही आँसू बहाती हैं। ब्रज जाकर रोज मिल सकती हैं। अत: लोक के शाश्वत जीवन मूल्य और आकांक्षाएँ किन्ही सीमित क्षेत्रों की सीमाओं में आबद्ध नहीं है[23]। यहाँ पर कोई जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गापिगरीयशी जैसा उच्च बौद्धिक संस्कृति की तरह का देशज मोह दिखलाई नहीं पड़ता, बल्कि 'सबै भूमि गोपाल की, यामे अटक रहा' की सार्वभौमिकता वाला भाव ही अधिक परिलक्षित होता है।[24]

स्वयं लोक में प्रचलित निम्न पंक्तियों- 'जो प्रतिपाले सोई नरेशू' से भी इसी अवधारणा की प्राप्त होती है जिससे पता चलता है कि लोक में अपने देश के प्रति आत्मीयता का भाव होते हुए भी उसमें क्षेत्रीयता का अभाव है। इस क्षेत्रीय उदारता के कारण लोक जीवन अपनी ढपली अपना राग के दोष से बचा रहता है और उदात्त मानवीय व नैतिक मूल्यों के कारण लोक संस्कृति को प्रतिबिम्बित करने वाली कुछ लोक गाथायें, लोक गीत, लोक कथायें एक से कंठ से दूसरे, एक भाषा से दूसरी भाषा की यात्रा करते हुए देश के एक छोर से दूसरे छोर पर जाती रहती है। इसे दो उदाहरण से समझा जा सकता है- बुंदेली गीत है जिसमें देवीजी की माला टूटने के पश्चात वे पटवा के यहाँ गूंथाने के लिए जाती हैं और कहती हैं जो चाहिए ले लो, लेकिन मेरी माला गूँथ दो- तब पटवा की पत्नी कहती है-

दूध पूत मैया सब दै दीने
पटवै अमर कर जाव हो माय।

एक अवधी गीत में भी माली की पत्नी देवी जी से ऐसा ही कहती है-

दूध पूत मैया सब दय दी हैं

मलिया कै अमर कर देवै।

इससे स्पष्ट है लोक जीवन की स्थानीयता अपनी स्थानीयता में भी बहुव्यापी है। दरअसल डा0 सत्येन्द्र ने ठीक लिखा है- 'भारतवर्ष कहानियो का देश माना जाता है। ये लोक कहानियाँ प्राय: समस्त भारत में ही नहीं समस्त संसार में व्याप्त है। जो ब्रज में मिलती हैं वे बंगाल में, बुन्देलखण्ड में ही नहीं, जर्मनी इटली आदि में मिलती हैं।' उदाहरण के लिए जैसा कि डा0 दुर्गेश दीक्षित ने लिखा है- 'बुन्देलखण्ड की 'मित्रों की प्रीति' शीर्षक कहानी बंगाल में भी प्रचलित है 'सोने की चिड़िया कहानी 'ग्रिम्स के फेरीटेल्स में 'गोल्डेन बर्ड' के नाम से ज्यों की त्यों विद्यमान है। वैरियर एल्विन के संग्रह में The Brave children के नाम से जो कहानी दी गई है, वह बुन्देली कहानी 'काग-बिड़ास' से मिलती जुलती है।[25]

इस तरह हम देखते हैं कि 'लोक का देश' काफी व्यापक है। उसकी उदात्तता सर्व विद्यमान है।

अब जहाँ तक 'काल' की बात है, तो यह तो निश्चित है कि लोक जीवन में पुरातन का मोह पाया जाता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि लोक नये का विरोध करता है। वह विरोध नहीं, बल्कि प्रतिक्रियाजन्य मूल्यांकन अवश्य करता है और किसी भी नये को आसानी से स्वीकार नहीं करता। यह विरोध सर्जनात्मक है और गतिशील भी। डा0 कैलाश बिहारी द्विवेदी ठीक कहते हैं कि 'काल के प्रति लोक जीवन में अवधारणा तो पुरातन के प्रति ही है, लेकिन लोक फलक पर काल यथार्थ के चित्रण भी खूब हुए है। इसमें जीवन का संघर्ष, अन्याय, पीड़ा, व कुण्ठा आदि को अभिव्यक्त करने वाले हजारों गीत हैं।[26] वे आगे इसी लेख में लिखते हैं कि वर्तमान काल का लक्षण है- गति की तीव्रता। उसी तीव्रता से लय बद्ध होकर समाज भी तेजी से बदल

रहा है। गति की आपाधापी में साधारण जनों को पीछे मुड़कर देखने की फुर्सत नहीं है... चुनावी जाल ने काल को इतना बली बना दिया है कि उसने लोक के संसृष्ट मन को खण्ड-खण्ड कर दिया है। लोक संस्कृति अब वैयक्तिक संस्कृति में सिमट रही है और देश की अवधारणा अब संकुचित हो रही है। इससे स्पष्ट है कि वर्तमान के दबाव में लोक गतिशील है और अपने नये स्वरूप को पाने की कोशिश कर रहा है।

लोक, वेद और विज्ञान

सभी समाजों के पास 'वेद' होता है जिसे अ-पौरुषेय वाक्य, इलहामी कलाम, ईश्वर की वाणी कहते हैं जो सभी संदेहों से परे होता है और जिसे श्रद्धा व विश्वास के साथ स्वीकार कर लिया जाता है। सभी समाजों में विज्ञान भी होता है जिसके आधार विचार व तर्क हैं। लोक, विज्ञान और वेद से पुराना है जैसाकि डा0 हरद्वारी लाल शर्मा लिखते हैं "लोक, विज्ञान और वेद की अपेक्षा पुराना तो है ही साथ साथ वह अधिक समर्थ भी होता है। इसके कई कारण है जैसे लोक परम्परा के बल चलता है और परम्परा का अर्थ है परिवर्तन की निरंतरता। इसी परिवर्तन की क्षमता के कारण वह काल के झटके और धक्कों को भी सह लेता है। हिन्दू लोक जीवन देखिये। महाभारत काल से लेकर आज तक न जाने कितने सम्पर्क विदेशी शक्तियों से हुए और न जाने कितने सांस्कृतिक व ऐतिहासिक संकट इस पर आये। पर वे सब के सब लोक जीवन में समा गये। इनसे यह अधिकाधिक सम्पन्न और समर्थ हो गया जिससे इसकी निरन्तरता बनी रही।.... यह परिवर्तन और निरन्तरता जिसका एक नाम परम्परा है, लोक जीवन का विधान है और इसकी शक्ति का अक्षय स्रोत भी।" (पृ0 247- लोक वार्ता विज्ञान-उ0प्र0 हिन्दी संस्थान 1990)

दूसरी ओर वेद का आधार श्रद्धा विश्वास है। जिससे इसमें लोक का लोच नहीं है। विज्ञान का आधार है विचार, जिसका आधार है 'संगति'। जो 'संगत' है, वह वैध है, सत्य है मान्य है। यानी यह भी कि जो असंगत है, वह अमान्य है। इससे विज्ञान असंगति व विसंगति को नहीं पचा पाता। इन दोनों से अलग लोक है जिसमें सब कुछ के बचाने की सामर्थ्य है। इसी पुस्तक में डा0 शर्मा लिखते हैं कि 'लोक की शक्ति का एक कारण यह भी है कि लोक देखता है, जबकि वेद व विज्ञान अंधे होते हैं। जी हाँ, अंधे।' (पृ0 249) लोक युग व यथार्थ को जानता पहचानता और मानता है। वह सम्पूर्ण मानवीय सत्यको स्वीकारता है, न कि अर्द्ध सत्य को। वर्तमान की भाँति भविष्य भी उसे प्यारा होता है क्योंकि आशा लोक का संबल है। यह अखण्ड काल को स्वीकारता है। न तो अतीत (वेद) में डूबा रहता है और न ही भावी (विज्ञान) की संभावनाओं में खो जाता है। यह एक प्रकार की जीवन्त शक्ति व प्रक्रिया है। जिस कारण से यह वेद व विज्ञान दोनों को आत्मसात कर लेता है। ऐसा करके दोनों से ऊपर उठ जाता है। (पृ0 252 उप0)

लेकिन इसके साथ यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि लोक, वेद के प्रभाव से 'सनातन' से जुड़ता है और विज्ञान के प्रभाव में आगे बढ़ता है और अधिक से अधिक समृद्ध होता है। कहीं कहीं लोक व वेद का टक्कर भी होता है और लोक ही विजयी होता है। उदाहरण के लिए- पाकिस्तान इस्लामी देश है और इस्लाम के अनुसार मनुष्य का चित्र बनाना निषिद्ध है। दूसरी ओर चुनाव के लिए पहचान पत्र जरूरी और उसमें भी स्त्री का चित्र होगा, जोकि और भी निषिद्ध है। इसमें लोक का दबाव बावजूद सारे विरोध के बना रहेगा क्योंकि चुनाव अर्थात् लोक मत की शक्ति से नहीं बचा जा सकता। (डा0 हरद्वारी लाल शर्मा पृ0 252- लोक-वार्त्ता विज्ञान) इस प्रकार लोक, वेद व विज्ञान दोनों से व्यापक है।

2- लोक तत्व

अभी तक यह स्पष्ट हो चुका है कि लोक के अवधारणा की व्याख्या ठीक उन्हीं संदर्भों में कठिन है, जिन सन्दर्भों में 'फोक' को पश्चिम में परिभाषित किया गया है। संस्कृत वाङ्मय में 'लोक' आदि बर्बर, असभ्य, अविकसित और अवैज्ञानिक समुदाय या वर्ग नहीं जिसका शास्त्र से कोई मतलब नहीं होता। इसके विपरीत 'लोक' व शास्त्र में एक सतत् सम्वाद और आदान प्रदान का सम्बन्ध दीखता है। लोक का क्षेत्र प्रत्यक्ष और दृष्ट जागतिक जीवन ही है और 'लोकोन्मुखता' का अर्थ ही ऐसी शैली से है जिसमें *संवाद, सहजता, सामूहिकता, संप्रेषणीयता* के साथ *गतिमानता* भी हो, जिससे लोक में स्थित सांस्कृतिक परिवर्तन की सजीवता को पहचानकर इतिहास का स्वरूप प्रदान किया जा सके।

इस सन्दर्भ में *राजेश्वर सक्सेना* ने अपने एक लेख में लिखा है कि "आधुनिक विज्ञान और आधुनिक दर्शन की भौतिकवादी पद्धति से देखने पर 'लोक' (लोक तत्व/ लोक जीवन) मानवीय रूप और मानवीय चेतना के ऐतिहासिक विकास की बुनियादी अवस्थाओं को स्पष्ट करने वाला एक संवर्ग है। सांस्कृतिक उत्पादन के स्रोतों, प्रकारों और उसके अगणित प्रारूपों की दृष्टि से यह लोक आदिम से आधुनिक तक बराबर प्रवहमान रहा है। यह परम्परा से कभी विछिन्न नहीं हुआ है, बल्कि इस लोक के द्वारा ही परम्परा को समय के मुताबिक नयी जिंदगी मिलती रही है। इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवन में समस्त प्रकार के प्रयोगों और समस्त प्रकार की प्रगतियों के मानकों का निर्धारण भी इसी लोक से होता रहा है।"...[27] इससे स्पष्ट है कि लोक मानवीय जीवन का नियामक है और वह ऐतिहासिक विकास का नियमन भी करता रहता है। उसकी गतिशीलता समय के प्रवाहमें नये अर्थ पाती रहती है। इस प्रक्रिया में पुराना कुछ छूटता है और नया कुछ आता है।

दरअसल सच बात तो यह है कि मानवीय अस्मिता तक लोकबद्ध है और जब कभी इससे मुक्ति का प्रयास किया जाता है परिणाम विपरीत ही होता है। लोक के विखण्डन की परिस्थितियों में, लोक दर्शन की अवमानना में, लोक धर्म की निरर्थकता में व्यक्ति की निजता संस्कारहीन होने लगती है, क्योंकि व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों का नियामक यही लोक ही है। इसे भारत के इतिहास में देखा जा सकता है जहाँ लोक बद्ध संघर्ष की एक महान सांस्कृतिक परम्परा रही है और इसे आदिम जादू से लेकर परवर्ती युगों के धार्मिक मतमतान्तरों, भक्ति, योग वाले तंत्र की हर साधना और पद्धति में देखा जा सकता है। **सचमुच मानव की आत्मा के उन्नयन का यज्ञस्थल वह सक्रिय लोक है, जो अगाध तत्परता के साथ क्रियाशील रहते हुए, यथार्थ का अनुभव करते हुए, समय के अनुकूल विचारोत्तेजक चिंतन करते हुए सत्य की सार्वभौमिकता को व्यवहार से बाँधता चलता है।**[28]

इससे स्पष्ट है कि लोक जीवन इन्हीं तत्वों से बनता है, न कि भदेसपन से और इसका सामाजिक, सांस्कृतिक व नाट्य पक्ष होता है जिससे लोक तत्वों का निर्माण होता है। लोक तत्व, वस्तुत: लोक के उपादान कारण ही है, जिनसे लोक की निर्मित होती है। इसमें वे सभी तत्व अपनी भूमिका में पाये जाते हैं जिनसे लोक संस्कृति का निर्माण होता है। सोफिया बर्न के इन शब्दों में काफी सत्यता है कि संक्षेप में लोक की मानसिक सम्पन्नता के अंतर्गत जो भी वस्तु आ सकती है वह सभी इसके क्षेत्र में है। यह किसान के हल की आकृति नहीं, जो फोकलोरिस्ट को अपनी ओर आकृष्ट करती है, किंतु वह अनुष्ठान है जो किसान भूमि जोतते समय करता है। जाल या बंशी की बनावट नहीं, वरन् वे टोटके है जो मछुआरा समुद्र पर करता है। पुल अथवा घर का निर्माण नहीं वरन् बलिदान है जो उसके बनाते समय किया जाता है।[29] अत: इस दृष्टि से 'लोक' में *कला, विश्वास* ओर *अनुष्ठान* तीनों आते हैं। कला का

आशय साहित्य से है जिसमें लोक गीत, लोक कथा, लोक नाट्य, अभिनय तथा नृत्य हैं। विश्वास के क्षेत्र में विभिन्न जीवों, धर्म गाथाओं के चरित्र, भूत चुड़ैल आदि है। अनुष्ठान के अन्तर्गत वे कार्य आते हैं जो विभिन्न अवसरों पर बुरों को दबाने तथा अच्छों को प्रसन्न करने के लिए किये जाते हैं। इन सभी से लोक तत्वों का निर्माण होता है। इस रूप में लोक संस्कृति के कारक तत्व ही लोक के तत्व माने जा सकते हैं और इन्हीं की भावगत अभिव्यक्ति से काव्य में लोक सौंदर्य का निर्माण होता है।

अपनी पुस्तक हिन्दी भक्ति साहित्य में लोक तत्व (भारतीय साहित्य मंदिर दिल्ली-1965) में रवीन्द्र भ्रमर ने लोक तत्वों पर व्यापक प्रकाश डाला है। इनके अनुसार भी लोक तत्वों से तात्पर्य लोक संस्कृति के विभिन्न तत्वों से है। लोक व लोक तत्वों के बारे में *डा0 सत्येन्द्र* ने भी लिखा है- "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता व पाण्डित्य चेतना के अहंकार से शून्य होता है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्व मिलते हैं, वे लोक तत्व कहलाते हैं"[30] इन सबसे यह स्पष्ट है कि लोक केवल गावों में ही नहीं वरन् नगरों, जंगलों, पहाड़ों और टापुओं में भी बसा हुआ है और यह वह मानव समाज है जो अपने परम्पराजन्य रीति-रिवाजों और आदिम विश्वासों के प्रति आस्थाशील होने के कारण अशिक्षित या अल्पसंख्यक समझा जाता है।

अत: लोक-तत्वों पर विचार करने के लिए 'लोक संस्कृति' पर विचार करना जरूरी है। अंग्रेजी में लोक संस्कृति का पर्यायवाची 'फोक लोर' की व्याख्या W.S. Thomas ने सबसे पहले सन् 1846 ई0 में 'सभ्य जातियों में मिलने वाले असंस्कृति समुदाओं की प्रथाओं एवं रीति रिवाजों के परम्परागत ज्ञान के रूप में की थी।[31] आरम्भ में यह शब्द सामान्यत: लोक की लिखित या मौखिक परम्पराओं एवं लोक मानस के सौंदर्यबोध से सम्बद्ध परम्परागत अभिव्यक्तियों तक ही सीमित रहा किन्तु बाद में इसका

सीमा विस्तार हुआ। जैसाकि टी0 शिप्ले ने (Dictionary of world literary term, London : 1955) ने लिखा है कि सभी प्रकार के लोक गीत, लोक कथाएँ, अंध विश्वास, स्थानीय गाथाएँ, लोकोक्तियाँ और पहेलियाँ तक यह लोक फैला हुआ है। इसी व्यापकता को ध्यान में रखकर J.L. Mish ने लिखा है 'ऐसे सभी प्राचीन विश्वास, परम्पराओं प्रथाओं का सम्पूर्ण योग, जो सभ्य समाज के अल्प शिक्षित लोगों के बीच आज तक प्रचलित है, फोकलोर है। इसकी परिधि में परियों की कहानियाँ, लोकानुभूतियाँ, पुराण गाथाएँ, अंध विश्वास, उत्सव रीतियाँ, परम्परागत खेल, लोकगीत प्रचलित कहावतें, कला कौशल, लोक नृत्य और ऐसी सभी बातें सम्मिलित की जा सकती हैं। इसी तरह की बात करते श्रीमती सोफिया बर्न ने अपनी पुस्तक The handbook of Folklore में लिखा है कि 'यह एक जाति बोधक शब्द के रूप में प्रचलित हो गया है जिसके अन्तर्गत पिछड़ी जातियों में प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत समुन्नत जातियों के असंस्कृति समुदायों में अवशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज, कहानियाँ, गीत अथवा कहावतें आती है। प्रकृति के चेतन तथा जड़ जगत के सम्बन्ध में आदिम तथा असभ्य विश्वास इसके क्षेत्र में आते हैं। विवाह, उत्तराधिकार, बाल्यकाल, प्रौढ़ जीवन के रीति रिवाज, अनुष्ठान, युद्ध आखेट, पशु पालन आदि विषय भी है तथा धर्म गाथायें, लोक कहानियाँ, साके बैलेड, गीत, किवदंतियाँ तथा लोरियाँ भी इसके अन्तर्गत समाहित हैं।[33]

तब इससे यह तो स्पष्ट ही है कि लोक संस्कृति के आधारभूत तत्व बड़े व्यापक रहे हैं और इन्हीं तत्वों के आधार पर लोक मानस का निर्माण होता रहा है। चूँकि संस्कृति का गुण ही गतिमयता है, अत: इसके तत्व भी बदलते रहे हैं, जिसका मतलब इस सन्दर्भ में इतना ही है कि कुछ पुराने तत्व महत्वहीन हो गये हैं और कुछ में प्रभावजन्य परिवर्तन होता रहा है। इन्हीं परिवर्तनों को रेखांकित करना आज हमारे

किए बेहद जरूरी है।

लोक संस्कृति के उपर्युक्त आधार पर सोफिय बर्न ने इसे तीन भागों में विभाजित किया है-

1- लोक साहित्य

2- रीति-रिवाज

3- लोक विश्वास एवं अंध परम्परायें।

और कहा है कि इन्हीं तीनों से लोक की मानसिक सम्पन्नता का पता चलता है। लोक संस्कृति का अध्ययन वस्तुत: इन्हीं तत्वों का अध्ययन है। इन्हीं लोक-तत्वों से लोक चेतना का निर्माण होता है जो काल प्रवाह में परिवर्तित होता रहता है। तब जाहिर है कि लोक संस्कृति के जो कारण तत्व होते हैं, उन्हीं से लोक-तत्वों का निर्माण होता है। यह किसान के हल की आकृति नहीं है जो लोक संस्कृति के विद्वान को अपनी ओर आकर्षित करती हैं। प्रत्युत वे उपचार व अनुष्ठान हैं जिन्हें किसान हल को भूमि जोतते समय करता है, जाल या बंशी की बनावट नहीं है बल्कि वे टोने-टोटके हैं, जिन्हें मछुआरा समुद्र के किनारे करता है। पुत्र अथवा किसी भवन का निर्माण नहीं है, प्रत्युत वह बलि है जो उसके निर्माण के समय दी जाती है[35]। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि लोक साहित्य के तत्व लोक गीत, लोक कथाएँ व लोक गाथाएँ, लोक नाट्य आदि न होकर वे कारण हैं जिनसे इसका निर्माण होता है, क्योंकि उसी लोक-चेतना की अभिव्यक्ति इनमें होती रहती हैं। यहीं लोक अंदाज भी है।

तब हम कह सकते हैं कि लोक चेतना का निर्माण दो रूपों में होता है- पहला लोक वार्ता के रूपों में अक्षरश:, दूसरा- अपनी समय ही पीड़ाओं के साथ अंशत:। यह दूसरे प्रकार का प्रभाव ही लोक सौंदर्य का निर्माण करता है क्योंकि इसमें परम्परा व प्रभाव दोनों ही मौजूद है। यह प्रभाव भी समय के प्रवाह में आर्थिक अधिक रहा

है क्योंकि आरम्भ में लोक संस्कृति में राजनैतिक सामाजिक पक्ष ही उभर कर आता रहा है। इसी प्रभाव की अभिव्यक्ति कविता में सौन्दर्य की उत्पत्ति करती है और लोक को 'जन' के निकट लाती है।

अब लोक तत्वों पर विचार करते हुए जरूरी हैं कि हम संक्षेप में लोक संस्कृति के तत्वों पर विचार करें, क्योंकि जैसा डा0 सत्येन्द्र ने लिखा है कि 'लोक' मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य होता है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्व मिलते हैं, लोक-तत्व कहलाते हैं।

इससे स्पष्ट है कि लोकगीत, लोक गाथाएँ, लोक कथाएँ, कहावतें, पहेलियाँ, सूक्तियाँ, बच्चों के गीत, खेल के गीत, आदि जिन तत्वों से बनते हैं, वे सब लोक तत्व के भीतर आते हैं। इसके अलावा रीति रिवाज व परम्पराओं के भी तत्व तथा लोक विश्वासों के भी तत्व इसके अंतर्गत अंतर्भुक्त हैं। उदाहरण के लिए-

लोक गीतों के निर्माण के पीछे जो कारक तत्व होते हैं वे ये हैं-

1- संस्कारों के गीत-जिसमें धर्म की प्रधानता होती है। (आस्था)

2- रसानुभूति की दृष्टि से भी लोक गीतों के तत्वों संस्कारों से ही जुड़े रहते हैं जैसे सोहर, जनेऊ, विवाह, झूमर आदि के शृंगार प्रधान गीत।

3- ऋतुओं व व्रतों से जुड़े गीत (प्रकृति)

4- श्रम के गीत जैसे जँतसार व रोपनी के गीत।

लोक गाथा-

घर के संकुचित क्षेत्र में जीवन की जिन अनुभूतियों का साक्षात्कार मनुष्य करता

है, उन्हीं की झाँकी हमें लोक गीतों में देखने को मिलती है, किंतु लोक गाथाओं की परिधि व्यापक होती हैं क्योंकि इसमें व्यक्ति व समाज के चित्रण मिलते हैं। इनके यहाँ जीवन का संघर्ष दिखलाई पड़ता है और प्रेम तक में भी जीवन का संघर्ष मिलता है। तब इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं कि आज जिस संघर्ष के सौंदर्य तत्व की बात हम कहते हैं, उनका बीज रूप इन्हीं लोक तत्वों में सुरक्षित है, जो अपनी परम्परा में शाश्वत है। इस प्रकार संघर्ष भी लोक का प्रधान तत्व है।

लोक कथा

लोक जीवन में लोक कथाओं का गहरा प्रभाव है क्योंकि इनकी सरसता से मानव हृदय प्रफुल्लित होता है। इन कथाओं में निश्छलता का समावेश होता है, जिसमें कुछ आध्यात्मिकता का भी पुट रहता है। इसमें कुछ उपदेश मूलक (हितोपदेश, पंचतंत्र) कुछ व्रत सम्बन्धी (करवा चौथ, अनंत चतुर्दशी), पौराणिक (गोपीचंद, भरथरी) तो कुछ प्रेम मूलक व मनोरंजन प्रधान होती है।

इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि आज की कविताओं में जो कथा रूप आते हैं, उनका स्रोत इन्हीं लोक कथाओं में है। हाँ, आज इनमें भी संघर्ष मिलता है, जबकि लोक कथाओं में ऐसा नहीं है क्योंकि वे जिस समाज से आती हैं, वह अपेक्षाकृत सुखी समाज है। उसमें वर्ग-विभाजन नहीं है, क्योंकि आर्थिक पक्षों तक इनकी दृष्टि जाती ही नहीं थी। किन्तु आज का सौंदर्य भिन्न है, क्योंकि संघर्ष में सौंदर्य आज की सबसे बड़ी माँग है।

लोक-नाट्य

नाटक में गति, नृत्य व संगीत की त्रिवेणी प्रवाहित है। गीत के साथ संगीत

की योजना बड़ा आनंद देती है और नाटक के ये तत्व हिन्दी कविता को शुरु से ही प्रभावित करते रहे हैं। इन नाटकों का आधार भी पारिवारिक जन जीवन रहा है और इनमें विडम्बनामूलक संदर्भ की प्रस्तुतियाँ मिलती रहती है। इसे बिदेसिया नाटक में देखा जा सकता है। आज की कविता में नाटकीय विडम्बना जैसा तत्व इन्हीं तत्वों से प्रभावित जान पड़ता है।

इसके अलावा *लोक सुभाषितानि* आदि है, जिनसे लोक तत्वों की व्यापकता का पता चलता है। अत: ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हुआ है कि लोक तत्व, लोक संस्कृति के ही महत्वपूर्ण तत्व हैं जिनमें आस्था, प्रकृति, संघर्ष, आध्यात्मिकता, सामूहिकता, सरसता, कथातत्व, विडम्बनामूलक संदर्भ आदि का प्रचुर समावेश होता है।

लोक संस्कृति के समक्ष चुनौतियाँ

इस लोक संस्कृति के समक्ष आज कई चुनौतियाँ हैं और जाहिर तौर पर ये लोक-तत्वों की चुनौतियाँ भी हैं। आज हमारे सामने लोक संस्कृति रक्षण को लेकर दो स्थितियाँ है। पहला- यह कि क्या हम इस विकासमान समय में उसी पुरानी परम्पराओं से चिपके रहें, दूसरा- यह कि इसमें कितना बदलाव लायें? जाहिर बात है उसमें बदलाव लाने की स्थिति में इसे अपसंस्कृति से भी रोकना होगा। आज संस्कृति शब्द स्वयं ही वर्चस्ववाद का प्रतीक हो गया। इस रूप में इसमें स्वयं अपने भीतर सिमटने की प्रवृत्ति नजर आती हैं। आज लोक संस्कृति की त्रासदी यह है कि लोक के द्रुत रूपांतरण की प्रक्रिया में उसकी मौलिकता को बचाये रखना कठिन हो रहा है।[36] औद्योगिक समाज के बढ़ते सांस्कृतिक दबाव व लोक के विघटन के चलते अब वह बहुलोकप्रिय संस्कृति या अपसंस्कृति के द्वारा अपदस्त होती जा रही है। जीवन कर्म व संस्कृति कर्म के बीच निरंतर बढ़ती दूरी को स्पष्ट करते इसी लेख में वे लिखते हैं 'जीवन

पद्धति व जीवन दृष्टि में विलगाव का कारण सभ्यता व संस्कृति के आधुनिक अंतर्विरोध में निहित है। पुरानी सभ्याओं में यह नहीं था.... इस सभ्यता में सांस्कृतिक कर्म वस्तुत: जीवन कर्म ही था। लोक संस्कृति के परिवर्धन और विकास का यथार्थ भी यही है। यह जान सकना कठिन है कि लोकजन गाते हुए कमा रहे हैं या कमाते हुए गान रहे हैं। किन्तु आज सामाजिक जीवन के सामूहिकता का क्षरण व व्यक्तिवाद के चलते आज की सभ्यता में संस्कृति एक कृति के रूप में दिखलाई पड़ती है।

इसी 'कृति' के कारण कर्मजन्य प्रवृत्ति कम हो गयी और संस्कृति की इयत्ता, कृति की महत्ता में बदल गई। यह लोकवाद पर शास्त्रवाद का बढ़ता प्रभाव ही है। पहले का 'कर्म केन्द्रित' स्वरूप अब 'कृति केन्द्रित' हो गया। इस कारण से आज सारा कार्य बनावटी ढंग चल रहा है। आज संस्कृति कर्म बंद कमरे में प्रदर्शन मात्र बनकर रह गया है, जिसमें जीवन कर्म बिल्कुल ही नहीं है। आज लोक संस्कृति में कर्म का उत्सव नहीं, उत्सव का कर्म है और यही बड़ा खतरा भी लोक जीवन के सामने है, क्योंकि लोक जीवन से जुड़ी बहुत सारे कवियों की कविताएँ आज आ रही हैं, जिन्होंने लोक जीवन को देखा ही नहीं। यह एक प्रकार से बुद्धि का कुतूहल है, जो व्यक्तिवाद का रूप ही है!

लोक का बदलता संदर्भ-

यह ध्यान देने की बात है कि आधुनिक समय में जैसे सौन्दर्य की अवधारणा बदली है, वैसे लोक की अवधारणा भी बदली है। जैसे सौन्दर्य लोकोत्तर से लोकोन्मुखी होता गया है वैसे लोक भी सामान्य से विशेषीकृत होता गया है। यह लोक के सामान्य प्रचलित अवधारणा से बहुत हद तक मुक्ति प्रयास भी है जिसमें लोक जीवन की अब हर वस्तु अपने विशेष अर्थ में मूल्यवान रहती है। यह लोक सामान्य के भीतर विशेष

की पहचान है और यह वही जाती है, जहाँ पर पारम्परिक सौंदर्यबोध नहीं पहुँचता। इसी से आज की कविता में लोक सौंदर्य का सृजन होता है। लोक के इसी विशेष पक्ष पर बल देने से सौंदर्य मानवरचित माना जाने लगा और लोक जीवन के केन्द्र में मनुष्य की प्रतिष्ठा का भाव जगा।

लोक को ऐतिहासिक संदर्भ में देखने पर पहली बात तो यही लगती है कि *आदिकाल* का लोक संदर्भ, संस्कृत साहित्य के परिपार्श्व में विकसित होता आया है। अत: यह शास्त्रीयता से एक प्रकार की प्रतिक्रिया का परिणाम रहा है। इसी कारण से *आदिकाल* में काव्य-रूढ़ियों, कथा-रूढ़ियों और वाह्य सौन्दर्य विधान कम ही मिलता है। *भक्तिकाल* में लोक आदिकाल का स्वाभाविक विकास बनता है। अब इसमें एक प्रकार की गति आ जाती है, जो law of inertia जैसी ही है। अपनी ही स्वाभाविक गति। भक्तिकाल में इस 'लोक' के दो पक्ष मिलते हैं- व्यक्तिगत साधना और लोक पक्ष। कबीर का लोक व्यक्तिगत साधना का परिणाम रहा है। स्वयं सूफी भी एकांत साधना के कवि थे। अत: दोनों में लोक की स्वाभाविकता तो है, किंतु व्यक्तिगत रुचि से यह प्रभावित है। यहाँ सब कुछ एक साधना के अंतर्गत था। यह साध्य न बन सका, जिसका परिणाम यह रहा है कि कविता की दृष्टि से आत्म-विश्वास न जग सका, क्योंकि कहीं न कहीं मन में खीझ, आक्रोश कुछ कुछ हीनता का भाव दिखायी दे जाता है। इन सबमें एक प्रकार से संबोधन व चुनौती की मुद्रा रही। तुलसी में लोक पक्ष कायदे से उभरता है किंतु संघर्ष पक्ष कमजोर हो जाता है। इनकी समन्वयवादी दृष्टि के कारण निगाह तो पूरे समाज पर थी, किंतु शास्त्रीय प्रवृत्तियों की ओर ध्यान देने से, प्रत्यक्ष की परम्परा का निर्वाह न कर सके। काव्य सौन्दर्य तो ठीक, किंतु लोक जीवन का सौन्दर्य अपनी आवेग मयता में न उभर सका। इस तरह भक्तिकाल के दो बड़े कवि कबीर व तुलसी भी हृदय की दूरियों को कम करते ही रह गये, उसे मिटाने

की स्थिति ही नहीं आयी। हालाँकि इनकी 'लोकबद्धता' में कोई संदेह नहीं है, किन्तु वह समग्रता में नहीं उभर सकी। कबीर का 'लोक' केवल पंथ वालों के अनुसरण का कारण था, जिसमें अनपढ़ ही आधिक थे, जबकि तुलसी का 'लोक' अपेक्षाकृत शिक्षित जनता से जुड़ा था। जाहिर बात है पहले में जहाँ विद्रोह ही विद्रोह था, दूसरे में सामंजस्य ही सामंजस्य। मतलब जो जहाँ था वहीं रहा।

इस रूप में भक्तिकाल का लोकपक्ष साधनात्मक ही अधिक रहा है। मतलब यह कि मनुष्य मात्र में एकता स्थापित करना उनका उद्देश्य था। स्वयं कबीर का प्रेम व योग, हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने से जुड़ा था। मनुष्य के बीच की धार्मिकता के आधार पर बढ़ते दूरी को कम करते जाना इनका प्रधान उद्देश्य हो गया। सूफियों का प्रेमभाव विभिन्न धर्मों में एकता स्थापित करने के उद्देश्य से प्रेरित था। वर्ग से आधिक जोर जाति व धर्म पर दिया गया जिससे उपेक्षित जनता का सच्चा जीवन कम ही व्यक्त हो पाया। स्वयं तुलसी इस भावनात्मक दूरी को कम करने में लगे थे। ईश्वर की सगुण सत्ता के आधार पर भेदभाव को मिटाने की चेष्टा की गयी, जिसका असर भूख से बिलबिलाती जनता पर कम ही पड़ा। कुल मिलाकर लोक जीवन के आर्थिक पक्ष तक इन कवियों की दृष्टि न जाने पाई। यही आधुनिक काल में होता है।

आगे *रीतिकाल* की लोकधर्मिता में तो सामान्य आदमी की जगह ही नहीं है। हाँ, सामान्य गुणों के आधार पर कह सकते हैं कि कहीं कहीं प्रेम की सहजता, सहृदयता का चित्रण अवश्य है। यूँ भी भूखे आदमी के जीवन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रेम की तन्मयता के आधार पर जरूर कुछ लोक-चित्रण मिल जात है किंतु उसमें चित्र अधिक है, भाव कम। जाहिर बात है, चित्रण की अवस्था में ये कुछ मौसमी फूलों की तरह होते हैं, जो कुछ ही समय में अपना सौन्दर्य नष्ट कर देते हैं। भाव

वाला स्थायित्व यहाँ कहां?

भाव की यही अधिकता *आधुनिक काल* की विशेषता है जिसमें निरा मनुष्य है। अब वह बगैर किसी अलौकिक शक्ति के सोच सकता है, स्वाभाविक कर्म करता है। उसकी एक गति है और परिस्थितियों से मुठभेड़ कर सकता है। अब गाँव-शहर का विभेद भी स्पष्ट होता है और गाँव की प्रतिद्वन्दिता शहर से वैसे ही है, जैसे पहले लोक की शास्त्र से हुआ करती थी। यहाँ पर संघर्ष दिखलाई देता है, जिसमें सहजता है, मूढ़ता नहीं। संघर्ष, उद्बोधनात्मक न होकर आह्वानपरक है। यह लोक अब अनुभव सम्बन्ध है और कवि लोक को निर्णयात्मक भूमिका प्रदान करता है। यहाँ का कवि अब समझता है कि लोक चित्रण ही लोकोन्मुखता नहीं। लोक परकता, लोक के ठोस यथार्थ को देखना और उसे निर्णयात्मक भूमिका भी देना है। (प्रो0 कमलेश दत्त त्रिपाठी, सापेक्ष लोक संस्कृति अंक- पृ0 35)। आज की लोकोन्मुखता वास्तव में वाह्य वस्तु से अधिकाधिक संवाद, सहजता और सामूहिकता के सम्प्रेषण से जुड़ी है। इस रूप में 'मानव की आत्मा के उन्नयन का यज्ञस्थल वह सक्रिय लोक है, जो अगाध तत्परता के साथ क्रियाशील रहते, यथार्थ का अनुभव करते हुए और समय के अनुकूल विचारोत्पादक चिंतन करते हुए सत्य की सार्वभौमिकता को व्यवहार से बाँधता चलता है। (डा0 राजेश्वर सक्सेना : सापेक्ष विशेषांक)।

3- सौंदर्य के बारे में विद्वानों के विचार

जैसा कि हम जानते हैं कि सौंदर्य किसी भी कलाकृति का महत्वपूर्ण अंग होता है और किसी कलाकृति के संदर्भ में यह *आनन्ददायी* होता है। सौंदर्य कलाकृति के आस्वादन में है, जिससे आनन्द की उत्पत्ति होती है, यह सौंदर्य का आरंभिक बिन्दु रहा है। यह सौन्दर्य वस्तुत: वर्गीय विभाजन के पहले उस समाज का है, जिसमें

विषमता की पीड़ा को पकड़ पाना कठिन होता है। हमारे पाश्चात्य व भारतीय काव्य शास्त्रों में सौन्दर्य को इसी रूप में समझा समझाया गया है, क्योंकि किसी 'लोक' की उपादेयता मात्र उसे आनन्ददायी गुणो में ही निहित हुआ करती थी और यह भी कि 'कृति' की कोई सामाजिक उपयोगिता नहीं मानी जाती थी। यह सौन्दर्य का समाज निरपेक्ष दृष्टिकोण था, जो बाद में समाज सापेक्ष्य हो गया। जब पूँजीवाद का उदय हुआ, तो सौन्दर्य की यह अवधारणा नि:शेष हो चली और सौन्दर्य संघर्ष में देखा जाने लगा। इस संघर्ष की अवधारणा के कारण ही सौन्दर्य प्राकृतिक उपादानों की समरसता में न देकर उनकी विषमता में देखा गया और रचनाकारों का स्थान अजब ढंग से छोटी छोटी और उपेक्षित वस्तुओं के प्रति गया। यह वस्तुत: सौन्दर्य का सामान्यीकरण ही है, जिसके द्वारा सौन्दर्य अपनी विशेष सत्ता से मुक्त होता ह। सौन्दर्य की यह अवधारणा जहाँ एक ओर इसके बढ़ते स्वरूप का संकेत करती है, वहीं इसके मानवीकृत पहलू का बोध भी कराती है। यह सौन्दर्य का वह पक्ष है जिसमें मनुष्य को स्रष्टा भी माना गया और द्रष्टा भी। मनुष्य सौन्दर्य सृजन के केन्द्र में है और यह स्वरूप हमारे आज के अध्ययन के लिए बेहद उपयोगी है।

अब चूँकि सौन्दर्य आस्वाद और अनुभूति का विषय है, अत: इसे परिभाषित कर पाना कठिन है और 'गेटे' ने ठीक ही कहा था। यह एक प्रकार का ऐन्द्रिय संवेदन ही है। फिर भी हमारे लिए यह देखना रोचक है कि पाश्चात्य व भारतीय विद्वानों ने इस दिशा में क्या कहा है?

प्राचीन *यूनानी आचार्यों* में अनेकता में एकता का सिद्धान्त सौंदर्य विवेचन में अत्यंत प्रमुख रहा है। कुछ आचार्य ने सौंदर्य को वस्तु विशेष में देखा, तो कुछ ने व्यक्ति के चेतन मानस में उसका मूल रूप देखा। प्रथम के अनुसार सौंदर्य वस्तुनिष्ठ किया जा सकता है।

प्लेटो ने सौंदर्य को दो रूपों में देखा। चेतन और प्रतीयमान। उसके अनुसार चेतन जगह नित्य है, आदि-अंत से परे है। प्रतीयमान जगत में जो सौन्दर्य दिखलाई पड़ता है, उसका उत्स यही चेतन जगत ही है। चेतन का एकत्व, प्रतीयमान के अनेकत्व में प्रतिभाषित होता है। अत: प्लेटो में सौदर्य-तत्व, 'ज्ञान' का साधन माना गया, क्योंकि सौंदर्य की साधना के द्वारा व्यक्ति दिव्य सत्य का दर्शन करता है। पवित्र प्रेम का साक्षात्कार करता है। अत: सौन्दर्यनुभूति के द्वारा व्यक्ति की दृष्टि नैतिक, चित्त पवित्र व चरित्र दिव्य हो सकता है। इस रूप में प्लेटो में सौन्दर्य, दर्शनशास्त्र के रूप में ज्ञान की चरम अवस्था तक जाता है।

अरस्तू ने कहा कि सुन्दर वह शिव है (Good) जो इसलिए आनन्ददायक है कि वह शिव (Good) है। अत: इन्होंने सौन्दर्य को सापेक्ष व निरपेक्ष इन दोनों रूपों में देखने का प्रयास किया। दरअसल अरस्तू से पहले ग्रीस में कला शब्द का प्रयोग प्रधानत: उपयोगी कला (Useful art) के लिए किया जाता था। अरस्तू पहले आचार्य हैं जिन्होंने उपयोगी कला (Useful art) और (Fine art) का भेद स्पष्ट किया। साथ ही ललित कला की पृथक सत्ता को स्थापित किया। इसप्रकार उन्होंने उपयोग और सौन्दर्य का क्षेत्र विभाजन कर सौन्दर्य को शास्त्रीय चर्चा का विषय बनाया और इस सौन्दर्य को उन्होंने सापेक्ष व निरपेक्ष दोनों रूप में देखा।

अरस्तू के अनुसार 'सुन्दर' वस्तु में 'आर्डर', 'सिमेट्री' और 'डेफिनिटनेस' की विद्यमानता रहती है। इनके अनुसार सुन्दर व शिव एक नहीं है (जैसाकि प्लेटो ने कहा था) क्योंकि 'शिव' का अनुभव 'गति की अवस्था' (State of motion) में होता है और सुन्दर की अनुभूति 'स्थिति' (Repose) की अवस्था में होती है।[37] दरअसल 'सौंदर्य' को 'शिवत्व' से अलग कर अरस्तू ने जहाँ एक ओर 'सौन्दर्य' को वस्तुनिष्ठ सत्ता को स्वीकार किया वहीं इसे 'नैतिकता' के आग्रह से मुक्त भी किया।

प्लाटिनस (रोमन आचार्य) ने प्लेटो के सिद्धान्त, 'कला प्रकृति का अनुकरण है' का खण्डन किया। इनके अनुसार किसी वस्तु के साधारण प्रत्यक्षीकरण में सौन्दर्य का मूल तत्व नहीं देखा जा सकता। प्रत्येक दृश्यमान पदार्थ किसी महत या ऋण की अभिव्यंजना करता है। कोई वस्तु इसलिए सुन्दर होती है कि उसके माध्यम से सार्वभौम चेतना का प्रकाश होता है। इसलिए किसी वस्तु का सौन्दर्य 'चित्त' की छाया मात्र है। प्लाटिनस के विचार से संगति या समानुरूपता सौन्दर्य का पर्याय नहीं है। सौन्दर्य सामंजस्य पर खेलने वाला एक आलोक है, जो दिव्य और ईश्वरीय है। सुन्दर वस्तु महत् सत्य या चित् की प्रतिविम्बन करती है अर्थात् सौन्दर्य पूर्णत: भावगत है, अल्पांश में भी वस्तुगत नहीं। इसलिए सौन्दर्य एक रहस्यात्मक सहजानुभूति है।

इसके बाद *ईसाई मतानुयायियों* का उदय होता है जिनमें सेंट टामस, दांते, जीनो आदि आते हैं, जिनके अनुसार, सौन्दर्य ईश्ववरीय या दिव्य ज्योति का प्रकाशन करता है।

इसके बाद *आधुनिक समय* में सौन्दर्य को दर्शन से जोड़कर देखा जाने लगा। इस रूप में *जर्मन दार्शनिकों* ने इस पर जमकर विचार किया है। दरअसल सौन्दर्य के दर्शनीकृत रूप को व्यक्त करने का श्रेय इन्हीं जर्मन दार्शनिकों को जाता है।

वाउमगार्तेन, ही आधुनिक समय में सौन्दर्य का प्रथम प्रयोगकर्ता है। अपनी पुस्तक (Aesthetics 1750) के द्वारा इसका आरम्भ करता है। उसके अनुसार प्रकृति, सौन्दर्य का चरम प्रतिमान है। इसलिए प्रकृति का अनुकरण ही सौन्दर्य सृजन है।

कांट के अनुसार सौन्दर्य चिन्तनशील धारणा का आनन्द है। इसका अस्तित्व वस्तुनिष्ठ नहीं है, किन्तु इसका उद्देश्य नैतिक शिवत्व का स्थापन है।

हीगेल के अनुसार 'आइडियल' की अभिव्यक्ति का प्रयास ही सौन्दर्य सृजन है।

लेसिंग के अनुसार सौन्दर्य अभिव्यक्ति में नहीं, वस्तु, विधान और पद्धति में है।

इन्होंने केवल कविता और चित्रकला को ध्यान में रखकर सौन्दर्य पर विचार किया है।

इसके अलावा सौन्दर्य के *मनोवैज्ञानिक*[38] विश्लेषण को प्रारम्भ किया है- इंग्लैण्ड के सौन्दर्यशास्त्रियों ने। इनके दो वर्ग हैं Idealist and Formalist प्रथम वर्ग के लोग सौन्दर्य को विश्लेषण से परे मानते हैं, किन्तु दूसरे वर्ग के लोग सौन्दर्य का विश्लेषण हो सकता है ऐसा मानते हैं, क्योंकि उसका सम्बन्ध वस्तु विशेष के आकृति विधान से है।

प्रथम वर्ग में शैफ्टबरी, टॉमस रीड और रस्किन हैं।

शैफ्टसबरी - सौन्दर्य और परम विभु एक है।

टामस रीड - सौन्दर्य आध्यात्मिक चैतन्य है।

रस्किन - सौन्दर्य ईश्वर की विभूति है।

द्वितीय वर्ग में एडिसन, वर्क, होगार्थ, बेन, और ऐल्सन है। *एडिसन*- सौन्दर्य परिवेश व संगति का फल है।

वर्क - वस्तु विशेष की वर्णगत चारुता, आंगिक कोमलता और उज्ज्वलता ही सौन्दर्य है।

होगार्थ - सौन्दर्य वस्तु विशेष के अंगों से सन्धिबद्ध, प्रयुक्तियों की रंजकता और अनुक्रम में विद्यमान रहता है।

बेन - हमारा वह संवेग जो जीवन के प्रयोजनों से परे रहता है, सौन्दर्य कहलाता है।

ऐल्सन - सौन्दर्य विचारों का प्रवाह है।

इसके अतिरिक्त *सौन्दर्य को जीवन* मानने वाले भी विद्वान है, जो जीवन में ही सौन्दर्य देखते हैं। यही वह मार्क्सवादी सौन्दर्यबोध है, जिसने मनुष्य के सामान्य क्रियाकलाप

में भी सौन्दर्य को ढूँढ़ा। इसका केन्द्र यूँ तो 'रूस' ही रहा है किन्तु इसका प्रभाव व्यापक पड़ा-

चर्नीशेव्सकी - सौन्दर्य ही जीवन है।

बेलिन्स्की - सौन्दर्य सामाजिक जीवन के जीवन्त यथार्थ का ऐसा प्रतिबिम्ब है जो हमें आनन्द ही नहीं देता, प्रगतिशील होने की प्रेरणा भी देता है।

ऊपर हमने पाश्चात्य सौन्दर्य चिन्तन के विकास की संक्षिप्त रूप रेखा प्रस्तुत की है। *जे0एच0 काजिम्स* ने पाश्चात्य सौन्दर्य चिन्तन के विकास को तीन धाराओं में बाँटा है[39]

1) Aesthetical Monism

2) Aesthetical Dualism

3) Aesthetical Trinitarianism

प्रथम धारा में मुख्यत: प्लेटो व सुकरात आते हैं, जिनके सौन्दर्य दर्शन को Subjective and Transcendental कहा जाता है। दूसरी धारा का आरम्भ 18वीं शताब्दी में होता है जिसमें हचेसन, होगार्थ, डा0 विसर प्रमुख हैं। इन सभी ने द्रष्टा व दृश्य के द्वैत को सामने रखकर सौन्दर्य पर विचार किया है। तीसरी धारा का आरम्भ जर्मनी के सौन्दर्य चिंतकों द्वारा होता है। जिन्होंने प्लेटो की transcendental beauty को आधार बनाकर सौन्दर्य, वस्तु व चेतना की समी स्वीकार किया।

इसके साथ यहाँ पर 'इटली' के प्रसिद्ध काव्यशास्त्री, 'क्रोचे' (1866-1950) के विचारों का उल्लेख भी जरूरी हैं जिनके अनुसार अभिव्यक्ति की पूर्णता ही सौन्दर्य हैं। दरअसल क्रोचे के पहले काव्य में बुद्धि या अनुभव को प्रधान माना जाता था। इन्होंने 'कल्पना' को विशेष महत्व दिया और सहज ज्ञान से सौन्दर्य सृजन को माना। इनके अनुसार आत्मा की दो क्रियाएँ होती हैं-

1- विचारात्मक

2- व्यवहारात्मक

इस विचारात्मक क्रिया के दो भाग हैं- सहज ज्ञान (Intuition) और तर्कात्मक ज्ञान (Logical knowledge)। इनमें सहज ज्ञान से ही बिम्बों की प्राप्ति होते हैं जिनकी अभिव्यक्ति से सौन्दर्य का निर्माण होता है। आगे ये कहते हैं कि चूँकि अभिव्यक्ति के बिना सहज ज्ञान, पूर्ण नहीं होता, अत: अभिव्यक्ति को ही सुंदरता कहा। लेकिन 'क्रोचे' का यह अभिव्यक्तिवाद बड़ा अतिवादी हुआ, क्योंकि हर प्रकार की अभिव्यक्ति को सुंदर नहीं माना जा सकता। इससे कलावाद का जन्म हुआ, जिसका अनुसरण वाल्टर वोटर, क्लाइव बेल, बैडले, रोजर फ्राई आदि ने किया। बाद में आई0 ए0 रिचर्डस ने 'कला' को जीवन से जोड़ा।

इस तरह हम देखते हैं कि पाश्चात्य कला विवेचन में सौन्दर्य चिंतन अतिवादी ही रहा है। एक ओर चेर्नीसेवस्की जैसे विचारक ने सौन्दर्य की परिभाषा में कहा "Beauty is life", तो दूसरी ओर शेफ्ट्सबरी जैसे आत्मनिष्ठ चिन्तक ने कहा "Beauty and God are one and the same"। कहीं दोनों के बीच समन्वय भी बैठाने की कोशिश होती रही है। इस रूप में पूरे पाश्चात्य वाङ्गमय का विश्लेषण करने पर इसके तीन रूप आते हैं-

1- आत्मवादी सौन्दर्य चिंतन

2- वस्तुवादी सौन्दर्य चिंतन

3- भाववादी सौंदर्य चिंतन

आत्मवादी सौन्दर्य चिंतन में, जैसाकि हमने देखा, प्लेटो अग्रणी रहे हैं। प्लेटो के अनुसार सौन्दर्य के चार स्तर हैं- शारीरिक, मानसिक, नैतिक और शुद्ध बुद्धि का

सौन्दर्य अथा प्रज्ञात्मक सौन्दर्य। उनके अनुसार सौन्दर्य सृष्टि का मूल तत्व है और इसका संधान करना ही तत्व स्रष्टा का चरम लक्ष्य है। इसे वे सत्य के पर्याय व श्रेयस से अभिन्न मानते हैं। सौन्दर्य का आधार है समन्वित अथवा सामंजस्य जो विश्व प्रपंच का मूल सिद्धान्त है। इस सामंजस्य को ही वे औचित्य मानते हैं। यह समानुपात या सममात्रा पर आधारित होता है।

कुछ ऐसी ही धारणा प्लोटिनस, आगस्टाइन, कांट व हेगेल में मिलती है।

वस्तुवादी के अनुसार सौन्दर्य वस्तु का गुण है और वह रूप आकार में निहित होता है। जहाँ आत्मवादी सौन्दर्य शास्त्र का ध्येय होता है, सौन्दर्य के आध्यात्मिक अर्थ की व्याख्या करना, वही रूपवादी इसका निषेध करते हैं। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हरबर्ट नामक दार्शनिक ने दृढ़ता के साथ घोषित किया कि 'सौन्दर्य अपने अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु का प्रतीक नहीं हैं। अपने रूप के अतिरिक्त उसका कोई अर्थ नहीं है। इनके अनुसार वस्तु के आकार की रचना अनुक्रम, अनुपात, सममिति, वर्ग-योजना, दीप्ति आदि तत्वों से होती है, ये ही सौन्दर्य के तत्व हैं। यूं तो इन तत्वों की सत्ता आत्मवादियों को भी मान्य है, किन्तु दोनों में दृष्टिकोण का फर्क है। आत्मवादी इन्हें पारमार्थिक सत्ता का प्रतीक मानता है, जबकि रूपवादी इन्हें पार्थिव मानता है। ये सौन्दर्य की सत्ता वस्तु की संरचना में ही मानते हैं और भाव व विचार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं मानते। अर्थात् ये सब इस बात से इन्कार करते हैं कि भाव अथवा विचार के संस्पर्श से पदार्थ में सौन्दर्य का संचार होता है, क्योंकि इनके मत से सौन्दर्य पदार्थ में ही है, चेतना में नहीं।

भाववादी काम या इच्छा को सौन्दर्य का प्राणतत्व मानते हैं। इनके अनुसार सौन्दर्य भाव की अभिव्यक्ति है। दरअसल भाववादी विचारक एक ओर आत्मवादियों के निकट हैं, तो दूसरी ओर वस्तुवादियों के। यह एक प्रकार का समन्वयवादी दृष्टिकोण ही

है, क्योंकि यह वस्तु में सौन्दर्य मानता है, किन्तु उसकी अनुभूति के लिए आत्मा की बात करता है।

अत: पाश्चात्य मत के अनुसार-[40]

1- सौन्दर्य पदार्थ नहीं पदार्थ का गुण है।

2- वह भौतिक तत्वों का संश्लेष न होकर पदार्थ का प्रतीयमान या गोचर रूप है जिसका आविर्भाव प्रमाता की चेतना के सन्निकर्ष से होता है।

3- प्रत्येक पदार्थ का गोचर रूप सुन्दर नहीं होता। सौन्दर्य का आधार है संरचना की प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष या सरल अथवा सूक्ष्म जटिल अन्विति जो प्रमाता के ऐन्द्रिक मानसिक संवेदनों में सामंजस्य स्थापित कर उसकी चेतना का प्रसादन करती है।

4- प्रीति या आह्लाद सौन्दर्य का लक्षण है।

5- संरचना की अन्विति प्राय: सूक्ष्म-जटिल होती है। अत: उसकी प्रतीति सामान्य ऐन्द्रिक प्रतीति न होकर सूक्ष्म जटिल ऐंद्रिक मानसिक प्रतीति होती है जिसमें कल्पना का विशेष, योगदान होता है।

6- सौन्दर्य की परिधि में यूँ तो कला व प्रकृति दोनों ही आ जाते हैं, किन्तु पारिभाषिक अर्थ में सौन्दर्य कला या उसके सौन्दर्य का ही वाचक है।

7- भावना का सौन्दर्य के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है।

8- सौन्दर्य का रूप निश्चय ही गोचर या ऐंद्रिक होता है, किन्तु इस गोचर रूप में आकर्षण या मूल्य उत्पन्न करने वाले तत्व राग या प्रज्ञा ही है।

भारतीय दृष्टि-

आरम्भ में ही हमें यह बात जान लेनी है कि पाश्चात्य शास्त्र में सौन्दर्य विवेचन,

सौन्दर्य शास्त्रीय था, जिसमें कविता का सम्बन्ध अन्य कलाओं (स्थापत्य, नृत्य, संगीत) के संदर्भ में मानकर सौन्दर्य का विश्लेषण किया जाता था, किन्तु भारतीय सन्दर्भ में यह काव्य शास्त्रीय ही था जिसमें अन्य कलाओं से सम्बन्ध बहुत जोर नहीं दिया जाता था। जाहिर बात है कि काव्यशास्त्र जहाँ निर्णयात्मकता (Judgement) को महत्व देता है, सौन्दर्यशास्त्र मूल्य को (Value)। भारतीय काव्यशास्त्र में इसीलिए सौन्दर्य की प्रस्तुति एक निर्णयात्मक ढंग से की गई है। (सन्दर्भ डा0 कुमार विमल : सौन्दर्यशास्त्र के तत्व)।

भारतीय वाङ्मय में सौन्दर्य की अवधारणा तो प्राचीन है ही, किन्तु शब्द प्रयोग बहुत पुराना नहीं है। वेदों व मूल उपनिषदों में यह उपलब्ध नहीं होता किन्तु सौन्दर्य की अवधारणा स्वरूप उसके वाचक-व्यंजक शब्दों का अभाव नहीं है।[41] संस्कृत वाङ्मय मे सुन्दर के निम्न पर्याय उपलब्ध हैं-

सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं साधु शोभनम्

कान्तं मनोरमं रुच्चं मनोज्ञं मंजु मंजुलम्

अभीष्टेउभीप्सितं हृदयं दपितं बल्लभं प्रियम। (अमरकोश- तृ0 का0)

अर्थात् सुन्दर, रुचिर, चारु, सुषम, साधु, शोभन, कांत, मनोरम, रुचि, मनोज्ञ, मंजु और मंजुल। अभीष्ट के अर्थ में अभीप्सित, हृदय, द्रवित, बल्लभ और प्रिय। यहाँ अभीष्ट के वाचक सभी शब्दों में प्रमाता की अभिलाषा ही प्रमुख है। इसके अतिरिक्त और भी शब्द हैं जो इसी अर्थ का वाचन करते हैं। ललित, सुष्ठु, काम्य, कमनीय, रमणीय। इन सभी पर्यायों से यह पता चलता है कि इसमें कुछ तो वस्तु परक सौन्दर्य का द्योतन करते हैं और कुछ आत्म परक सौन्दर्य का। अर्थात् यह निश्चित है कि सौन्दर्य वस्तु परक व आत्म-परक दोनों होता है।

और जैसा कि हम जानते हैं, वेदों में सुन्दर शब्द का प्रयोग न मिलकर इनके

पर्यायों का प्रयोग मिलता है। वेद, विशेषकर ऋग्वेद में काव्य तत्व ही प्रमुख है। काव्य शास्त्र के विषय में तो कुछ विरल संकेत ही है। प्रकारांतर से सौन्दर्य का विवेचन भी है, जैसे कि उष:सूक्त में सौन्दर्य के मधुर पक्ष का और मरुत, विष्णु, पुरुष-सूक्त में सौन्दर्य के उदात्त पक्ष का विवेचन किया गया है। उष:सूक्त में कहा गया है कि, आलोक वसना ऊषा प्राची दिशा में उदित होकर अपने सौन्दर्य को अनावृत्त करती है। उसकी तनद्युति सद्य: स्नाता की भाँति उज्ज्वल है। वह रात्रि के श्याम आवरण को भंग कर अपने रूप को प्रकट करती है (ऋग्वेद 5-8015)। तो यह है सौन्दर्य का मधुर पक्ष। उदात्त पक्ष में विराट व तेजस्वी रूपों का वर्णन मिलता है जैसे मरुत सूक्त में- 'वे स्वर्ण वर्ण हैं, अरुण आभा से दीप्त है, अग्नि के समान तेजस्वी व स्व प्रकाश से भास्वर है...। (ऋग्वेद 7-56.13) इससे स्पष्ट है कि वैदिक कवि की धारणा के अनुसार सौन्दर्य का स्वरूप मूलत: ऐन्द्रिक है, जिसमें कांति का सर्वाधिक महत्व है। (आगे हम विचार करेंगे कि कविता में लोक-सौन्दर्य हेतु प्रकृति पक्ष व उदात्त पक्ष (चरित्र पक्ष) किस तरह जरूरी है। अब बदली परिस्थिति में यदि आक्रामकता व संघर्ष आता है, तो यह स्वागत योग्य है।)

उपनिषद का विषय है आत्म विद्या। वह आत्म चिंतन का काव्य था। वैदिक कवि जहाँ सौन्दर्य के लौकिक व दिव्य, ऐन्द्रिक व आरम्भिक दोनों रूपों का रसिक था, वहां उपनिषद के कार्य की दृष्टि केवल आत्मा के सौन्दर्य के प्रति ही उन्मुख थी[12]। इसका आधारभूत सिद्धान्त है- अद्वैत। .तभी कठोपनिषद (5-12) कहता है-

एको वसी सर्वभूतन्तरात्मा

एकं रूपं बहुधा य: करोति।

अत: उपनिषद में जिस सौन्दर्य का वर्णन किया गया है, उसके दो लक्षण हैं- प्रकाश व आनन्द। गोचर रूप में वह प्रकाश है और अनुभुति के स्तर पर वह आनन्द

है। इस प्रकार उपनिषदीय कवियों ने पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड के दर्शन करने शुरु कर दिये और यदि यह बाद में चलकर व्यक्तिवाद का रूप धारण किया, तो कौन सा आश्चर्य? यह सौन्दर्य की आत्मवादी व्याख्या है।

रामायण में सुन्दर शब्द का प्रयोग सबसे पहले आता है।[42] क्योंकि इसके एक काण्ड का नाम ही सुन्दरकाण्ड है। आदिकवि बाल्मीकि ने सौन्दर्यों के प्राय: सभी रूपों का अत्यन्त ही उल्लास के साथ वर्णन किया है- प्रकृति-सौन्दर्य, भौतिक सौन्दर्य, मानव सौन्दर्य व कलागत सौन्दर्य। यह व्यक्त जीवन का काव्य है जिसमें उपनिषद के रहस्य दर्शन का प्राय: अभाव रहता है। अत: उसमे अलौकिक सौन्दर्य की रहस्यात्मक अभिव्यक्ति तो नहीं है, परन्तु मन:गोचर सौन्दर्य अथवा भाव सौन्दर्य का वैभव प्रचुर मात्रा में विद्यमान है[44]।

यहाँ यह बात गौरतलब है कि *मानव-रचित सौन्दर्य* जिसे डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी लालित्य कहते हैं, का विशद वर्णन रामायण में मिलता है, जिसका अध्ययन आधुनिक युग में विशेष रूप से किया जाता रहा है। प्राकृतिक सौन्दर्य में प्रकृति के केवल मधुर कोमल रूपों में ही नहीं, वरन् पुरुष एवं विराट दृश्यों में भी सौन्दर्य का उद्घाटन किया जाता रहा है। मानव सौन्दर्य में स्त्रियों के सन्दर्भ में कोमलता एवं विलास तथा पुरुष सन्दर्भ में बलिष्ठता व तेजस्विता आदि गुणों का उल्लेख किया गया है।

रामायण में यूँ तो सौन्दर्य का वर्णन ही किया गया है, किन्तु कहीं कहीं विवेचन भी हुआ है जिसमें कवि के सौन्दर्य चेतन विचारों का संकेत मिलता है जैसे कि "मनसैव कृतां लंकां निर्मितां विश्वकर्मणां" (4-2-22) (विश्वकर्मा द्वारा रचित लंका ऐसी प्रतीत होती है जो मानो उसकी रचना मन के द्वारा की गयी हो।) यहाँ पर कालीदास की बड़ी महत्वपूर्ण उक्ति आभासित होती है- "रूपोच्चेन विधिनां मनसा कृता नुं।" कला की रचना यांत्रिक क्रिया या शिल्प नैपुण्य मात्र न होकर मन की अथवा यह कहें कि

मानसिक विम्ब की सृष्टि है और यह सौन्दर्यशास्त्र की उसी दृष्टि की ओर संकेत करता है जिसका प्रतिपादन क्रोचे ने किया है 'कला' की सृष्टि मूलत: मानस विम्ब के रूप में होती है।'

महाभारत के बारे में डा0 नगेन्द्र ने ठीक लिखा है कि रामायण की तुलना में महाभारत में काव्य तत्व की प्रधानता है और उसी मात्रा में सौन्दर्य वर्णन की अपेक्षा वृत्त वर्णन की प्रधानता है।[44]

फिर भी सौन्दर्य के इंद्रिय गोचर और मनोगोचर दोनों रूपों का सम्पर्क निरूपण हुआ है। प्राकृतिक सौन्दर्य में सौन्दर्य के सभी तत्वों, वर्ग वैभव, दीप्ति निर्मलता आदि का उल्लेख मिलता है। मानवीय सौन्दर्य के प्रसंग में महाभारतकार में रूप-सौभाग्य को जीवन की अमूल्य उपलब्धि माना है और इस रूप सौभाग्य का आधारभूत तत्व है, पुरुष के सन्दर्भ में बलिष्ठगात्र, दीप्तवर्ण, आंतरिक तेज आदि। नारी के सन्दर्भ में समानुपातिक अनवद्य अंग सम्पत्ति, वर्णकांति, सौकुमार्ग आदि। इनके अनुसार अलंकार रूप यौवन की श्रीवृद्धि तो करते ही हैं, किन्तु वे नित्य धर्म नहीं हैं, क्योंकि सहज सौन्दर्य का आकर्षण अलंकार पर निर्भर नहीं करता।

इसके अतिरिक्त गीता के विराट रूप प्रदर्शन में हमें अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, सौन्दर्यशास्त्र के एक मौलिक सिद्धान्त का उद्‌घाटन होता है। 'सौन्दर्य के लिए पदार्थ के गोचर रूप के साथ प्रमाता की ऐंद्रिक चेतना का सामंजस्य और उसके फलस्वरूप चित्तवृत्ति का समीकरण आवश्यक है। पदार्थ का गोचर रूप जब इन्द्रियों की ग्रहण शक्ति का अतिक्रमण कर जाता है,तो सामंजस्य भंग हो जाने से चित्त की समाहिति नष्ट हो जाती है और चित्त की यह विकलता सौन्दर्यानुभूति की सबसे बड़ी बाधा है[45]। इससे सामंजस्यता का सहज ही उद्‌घाटन होता है। वस्तुत: अर्जुन जब भगवान से विराट रूप दिखाने को कहते हैं, (दृष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम-भीष्मपर्व 35-

3) तो रूप देखकर अर्जुन का चित्त भय से व्याकुल हो उठता है और वे पुराने रूप में आने का निवेदन करते हैं।

दृष्टवेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।

इदानीमस्मि संवृत्त: सचेता: प्रकृतिं गत:। (भीष्म पर्व 35-51)

महाभारत के बाद संस्कृत का आभिजात्य काव्य आता है जिसका सौन्दर्य विवेचन व सौन्दर्य वर्णन दोनों महत्वपूर्ण हैं। इसमें अग्रणी *कालिदास* है जो मूलत: सौन्दर्य के कवि हैं। वे भी सौन्दर्य की सृष्टि में मानसी कल्पना को प्रमुख मानते हैं। (रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु-अभिज्ञान शाकुन्तलम)

वाणभट्ट की कृतियाँ-कादम्बरी व हर्षचरित में चित्रों के विविध भेद, रचना-प्रक्रिया आदि के विषय में अनेक बातें मिलती हैं।

भवभूति मूलत: भावना के रचनाकार हैं। उनके अनुसार मानवीय भावना, रस अथवा काव्य-सौन्दर्य का मूलाधार है।

माघ ने सौन्दर्य को चिर नवीन कहा है। "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदैवरूपं रमणीयताया:।"

संस्कृत के इन कवियों के बाद *हम हिन्दी के भक्त कवियों* के सन्दर्भ से सौन्दर्य की बात उठा सकते हैं जहाँ भगवान के दिव्य सौन्दर्य का, नाना भंगिमाओं में अभूतपूर्व वर्णन मिलता है। भारतीय दर्शन के शांकर वेदांत में प्रतिपादित निर्विकल्प ब्रह्म की धारणा ने और उधर बौद्धमत के शून्यवाद ने, दार्शनिक आध्यात्मिक स्तर पर, भारतीय सौन्दर्य कल्पना के विकास में जो व्याघात उपस्थित कर दिया था, वैष्णव आचार्यों की सगुण भावना ने उसका बहुत कुछ परिहार कर दिया।[45] इन वैष्णव भक्तों ने भगवान के सौन्दर्य को गोचर रूप में प्रस्तुत कर दार्शनिकों की अमूर्त अगोचर धारणा से निजात पाने में काफी सफलताहासिल की। भक्ति का आकार ग्रंथ श्रीमदभगवतगीता ही है, जिसका रचनाकाल 9वीं शताब्दी माना गया है जिसमें भगवान की दिव्य छवि का गोचर

रूप में वर्णन किया गया है। यह दिव्य सौन्दर्य, विश्व सौन्दर्य का सार तत्व ही है किन्तु यह मानवीय भी है। भारतीय भक्ति पद्धति का विकास प्रसारकाल 11वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी के बीच माना गया है जिसमें भक्ति साधना के 5 प्रमुख सम्प्रदायों का उदय हुआ : रामानुज या श्री सम्प्रदाय, माध्व सम्प्रदाय, निम्बार्क सम्प्रदाय, बल्लभ सम्प्रदाय और चैतन्य अथवा गौणीय सम्प्रदाय। इसमें प्रथम दो ने भगवान के ऐश्वर्य रूप पर और अंतिम तीन ने भगवान के माधुर्य रूप पर विशेष बल दिया। यूँ तो इसमें से किसी में सौन्दर्य का विस्तृत विवेचन नहीं मिता, किन्तु गौणीय सम्प्रदाय का योगदान महत्वपूर्ण है जिसक श्रेय है चैतन्यमहाप्रभु के शिष्य रूप स्वामी और उनके टीकाकार जीव गोस्वामी। रूप स्वामी ने हरिभक्तिरसामृतसिंधु की रचना कर वैष्णव रस की प्रतिष्ठा की और जीव गोस्वामी ने दुर्गमसंगमिनी टीका लिखकर विषय को विस्तार दिया। ये ग्रन्थ वैष्णव सौन्दर्यशास्त्र या धार्मिक सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार हैं जिसमें कदाचित पहली बार प्रत्यक्ष रूप से सौन्दर्य तथा उसके विभिन्न तत्वों का विवेचन किया गया है, जहाँ सौन्दर्य की परिभाषा में अनुपात, समन्विति अथवा सममिति का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। रूप, माधुर्य व लावण्य के लक्षणों में उस नैसर्गिक आकर्षण को रेखांकित किया गया है जो अवयवों के सौन्दर्य के अतिरिक्त, समग्र व्यक्तित्व में व्याप्त रहता है। इससे स्पष्ट है कि सौन्दर्य विषय का गुण रहने पर भी विषयी पर बहुत कुछ निर्भर करता है।[46]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सौन्दर्य जहाँ वस्तुगत है, वहीं पर आत्मगत भी और ऐसा पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र भी मानता है। भारतीय काव्यशास्त्र में भी इससे स्पष्ट संकेत मौजूद हैं। सौन्दर्य का आत्मगत (भावपक्ष) अनुभूत्यात्मक पक्ष रस व ध्वनि सिद्धान्तों में विस्तार से मिलता है, तो इसका वस्तुनिष्ठ पक्ष रीति व अलंकार समुदायों में मिलता है। इसका दोनों का समन्वय कुंतक के वक्रोक्ति काव्य जीवितम

में मिलता है और क्षेमेन्द्र ने औचित्य की प्रतिष्ठा कर कृति के स्तर पर सममिति तथा अनुपात आदि तत्वों का और विचार के स्तर पर सौन्दर्य के नैतिक पक्ष का उद्‌घाटन किया है।

इसके बाद आधुनिक विचारकों का मत आता है जिनसे 20वीं शताब्दी में सौन्दर्य की अवधारणा का पता चलता है। इसमे हिन्दी के कुछ प्रमुख आलोचक हैं, जिन्होंने सौन्दर्य को मानवीय क्रिया व्यापारों से जोड़कर इसकी अवधारणा में व्यापक परिवर्तन किया। यूँ तो यह अवधारणा किसी किसी रूप में मार्क्सवादी सौन्दर्य अवधारणा से जुड़ती है, किन्तु मानवरचित सौन्दर्य को मानने वाले कहीं से मार्क्सवादी नहीं है। इन सबका जिक्र हम सौन्दर्य क्या है, शीर्षक के अन्तर्गत करेंगे। फिलहाल तो यह देखते हैं मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र क्या कहता है?

मार्क्सवादी सौन्दर्यबोध-

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत सौन्दर्य को एक द्वन्द्वात्मक दृष्टि से देखा जाता है जिसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वस्तु को एक विशेष सत्ता या वस्तु के रूप में न देखकर वस्तु के अंत:सम्बन्धों तथा अन्तर्विरोधों के रूप में जाँचा परखा जाता है। इसके विपरीत पराभौतिक दृष्टि में वस्तु को जड़ पदार्थ के रूप में माना जाता है। द्वन्दवाद के रूप में हम सौन्दर्य को जीवन मानते हैं और यहाँ जीवन का अर्थ समाज के सजीव जीवन से है, न कि ब्रह्माण्ड में व्याप्त अखिल जीवन से क्योंकि ऐसा जीवन मानववादी सौन्दर्यबोध में मिलता है।

वस्तुत: भाववादी सौन्दर्यबोध के अनुसार सौन्दर्य कालातीत, अनिर्वचनीय व अतुलनीय होता है। हालाँकि यह भी सजीव सौन्दर्य का गुण होता है किन्तु यह ऐसी सजीवता होती है जो लगभग स्थिर मान ली जाती है। ऐसे लोग सौन्दर्य की पहचान के लिए सुन्दर पदाथों की शर्त पहले ही रख लेते हैं और सौन्दर्य दृष्टि को सर्वथा निर्वैक्तिक

मान लेते हैं। इससे अधिक से अधिक 'जड़ सौन्दर्य' का ही पता चलता है। उसमें स्थूलता विद्यमान रहती है। इसके अनुसार प्रमाता पदार्थ के रूप पर ही केन्द्रित हो जाता है और सुन्दरता का निरीक्षण व निर्णय दोनों कर डालता है। द्वन्द्ववाद इससे सहमत नहीं होता। इसके अनुसार प्रमाता सुन्दर वस्तु को देखकर ही सौन्दर्य का बोध नहीं करता बल्कि 'रूप' के साथ ही वह वस्तु के विकास की प्रक्रियाओं, वस्तु के अन्तर्सम्बन्धों, इसके उपभोग की संभाव्यता आदि के बारे में उसकी परम्परा में सोचता है।

तब यह ठीक ही है कि सौन्दर्य का प्रतिमान कोई वस्तु अपनी *गतिशील अवस्था* में ही बनती है और इस गतिशीलता से ही सजीवता उत्पन्न होती है। हम जिस किसी भी वस्तु के सौन्दर्य पर विचार करते हैं, हमारी दृष्टि उस वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप और उसके ऐतिहासिक अस्तित्व के साथ ही गतिशील रहती है। अजन्ता, एलोरा या कि ताजमहल की सुन्दरता पर यदि हम मुग्ध होते हैं तो इसलिए कि हम उसमें कलाकार के श्रम का सौन्दर्य देखते हैं। इसी प्रकार जब हम किसी काव्य को पढ़ते हैं, तब हम उसे उसके ऐतिहासिक परिप्रेभ्य में देखते हैं कि यह अपनी परम्परा से कितना भिन्न है और बावजूद इसके इसमें कितनी परम्परा है और इसके साथ यह भी कि इसमें 'नयापन' कितना है और कितना 'अपनापन' है, जिसे निजीपन कह सकते हैं। लोक जीवन के सन्दर्भ में तो यह विशिष्ट अर्थ रखता ही है जिससे यह भी पता चलता है कि कितनी जड़ें हैं और कितना विस्तार है। *आशय यह है कि लोक सौन्दर्य में इस गहराई के साथ विस्तार का भी अध्ययन किया जाता है।*

इस रूप में मार्क्सवाद आनन्द में नहीं, मनुष्य की सर्जनात्मकता और यथार्थ जगत में अपना सौन्दर्य देखता है। यह मनुष्य के *विशेष सम्बन्धों* में ही मनुष्य का सौन्दर्य देखता है। यह 'विशेष' ही वह माध्यम है जिसके सहारे मनुष्य प्रकृति को बदलता

है और संसार को मानवीय बनाता है। यह संश्लिष्ट है और समाज सापेक्ष भी जिस कारण से यह सौन्दर्य की किसी भी स्थायी अवधारणा को नकारती है। *डा0 राम विलास शर्मा* ने इसी आधार पर सौन्दर्य को समाज सापेक्ष माना है। सौन्दर्य प्रकृति में भी है, मनुष्य के मन में भी। उसकी अनुभूति व्यक्तिगत भी होती है, समाजगत भी।[46] इस समाज सापेक्ष कला, सौन्दर्य और सौन्दर्यानुभूति के सम्बन्ध में डा0 रमेश कुन्तल मेघ का विचार है कि, 'सौन्दर्य एक वस्तु का विम्ब है जो सौन्दर्यानुभूति का निश्चय करता है और बदले में सौन्दर्य वस्तु के विम्ब के निर्माण पर प्रभाव भी डालता है। इसलिए सौन्दर्यानुभूति सौन्दर्य को प्रभावित भी करती है। यह एक अन्योन्याश्रित रिश्ता है।[47] इसी क्रम में डा0 मेघ आगे लिखते हैं कि सौन्दर्यानुभूति, (क) कलात्मक सृजन के द्वारा यथार्थता या लोक-जीवन के उच्चतर धरातल को हासिल करती है तथा (ख) लोक जीवन में भी सौन्दर्य का संवर्धन करती है।

अब यदि हम 1936 के 'प्रगतिशील लेखक संघ' से मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का आरम्भ माने, तो इनकी सौन्दर्यगत अवधारणा का पता किया जा सकता है। प्रेमचन्द कहते हैं- "हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी व विलासिता के ढंग की थी।... झोपड़े व खण्डहर उनके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वे मनुष्यता की परिधि के बाहर समझते थे... उसकी दृष्टि अपनी इतनी व्यापक न थी कि जीवन संग्राम में सौन्दर्य का परमोत्कर्ष देखें। उपहास व नग्नता में भी सौन्दर्य का अस्तित्व संभव है। उसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री में है, उस बच्चों वाली गरीब रूप स्त्री में नहीं, जो बच्चों को खेत की मेड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है।...[48]

आगे सौन्दर्य रहता कहाँ है, के उत्तर में वे लिखते हैं- 'राजा के महल में, रंक की झोपड़ी में, गन्दे नाले के अंदर, उषा की लाली में, सावन भादों की अंधेरी रात में....[49]

सौन्दर्य के इस पक्ष को समझने के बाद यह कहना जरूरी रह जाता है कि इसी मार्क्सवादी दृष्टिकोण ने सौन्दर्य को महलों के बाहर ला खड़ा किया। कह सकते हैं कि मनुष्य के मन के बाहर भी आने की यही प्रक्रिया है। **सौन्दर्य का यह विकेन्द्रीकरण यूँ स्वतंत्र भारत में पंचायतीराज के विकेन्द्रीकरण के समानांतर विकसित हुआ है। यह बात दूसरी है कि पहला जहाँ साहित्य के स्तर पर उत्तरोत्तर सफल होता गया है दूसरा राजनैतिक स्तर पर असफल!**

प्रेमचंद के इस दृष्टिकोण पर टिप्पणी करते *डा0 नामवर सिंह* लिखते हैं कि 'प्रेमचन्द के कथन की ताकत यह है कि उन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों के जरिये सौन्दर्य का एक नया मेयार खड़ा किया जहाँ स्वयं उन्होंने कहा कि 'कशमेहयात में हुस्न का मेराजे है। दूसरे शब्दों में जीवन संग्राम में सौन्दर्य का परमोत्कर्ष है'।[50] इसी के आगे लिखते हैं कि 'सौन्दर्य की परिभाषा बदलने में प्रेमचन्द के बाद भी प्रगति हुई। नागार्जुन से लेकर धूमिल तक, यशपाल से लेकर ज्ञानरंजन तक कवियों, कथाकारों की एक अच्छी खासी परम्परा है जिसने सौन्दर्य सम्बन्धी पुरानी सुरुचि को तोड़कर नयी अभिरुचि के लिए सर्जनात्मक आधार प्रस्तुत किया। यदि ये सर्जनात्मक प्रयोग आज के मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के लिए कोई अर्थ नहीं रखते तो फिर वह निर्गुण सौन्दर्यशास्त्र भी व्यर्थ है। ब्रेख्त ने ऐसे ही सौन्दर्यशास्त्र को 'उत्पादन का शत्रु' कहा है।[51]

तब हमें यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि सौन्दर्य की आध्यात्मिक परिभाषा से अधिक हमें लौकिक परिभाषा की जरूरत है, क्योंकि तभी सौन्दर्य की कोई अर्थवत्ता है। इसके लिए सौन्दर्य प्रतीति व सामाजिक दृष्टि में कोई भेद नहीं है। *मुक्तिबोध* अपने निबंध 'सौन्दर्य प्रतीति व सामाजिक दृष्टि' में लिखते हैं कि 'जिस समाज में सौन्दर्य प्रतीति व सामाजिक दृष्टि में परस्पर विरोध माना जाता है अथवा दूसरे शब्दों

में इन दो के भीतर किसी गहरी आंतरिक एकता का अस्तित्व नहीं माना जाता वह समाज भी खूब है और वे दार्शनिक या विचारक भी खूब है, जो इन मान्यताओं को लेकर चलते हैं। आजकल की कृत्रिम विभाजन बुद्धि का यही फल है।[52] ये कवि, कहानीकार व उपन्यासकार की सौन्दर्य प्रतीति में उस सामाजिक दृष्टि को सन्निहित मानते हैं, जिसका उसने उन जीवन प्रसंगों के मार्मिक आकलन के समय उपयोग किया था। इस सामाजिक दृष्टि के अभाव में वे किसी भी सौन्दर्य दृष्टि को असंभव मानते हैं। उनके अनुसार 'किसी भी विषय के आत्मगत आकलन तथा संकलन करते समय, हमारे मन में उसकी विविध बातों का जो मूल्यांकन शुरु होता है वह अंत तक रहता है, जब तक कि वह सृजनशील प्रक्रिया समाप्त नहीं हो जाकती । सृजनशील प्रेरणा या बुद्धि स्वयं एक आलोचनाशील मूल्यांकन कारी शक्ति है, जो इस मूल्यांकन के द्वारा ही अपने प्रसंग को उठाती है और उसे कलात्मक रूप से प्रस्तुत करती है। बिना मूल्यांकनशील शक्ति के, कोई सृजन कम से कम साहित्यिक सृजन नहीं हो सकता चाहे वह प्रात:काल में गुलाब सूँघने का, प्रणयिनी के चुम्बन या कारखाने में हड़ताल का प्रसंग हो। जब जब ये चित्र सृजनशील प्रक्रिया का एक अंग बनेंगे, उनमें उचित काटछाँट व संकलन होता रहेगा। इसी पूरी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में हमारी मूल्यांकनकारी शक्ति बराबर इसी बात को लेगी जिसे हम मार्मिक समझते हैं।... अच्छे लेखक तब भी संतुष्ट नहीं होते और सोचते हैं बहुत कुछ कहना शेष रह गया है... मतलब यह कि जीवन प्रसंग में तल्लीनता प्राप्त कर हम उसमें इतने डूब नहीं जाते कि समाधि लग जाती है, वरन् मूल्यांकनकारी शक्ति के सचेत प्रयोग से हम उसके मार्मिक अंश उठाते हैं।[53]

इस तरह मुक्तिबोध ने सौन्दर्य, प्रतीति के विरुद्ध सामाजिक दृष्टि को तथा व्यक्तिविरुद्ध समाज की विचार शैली को माना है। वे सौन्दर्य प्रतीति को ऊपर से थोपी नहीं,

वरन् हमारे अन्तर का एक निज चेतस आलोक मानते हैं और जिस सामाजिक दृष्टि में यह निज चेतस आलोक नहीं है वह दृष्टि नहीं है। उनके अनुसार 'व्यक्ति व समाज का विरोध बौद्धिक विक्षेप है। जहाँ व्यक्ति, समाज का विरोध करता सा दिखायी देता है, वहाँ वस्तुत: समाज के भीतर की ही एक सामाजिक प्रवृत्ति, दूसरी सामाजिक प्रवृत्ति से टकराती है। वह समाज का अंतर्विरोध है, न कि व्यक्ति के विरुद्ध समाज का, या समाज के विरुद्ध व्यक्ति का।' समाज के अंतर्विरोधों का हवाला देते वे जोर देकर कहते हैं कि 'समाज के भीतर के अंतर्विरोधों के विकास की जो अवस्था विशेष होगी उसी के अनुसार सांस्कृतिक श्रेणी के व्यक्ति के सामने विषयों के विकल्प होंगें।' वे लिखते हैं कि 'उत्तर रामचरित के लेखक भवभूति के सामने वे विकल्प प्रस्तुत नहीं थे, जो आज हमारे सामने हैं। श्रृंगार के जमाने में उन्होंने नारी के भाग्य पर आँसू बहाकर करुण रस प्रधान साहित्य सिरजा। वह इसके आगे बढ़ ही नहीं सकते थे, क्योंकि समाज ने उसके आगे विकल्प प्रस्तुत ही नहीं किये थे' (उप0) इस तरह मुक्तिबोध साहित्य के सौन्दर्य को सामाजिक अंतर्विरोधों में देखते हैं और समाज जो हमें विकल्प देता है, उसमें से हमें अपने अनुसार एक विकल्प चुनना पड़ता है, जो विषय तक सीमित नहीं होता, वरन् दृष्टिकोणों, विचारधाराओं, रुखों, रवैयों व आदेशों तक जाता है। इस रूप में *लोक सौन्दर्य* का सच्चा उपासक स्वयं को सामाजिक प्रगति का, मानव मुक्ति की ओर खड़ा पाता है और सच्चा सौन्दर्य पारखी यही होता है। जब समाज में नारी केन्द्रित चिंतन था, तो उसमें भी सच्चा सौन्दर्य सहृदय नारी के करुण पक्ष पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। कालिदास व भवभूति में हम देख सकते हैं। भक्तिकाल में विकल्प जब 'धर्म के बीच था, तो लोकवादी कवियों ने भक्ति को लोकवाद से जोड़ने का प्रयास किया। रीतिकाल में सच्चा सौन्दर्य रीतिमुक्त कवियों में मिलता है जिन्होंने 'नारी' के लौकिक प्रवहमान स्वरूप की विविध अभिव्यंजनाएँ की और आधुनिक

काल में भी सारे विकल्पों के लिए बहुत सारे कवियों ने लोक जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति दी। इस तरह के लोगों के लिए मुक्तिबोध लिखते हैं कि 'इस पक्ष में हमें कलाकार के मानव व्यक्तित्व का हनन, सौन्दर्य की उपेक्षा और व्यक्ति की अवहेलना दिखायी नहीं पड़ती, क्योंकि ऐसे कवि को उसी राह पर सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है।' (उप0) मुक्तिबोध ऐसी सौन्दर्य दृष्टि के लिए प्राकृत होने की अवस्था को महत्वपूर्ण मानते हैं, क्योंकि 'हमारे संघर्ष भी प्राकृत हैं। करुणा और क्षोभ भी। हमारे लक्ष्य भी। वे लक्ष्य व क्षोभ जो हमें समस्त पीड़ित मानवता से एकाकार होने की तरफ प्रवृत्त करते हैं और उसके उद्धार का रास्ता भी ढूँढ़ते हैं' (उप0) इसके बाद वे बड़ी महत्वपूर्ण बात कहते हैं कि 'आज के जमाने में प्राकृत होना ही सबसे ज्यादा मुश्किल है किंतु जो इस वास्तविक सत्य और यथार्थ के अधिकाधिक समीप पहुँचेगा, जो इसका जितना मर्मिक आकलन व उद्घाटन करेगा, वही साहित्यकार समाज और जनता की अधिकाधिक सेवा करेगा और उसके लिए अनन्य सौन्दर्य की सृष्टि करेगा' (उप0)। **स्वयं मुक्तिबोध का और समूचे साठोत्तरी कविता का विकास इसी प्राकृत होते जाने की अवस्था का विकास है जिससे लोक सौन्दर्य का सृजन होता आया है, जिसे हम आगे विवेचित करेंगे।**

प्रख्यात मार्क्सवादी चिंतक *काडवेल* ने भी अपनी पुस्तक Further study in dying culture में सौन्दर्य पर इस दृष्टि से विचार किया है। उसने सौन्दर्य को सामाजिक उत्पाद कहा है और माना है कि व्यक्ति जिस वातावरण में सौन्दर्य का आस्वाद करता है, वह प्राकृतिक की अपेक्षा अधिक सामाजिक होती है। जैसे गर्मी स्थूल पदार्थों के संघर्ष से उत्पन्न होती है और उसके प्रकट होते ही उसमें एक नयी आभा, नयी गति आ जाती है उसी प्रकार सौन्दर्य समाज के ठोस तत्वों से उत्पन्न होकर नयी चेतना ग्रहण करता है। वह मानता है कि व्यक्ति व वातावरण की अंतर्प्रक्रियाओं में सौन्दर्य का जन्म होता है।

इस प्रकार हम देखते है कि सच्चा सौन्दर्य, मार्क्सवाद के अनुसार, सामाजिक प्रकियाओं की उपज है और यही वह सौन्दर्य है जो जड़ता के विरूद्ध है। यही दृष्टि आधुनिक समाज के लिए प्रासंगिक भी है क्योंकि अब सौन्दर्य मनुष्य की सिसृक्षा से जुड़ा हुआ है। इसी परिप्रेक्ष्य में *डा० मैनेजर पाण्डेय* लिखते है कि 'समकालीन संदर्भ मे नया सौन्दर्यशास्त्र विकसित करने का उद्देश्य है ऐसा सौन्दर्यशास्त्र विकसित करना जो वर्तमान भारतीय समाज, इतिहास व साहित्य के लिए प्रासंगिक हो, जिसमे हमारी कला परम्परा व कला चितंन की परम्परा के जनवादी तत्वों का समावेश हो, देशी-विदेशी भाववादी अध्यात्मवादी सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन के जीवन निरपेक्ष कलावादी मूल्यों के भ्रमों एवं भटकाओं से बचाव हो और जो समकालीन रचनाशीलता के लिए उपयोगी हो'[54]

इसके लिए वे *तीन* स्तरों के संघर्ष की बात करते है -

1. प्राचीन तथा आधुनिक भारतीय सौन्दर्यशास्त्रीय चिंतन की भाववादी अध्यात्मवादी परम्परा से, जिसके संस्कार अब भी हमारी कला चेतना में बसे है, और जनवादी साहित्य के सौन्दर्यबोध में बाधक होते है। समरसता में सौन्दर्य देखने वाली दृष्टि संघर्ष में सौन्दर्य नही देख पाती। पुराने संस्कारो से अवरूद्ध जड़ीभूत सौन्दर्याभिरूचि, नवीन कलात्मक अनुभवों को स्वीकार करने मे असमर्थ होती है। आत्मवादी आनंदमयता के आधार पर कविता में रस की आनंदमयता की खोज करने वाली कलानुभुति वर्तमान समाज की विरूपता का चित्रण करने वाली कला की उपेक्षा ही करेगी।

2. *पाश्चात्य प्रत्ययवादी सौन्दर्यबोध :* पश्चिम का सौन्दर्यशास्त्र दर्शन के अंग के रूप में विकसित होने के कारण प्रत्ययवादी दर्शन के तत्ववाद और मूल्य प्रणाली से गहराई तक प्रभावित है। इस प्रत्ययवादी आध्यात्मिकता का भी गहरा प्रभाव है। वस्तुवादी चिंतन इस प्रत्ययवादी दायरे से पूरी तरह मुक्त होने के बाद ही संभव हो सकेगा।

3- मार्क्सवाद चिंतन में समय समय पर उत्पन्न होने वाले भटकाव से।

इसी लेख में डा0 पाण्डेय आगे लिखते हैं कि इसी जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि के परिणाम से ही निराला व मुक्तिबोध जैसे रचनाकार अपने समय में उपेक्षित रहे। उनके अनुसार सौन्दर्यबोध मनुष्य के सामाजिक जीवन के विकास के साथ विकसित होता है। हमारी सामाजिक संवेदनशीलता व सौन्दर्य बोधीय संवेदनशीलता की परस्पर पूरकता से ही हमारी मानवीय संवेदनशीलता विकसित होती है। मानव चेतना को स्वार्थ के संकुचित घेरे से मुक्त करके उसे लोक चेतना से जोड़ने वाली मुक्तिधर्मी क्षमता के कारण ही हमारी कला सम्पूर्ण संवेदनशीलता का परिष्कार करती आदमी के इंसान बनाने का काम करती है' और निष्कर्ष स्वरूप लिखते हैं कि 'सौन्दर्य की सामाजिक सत्ता व सौन्दर्यानुभूति की सामाजिकता की व्याख्या करने वाला सौन्दर्यशास्त्र ही आज हमारे लिए उपयोगी हैं, न कि सौन्दर्य की व्यक्तिनिष्ठता व समाज निरपेक्षता को स्वीकार करके वाला साहित्य।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक समय में सौन्दर्यबोध मार्क्सवाद की इस दृष्टि के सर्वथा अनुकूल है। वस्तुत: मार्क्सवाद के अंतर्गत, संघर्ष ही सौन्दर्य है और यह संघर्ष बड़ा व्यापक अर्थ बोधक है। इसमें आत्म संघर्ष व वाह्य संघर्ष दोनों ही है। पारम्परिक सौन्दर्यबोध के लिए समरूपता, सममिति, लयात्मकता इत्यादि जरूरी तत्व माने जाते थे। यदि इनमें सब में संघर्ष का यह व्यापक तत्व जोड़ दिया जाय तो निश्चय ही यह आधुनिक समय में सौन्दर्य को उद्भाषित करने की स्थिति में होगा। वास्तव में संघर्ष शब्द में ही क्रियाशीलता, संवेदनशीलता, तीक्ष्णता, सामूहिकता, व्यापकता, सर्जनात्मकता (भविष्यात्मकता) नवीनता, सोद्देश्यता और तो और सामाजिकता के भाव अंतर्निहित हैं। यहीं संघर्ष तत्व, जब लोक तत्वों के रचनात्मक सम्पर्क में आता है

तो लोक सौन्दर्य का सृजन होता है।

4- सौन्दर्य तत्व-

अभी पिछले भाग में हमने देखा कि सौन्दर्य की पाश्चात्य और भारतीय अवधारणाएँ क्या हैं और यह भी कि मार्क्सवादी सौन्दर्य दृष्टि इनसे कितनी भिन्न है। उन समस्त परिभाषाओं और विवेचन-विश्लेषणों से यह बात तो स्पष्ट हो चली है कि सौन्दर्य वस्तुगत व आत्मगत दोनों ही है और यह विभाजन आज के समय में बहुत प्रासंगिक नहीं रह गया है। यह भी हमने देखा कि आज की मन:स्थिति के अनुकूल मार्क्सवादी सौन्दर्य दृष्टि ही है, क्योंकि इसके कारण सौन्दर्य, लोक मन से सम्पृक्त हो सका है। कह सकते हैं कि आधुनिक समय में मार्क्सवादी प्रभाव के कारण ही सौन्दर्य दर्शन की आकाशीय ऊँचाई से लोक मन की जमीनी यथार्थ पर उतरा। यह मार्क्सवादी धारणा किसी साम्प्रदायिक वादगत धारणा से सम्बद्ध न होकर समाज की उन सच्चाइयों से ही सन्नद्ध है, जो आज के मनुष्य को पारिभाषित करती है। यह वस्तुत: मानव रचित सौन्दर्य का केन्द्रीय भाव ही है जिसे आज के समय में बेहद महत्वपूर्ण माना गया है। चूँकि अब सौन्दर्य का स्रष्टा मनुष्य को ही माना गया है, इस कारण से अब वह ही अध्ययन के केन्द्र में है। वस्तुत: इस दृष्टि से सौन्दर्य का विश्लेषण करने पर सौन्दर्य तत्व का पता चल सकता है।

स्वयं *डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी* मनुष्य को सौन्दर्य का स्रष्टा मानते हैं। द्विवेदी जी के अनुसार सौन्दर्य के तीन भाग हैं।[55]

1- वे सौन्दर्य को सौन्दर्य न मानकर लालित्य मानते हैं, क्योंकि 'प्राकृतिक सौन्दर्य से भिन्न और उसके समानान्तर चलने वाला मानव रचित सौन्दर्य उनकी दृष्टि में विशेष महत्वपूर्ण है। लालित्य इसलिए कि यह मानव द्वारा लालित है। इससे स्पष्ट है कि

सौन्दर्य की सर्जना मानवीय है और यही सौन्दर्य का आधार है।

2- वे लालित्य मीमांसा को 'बंधन के विरुद्ध विद्रोह' मानते हैं। इस प्रकार, जैसा कि डा0 नामवर सिंह ने लिखा है, द्विवेदी जी की दृष्टि में कला और सौन्दर्य की सृष्टि विलास मात्र नहीं, बल्कि बन्धनों के प्रति विद्रोह में है जो शास्त्र समर्थित न होकर उनकी क्रांतिकारी सौन्दर्यदृष्टि का परिचायक है।

3- उनके अनुसार जैसा कि डा0 नामवर सिंह ने लिखा है, सौन्दर्य एक सर्जना है जो मनुष्य की सिसृक्षा का परिणाम है। डा0 द्विवेदी के शब्दों में- 'भाषा में, मिथक में, धर्म में, काव्य में, मूर्ति में, चित्र में, बहुधा अभिव्यक्त मानवीय इच्छा शक्ति का अनुपम विलास ही वह सौन्दर्य है, जिसकी मीमांसा का संकल्प लेकर हम आगे बढ़े हैं (7/34)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि डा0 द्विवेदी के अनुसार सौन्दर्य के तत्व हैं : मानव रचित, बंधन के प्रति विद्रोह और सिसृक्षा। यह बिल्कुल समाज सापेक्ष सौन्दर्य की अवधारणा के अनुरूप ही है। वस्तुत: यही सौन्दर्य, लोक से मिलता है और कविता में लोक सौन्दर्य की उत्पत्ति करता है। इसी से पता चलता है कि नये समाज का सौन्दर्य क्रियात्मक है और इसीलिए संघर्षशील भी। तब ठीक ही कहा गया है (और जैसाकि प्रगतिवाद ने किया) कि 'नये समाज में पलने वाला अथवा उसके साथ चलने का प्रयास करने वाला कवि नये उठते समाज में सौन्दर्य देखेगा। वह संघर्ष से भागकर किसी अतीत लोक के निष्क्रिय सौन्दर्य में अपना मुँह नहीं छिपायेगा।' इसलिए जैसाकि प्रसिद्ध रूसी दार्शनिक *चरनीशवस्की* ने कहा है- सौन्दर्य ही जीवन है।

इसी जीवनगत सौन्दर्य की अभिव्यक्ति *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल* में भी मिलती है। वे लिखते हैं कि "सच्चे कवि राजाओं की सवारी, ऐश्वर्य सामग्री में ही सौन्दर्य नहीं ढूँढ़ा करते। वे फूस के झोपड़ों, धूल-मिट्टी में सने किसानों, बच्चों के मुँह में चारा

डालते पक्षियों, दौड़ते हुए कुत्तों और चोरी करती बिल्लियों में कभी कभी सौन्दर्य का दर्शन करते हैं जिसकी छाया भी महलों, दरबारों तक नहीं पहुँचती[56]। इससे स्पष्ट है कि कवि का सौन्दर्यबोध जगत व जीवन के बीच के क्रिया कलापों पर अधिक टिका होता है और खोई हुई मनुष्यता को पकड़ने की चेष्टा करता है।' इसी मनुष्यता को समय समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य के साथ चली आ रही है और चलती रहेगी। जानवरों को इसकी जरूरत नहीं। (उप0)' इससे स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल भी सौन्दर्य को मनुष्यकृत मानते हैं। मनुष्यकृत का आशय यहाँ पर मनुष्य द्वारा पकड़ा गया सौन्दर्य ही है।

यह सौन्दर्य, काव्य के विशेष संदर्भ में वस्तुत: काव्य के माध्यम से होता है और यह इतना सशक्त होता है कि हम इसी के माध्यम से किसी वस्तु लोक में अर्थ भरते हैं और उसे सार्थकता (लोकानुभूति) प्रदान करते हैं। इस सौन्दर्य के संदर्भ में आचार्य शुक्ल ने अपना मत व्यक्त किया है। इसे वे मानव रचित मानते हुए भी इसके भीतरी व बाहरी भेद से वे सहमत नहीं हैं। यह उन्हें 'कृत्रिम' जान पड़ता है। उनके अनुसार-

'जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायेगी। रूप विवेचन से स्पष्ट है कि भीतर व बाहर का भेद व्यर्थ है। जो भीतर है वही बाहर है।[57]

इस रूप में आचार्य शुक्ल 'सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं, मन के भीतर की वस्तु है' के यूरोपीय कला-समीक्षा के सिद्दान्त का निषेध करते हैं और इसे भाषा का गड़बड़ झाला मानते हैं। उनके अनुसार जैसे 'वीर कर्म से पृथक वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर से पृथक सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं।' इस रूप में वे सौन्दर्य की सत्ता 'पदार्थ' में ही मानते हैं, किन्तु इसकी अनुभूति मन द्वारा होती है। इससे यह भी स्पष्ट है कि सौन्दर्य मन की ग्रहणशीलता पर भी आधारित होता है और शायद

इसीलिए ताजमहल की सुन्दरता बच्चों व बूढ़ों के लिए अलग होती है। कुछ रूप रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उनका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्त:सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।' (वही) इस प्रकार आकर्षण का कारण तो पदार्थ ही होते हैं, किन्तु इनकी अनुभूति 'मन' करता है। यही पर आचार्य शुक्ल ने एक बड़ी महत्वपूर्ण बात कही है कि जिस प्रकार यह जगत रूपमय व गतिमय है, उसी प्रकार मन भी। इसका अर्थ यह हुआ कि जैसे पदार्थ में 'रूप व गति' होती है, वैसे ही मन में। यहाँ यह महत्वपूर्ण है कि यह 'गति की संगति' ही, हमारे बढ़े सौन्दर्यबोध का परिचायक होती है अर्थात "सौन्दर्य की सत्ता में गति की महत्ता अनिवार्य है।" **पदार्थ को जितनी बारीकी से ही उसकी गति में पकड़ा जायेगा, उतनी ही हमारी परिष्कृत सौन्दर्य रुचि का पता चलेगा। इसी कारण हम कह सकते हैं कि आधुनिक समय में लोक के सन्दर्भ में लोक सौन्दर्य का अध्ययन हमारी परिष्कृत सौन्दर्य रुचि का अध्ययन ही है। अत: भाव परिष्कार सौन्दर्य का आवश्यक तत्व हुआ।**

कविता इसीलिए केवल पदार्थ की रूपकात्मक अभिव्यक्ति नहीं है क्योंकि तब वह चित्रण मात्र बनकर रह जाता है। निरा स्थूल चित्रण मात्र। इसी को शुक्ल जी कहते हैं कि 'कविता केवल वस्तुओं के रूप रंग में सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती प्रत्युत कर्म व मनोवृत्ति के भी अत्यंत मार्मिक दृश्य प्रस्तुत करती हैं' (वही)। रूप के साथ कर्म मनोवृत्ति का दृश्य ही लोक सौन्दर्य की उपस्थिति दर्शाता है। विकसित कमल रमणी के मुखमण्डल का सौन्दर्य रूपात्मक है, जबकि वीरता, त्याग, क्षमा आदि में कर्म मनोवृत्तियों का सौन्दर्य है। किन्तु यदि किसी पुरुष के मुखमण्डल की सुन्दरता

के साथ वीरता, धीरता, सत्य प्रियता, सक्रियता आदि भी सामने रख दिया जाय तो दोनों सौन्दर्य एक साथ उपस्थित हो जाता है। जैसाकि तुलसी के राम में मिलता है।' शुक्ल जी तभी कहते हैं कि 'जिस प्रकार वाह्य प्रकृति के बीच वन, नदी, पर्वत, निर्झर आदि की रूप विभूति से हम सौन्दर्य मग्न होते हैं, उसीप्रकार अंत: प्रकृति में दया, दाक्षिण्य, श्रद्धा-भक्ति आदि वृत्तियों की स्निग्ध शीतल आभा में सौन्दर्य को लहराता पाते हैं। यदि कहीं बाहर व आभ्यंतर का सौन्दर्य योग दिखाई पड़े, तो फिर क्या कहना।' (वही) इससे स्पष्ट है कि सौन्दर्य के लिए शुक्लजी वाह्य व आभ्यंतर का योग महत्वपूर्ण मानते हैं और इसी से भाव-परिष्कार होता है।

इससे स्पष्ट है कि सौन्दर्य कोई वस्तुनिष्ठ यथार्थ नहीं है। यह संवेदन है जो किसी वस्तु विशेष के सन्दर्भ में उद्भाषित होता है। इसीलिए यह गतिशील रहते जीवन से सम्पृक्त रहता है। सच्चा सौन्दर्य समष्टिगत भाव का उद्बोधन करता है जिसके लिए मनुष्य की चेतन क्रिया की आवश्यकता महसूस हुई। चूँकि चेतन क्रिया (चेतन लोक) गतिशील है, अत: सौन्दर्य भी गतिशील हुआ। जीवन की गतिशीलता को पकड़ने हेतु ऐसे ही गतिशील चेतन और सौन्दर्य की आवश्यकता मनुष्य को प्रारम्भकाल से होती आयी है। अत: क्रियाशीलता जीवन का अनिवार्य तत्व है। जीवन, साहित्य का। साहित्य सौन्दर्य का। अत: 'सौन्दर्य के प्रति जागरुकता जीवन की अनगढ़ता को व्यवस्था, विषमता को समरसता प्रदान करती है[58] स्वयं Herbert read कहता है कि 'जीवन के व्यापारों को दमित करना सौन्दर्य का उद्देश्य नहीं है वरन् उसके भौतिक प्रभुत्व को सृजनात्मक इच्छा शक्ति के वशीभूत करना है। मानव जगत का पुनर्निर्माण करना है....।[59]

इस रूप में सौन्दर्य का मूल्यांकन करने पर पता चलता है कि सौन्दर्य वाह्य नहीं, आंतरिक है। वह वस्तु व्यापारों की *आंतरिकता* में विद्यमान होता है। आशय यह

है कि जब कोई 'वस्तु' कला के स्तर पर उठती है, तो वह सामान्य अभिव्यक्ति से अलग होती है। यह अलगाव वस्तुत: वस्तु व्यापारों की भीतरी पकड़ के कारण ही संभव होता है और ऐसी क्षमता किसी कलाकार/रचनाकार में ही होती है। वस्तु-व्यापारों की यही सूक्ष्मता उसकी आंतरिकता है और इसी को ध्यान में रखकर आई0 ए0 रिचर्ड्स ने सम्प्रेषण की समस्या पर विचार करते हुए एक बड़ी पते की बात कही है कि सम्प्रेषण सौन्दर्य नहीं है।' अर्थात् कविता में केवल अपनी बात पहुँचा देने से कविता, कविता नहीं हो जाती। कविता को कविता बनाने के लिए उसे सौन्दर्य के धरातल तक उठाना होगा, क्योंकि यदि ऐसा नहीं हुआ तो समाचार पत्रों में छपने वाले विज्ञापन से लेकर आंदोलनात्मक नारे तक कविता माने जायेंगे। इस दृष्टि से केवल सामाजिक की अभिव्यक्ति ही लोक के लिए पर्याप्त नहीं है, उसमें भावगत कलात्मकता भी अपेक्षित है। अब सौन्दर्य क्या है जो किसी रचना को साहित्यिक स्तर प्रदान करती है- 'यह कविता में तब आता है जब वह सामान्य अभिव्यक्ति से अपने को पृथक कर एक 'रूप' प्राप्त कर लेती है 'और' सच्चा सौन्दर्य जीवन और उसके उन व्यापारों से जो पूरे समान को एक नये ढाँचे में ढालते हैं, अलग होने में नहीं, बल्कि उनसे अधिकाधिक घनिष्ठ होने में है[60]। यह घनिष्ठता ही आंतरिकता है।

अभी तक के अध्ययन से पता चलता है कि सौन्दर्य वस्तुत: एक प्रकार का 'समष्टिगत' भाव ही है, जिससे भाव-परिष्कार होता है। जिससे गत्यात्मकता आती है। जिससे संघर्ष की प्रेरणा मिलती है और यह सब दृष्टा के मस्तिष्क की उपज होता है, जो वस्तु (पदार्थ) से टकराते हुए, उसके गत्यात्मक स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। तात्पर्य यह है कि काव्य में सौन्दर्य की मात्रा, वस्तु द्वारा छोड़े गये 'प्रभाव' पर निर्भर करती है। यह प्रभाव भी दो प्रकार का होता है। पहला- प्रत्यक्ष (तात्कालिक), दूसरा- स्मृतिगत। यह 'स्मृतिगत' प्रभाव ही उस 'वस्तु' की काव्यात्मक अभिव्यक्ति संभव बनाता है, क्योंकि

इसी से हम 'वस्तु' को उसकी समस्त आंतरिकता में देख व समझ पाते हैं। इसके सार तत्व से अवगत हो पाते हैं। किन्तु इसके लिए प्रत्यक्ष अवलोकन का होना आवश्यक है। इस अवलोकन के बाद ही प्रभाव की स्थिति आती है, क्योंकि प्रभाव प्रत्यक्ष का नहीं होता, उसके स्मृति का ही होता है और जब वह होता है, तब सौन्दर्य का सृजन होता है। *इस रूप में लोक सौन्दर्य वस्तुत: लोक (प्रत्यक्ष) का प्रभाव ही है।*

इस दृष्टि से विचार करते हुए *डा0 रमेश कुंतल मेघ* लिखते हैं कि 'सौन्दर्य वस्तु में स्थित (निहित नहीं) होता है, क्योंकि हम नहीं अपितु वस्तु सुन्दर होती है। सौन्दर्य वस्तुगत है (हम से बाहर है) और प्रभाव की विशेषता है जो कला-वस्तुओं द्वारा उत्पन्न होती है'।[61] इस रूप में सौन्दर्य प्रभाव की विशेषता ही है। यह प्रभाव ही अनुभवादि है। अब चूँकि सामाजिक सांस्कृतिक वातावरण के परिवर्तन के साथ हमारी रुचियाँ भी परिवर्तित होती रहती है। अत: समाजोन्मुखी कवि में प्रेषणीयता की प्रमुखता के कारण सौन्दर्य अधिक मुखर रूप से सामने आता है, क्योंकि आत्मोन्मुखी कवि में शुद्ध अभिव्यक्ति की ही चेष्टा रहती है। इसी को संकेत करते डा0 मेघ ने लिखा है कि 'क्लासिकी सौन्दर्यशास्त्र ने शुद्ध सौन्दर्य की खोज में पहली भूल यह कि इसने असंख्य जनता में पनपते सौन्दर्य मूल्य पर ध्यान ही नहीं दिया अपितु केवल कलाकृतियों के विषयों व सौन्दर्य परिष्कार तक ही सीमित रहा। क्लासिकी सौन्दर्य शास्त्र ने जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया वे उन महान कृतियों पर आधारित थे, जिनकी रचना सदियों पूर्व हो चुकी थी और जिनके युग से सिद्धान्त रचना के युग की समाज व्यवस्था बदल चुकी थी।'...(वही) जाहिर बात है, नयी कलाकृतियों के मूल्यांकन में नये सौन्दर्यमूल्य की मीमांसा वाली बात थोड़ा जरूरी लगी और इसके लिए लोकाश्रित मूल्यों की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। यही कारण है कि एक ही सीता का बाल्मीकि, भास, भवभूति, तुलसीदास, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त द्वारा अंकन परिवर्तित सांस्कृतिक पैटर्न का

अनुमान देते हैं। इससे स्पष्ट है कि समय व समाज की स्थिति के अनुरूप इसका भी विकास होता रहता है और एक स्थिति आती है कि "कूड़ा करकट सब कुछ भू पर लगता सार्थक सुन्दर" (पंत)। यह सौन्दर्य प्रेमचन्द का सौन्दर्य है, जो मालती व होरी में समान रूप से देखते हैं। 'प्रेमचन्द' के लिए मालती का सौन्दर्य प्रसाधित रूप होरी के खेत से निकलते समय निकले श्रमकणों से अधिक सुन्दर नहीं है।[62]

इस तरह से देखने पर पता चलता है कि आरम्भ से लेकर आज तक सौन्दर्य का विकास अलौकिक से लौकिक सत्ता की ओर होता रहा है। लोकोत्तर से लोकोन्मुखी होते सौन्दर्य का कारण वस्तुतः संघर्ष की ओर होते विकास का ही परिणाम रहा है।

सौन्दर्य की यह 'प्रभाव' जैसी व्याख्या उसके शाब्दिक उत्पत्ति में भी देखी जा सकती है। सौन्दर्य शब्द सुन्दर से बनने वाली भाववाचक संज्ञा है। वाचस्पत्कोश के अनुसार 'सु' उपसर्गपूर्वक 'उन्द' में 'अरन' प्रत्यय के योग से 'सुन्दर' शब्द बना है जिसका अर्थ हुआ 'अच्छी तरह आर्द्र करने वाला'। शब्द कल्पद्रुम के अनुसार सुन्दर का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है- 'आर्द्री करोति चित्त मिति' (पंचमखण्ड पृ0 373) अर्थात 'जो चित्त को भली प्रकार आर्द्र करता हो।' लेकिन बाद में सौन्दर्य, सुन्दर का पर्याय न होकर बहुत सारे पर्यायों से जुड़ा। अत: उसका अर्थ भी बदला है। लेकिन प्रभाव वाला अर्थ भी प्रमुख रूप से माना जा सकता है।

वस्तुत: सौन्दर्य की अवधारणा हमारे लिए उसकी *गत्यात्मकता* से ही रही है। पक्षियों का उड़ना, बादल का घुमड़ना, पानी का बढ़ना, धूप का चढ़ना व उतरना आदि प्रकृति के गतिशील पक्ष हैं। ठीक यही स्थिति मनुष्य की भी है। ग्रामीण लोग शहर की ओर भाग रहे हैं और उस भागने में उनकी क्या स्थितियाँ है इसका जिक्र होना जरूरी है। इस कारण सौन्दर्य हमारे लिए एक प्रकार का दृष्टिबोध है,

जो लोक को उसके संगठनात्मक स्वरूप में देखता है। इसमें मनुष्य है, प्रकृति है, पशुपक्षी है। मनुष्य अपने परिवेश से कैसे जूझता है। यह यहाँ के केन्द्र में है। इस तरह से सौन्दर्य मूल्यपरक, दृष्टिपरक व वस्तुपरक होता है। *मूल्यपरक* सौन्दर्य का अर्थ है कोई वस्तु सुन्दर तभी होगी जब वह किसी आदर्श के अनुकूल होगी। *वस्तुपरक* सौन्दर्य से आशय है कि सौन्दर्य पूर्णत: तटस्थ होगा, स्थिर होगा। ऐसी वस्तु सभी को सुन्दर लगनी चाहिए। *दृष्टिपरक* का अर्थ है एक निश्चित दिशा की ओर गतिशील सौन्दर्य। अत: इसमें एक दृष्टि होगी, जो लोक के विस्तार में ही अपना मंगल देखेगी। यह आदर्श (मूल्य) व तटस्थता (वस्तु) दोनों से ही युक्त होगी। लोक के सन्दर्भ में हमें इसी सौन्दर्य की जरूरत है।

अब *सौन्दर्य की ऐतिहासिक स्थिति* पर थोड़ा विचार करना जरूरी हो जाता है। दरअसल यह तो समय की पुकार है कि सौन्दर्य का प्रवाह लोकोत्तर से लोकोमुखी होता गया है, क्योंकि जैसे जैसे मनुष्य के जाग्रत विवेक के कारण धर्म की सत्ता कम होती गयी है, वैसे वैसे 'वस्तु' का अपना सौन्दर्य बढ़ता गया है और स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी है कि अब 'वस्तु' के भीतर ही सौन्दर्य दिखायी देने लगा है जिसका आशय यह है कि सौन्दर्य मानव सृजित है, अत: ललित है और इसी कारण हर वस्तु का अपना सौन्दर्य है। अत: सौन्दर्य वस्तुगत है, वस्तुनिष्ठ नहीं जिस कारण से आज के समय में छोटी छोटी उपेक्षित चीजें भी हमारे अध्ययन के केन्द्र में आ गयी हैं और अपने प्रभाव के अनुसार काव्य में स्पंदित होती रहती हैं।

हिन्दी कविता के विधान में सौन्दर्य की सत्ता का यदि विवेचन करें तो पायेंगे कि मध्यकाल तक सौन्दर्य दृष्टि शरीर सौष्ठव के ऊपर नहीं उठ पायी थी, क्योंकि जहाँ कुछ जगह (भक्तिकाल) इसका आदर्श देवी देवता अवतारी पुरुष होते थे, दूसरी ओर रीतिकाल में अपनी अपनी प्रेयसियाँ। निश्चय ही भक्तिकाल का सौन्दर्यबोध मिथकों

में घुला मिला होने के कारण लोकधर्मी था, किन्तु इसका जो रुझान था, वह आदर्शवादी ही रहा, जिसे एक प्रकार का रीतिवाद (रीति के विशेष अर्थ में) ही कहा जा सकता है। सौन्दर्य का यह लौकिक विधान, अलौकिक सत्ताओं पर आधृत था। आधुनिक काल में मनुष्य ही सौन्दर्य के केन्द्र में आ गया जहाँ 'मानव तुम सब में सुन्दरतम' की बात कही जाने लगी। यहाँ पर जन जीवन की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृति हुई और सौन्दर्य का रूढ़ पक्ष समाप्त हुआ। एक प्रकार की 'गत्यात्मकता' इस सौन्दर्य के प्रमुख लक्षण के रूप में उभर कर सामने आयी। एक का सौन्दर्य दूसरे के लिए मानक नहीं बना और इस तरह हम कह सकते हैं कि **आधुनिक काल का पूरा विकास सौन्दर्य के मानकीकरण से निजात पाने की दिशा में होता रहा है और यह ध्यान देने की बात है कि जैसे जैसे हम इसमें सफल होते गये हैं, वैसे वैसे जीवन के वैविध्य का पता पाते गये हैं और यह वैविध्य अंततः वहीं जाकर ठहरता है जहाँ पर लोक मन का अक्षय भण्डार है।**

और इस रूप में यह सौन्दर्य इतना सजीव बन गया है कि हर 'वस्तु' हमारे लिए मूल्यवान बन गयी क्योंकि हम वस्तु को उसकी पूरी आंतरिकता में देखने लगे। इस रूप में सौन्दर्य तो 'विशेष' (वस्तु) ही हुआ है । हाँ, उसकी भावभूमि सामान्य रही। यही *'विशेषीकृत सामान्य'* है। यह 'सामान्यीकृत विशेष' नहीं है जैसा कि भक्तिकाल में होता है जहाँ सत्ता तो विशेष की ही रही थी। हाँ उसे सामान्य तक उतारा गया था। यह 'विशेषीकृत सौन्दर्य' ही, लोक से जुड़ने के बाद लोक सौन्दर्य का संचार करता है, क्योंकि यहाँ पर हर सामान्य उसके विशेष रूप में पकड़ा गया। सामान्यों का यह विशेषीकृत रूप वस्तुतः समाज की विविधता का लक्षण ही है, जो लोक के वैविध्य का पता देता है।

5- लोक सौन्दर्य-

पिछले अध्ययन में हमने *'लोक' के बदलते सौन्दर्य और 'सौन्दर्य' के बदलते लोक* के सन्दर्भ से यह स्पष्ट करने की कोशिश की कि आधुनिक काल तक आते आते 'लोक' का पारम्परिक अर्थ बदलकर वह 'सामान्य' से 'विशेष' पर बल देता है जिससे लोक जीवन के पारम्परिक अर्थों में बदलाव आता है और निरा मनुष्य पूरे अध्ययन के केन्द्र में हो गया है और कैसे सौन्दर्य, आधुनिक काल में आध्यात्मिक सत्ता से हटकर लोकोन्मुखी हो गया है जिसे हमें 'विशेषीकृत सामान्य' कहा है। वस्तुत: आधुनिक समय तक आते आते लोक और सौन्दर्य, दोनों ही अपनी बहिरंग अवस्थितियों से मुक्त होकर 'अभिकेन्द्रिक' (Contripetal) हो जाते हैं। हम समझ सकते हैं कि लोक जीवन की रूढ़िवादिता, विश्वास, अंध-परम्परायें, रीतियाँ इत्यादि यहाँ तक आते आते विलुप्त हो जाती है और रह जाता है केवल मनुष्य। पहले इन्हीं बहिरंग स्थितियों से उसका मूल्यांकन होता था, जो अपूर्ण था। अब इस मनुष्य से उन स्थितियाँ का मूल्यांकन होता है। ठीक यही घटना सौन्दर्य के साथ घटित होती है और तब काव्य में लोक सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है। वस्तुत: ये कुछ प्रेरक परिस्थितियाँ ही रही हैं कि आज के समय में लोक का प्रभाव व लोक के सौन्दर्य में कोई विशेष अंतर नहीं रह जाता क्योंकि प्रभाव ही वस्तुत: लौकिक है और लौकिक ही वस्तुत: प्रभाव है। इस तरह से लोक और सौन्दर्य आधुनिक समय में एक दूसरे के निकट आते हैं और यह प्रवृत्ति स्वतंत्र भारत की हिन्दी कविता में बढ़ती गयी है। (हम देखेंगे कि साठोत्तरी कविता में इसी कारण से यह प्रवृत्ति बढ़ती गयी है, क्योंकि समूचा काव्य, लोकानुभूति परक हो गया है। व्यक्तिनिष्ठता जैसा कुछ भी नहीं रहा। हाँ, कवि प्रतिभा के कारण दोनों की गुणवत्ता में अंतर होना दूसरी बात है।)

अब जहाँ तक लोक सौन्दर्य की बात है तो कविता में सीधे सीधे इसको परिभाषित

करना न केवल कठिन है, बल्कि अप्रासंगिक भी है, क्योंकि लोकमन से जुड़े कवियों का भी अपना अपना मूड होता है। कोई कुछ लेकर चलता है, तो कोई कुछ। फिर भी सामान्य बातचीत में हम कह सकते हैं कि यह एक प्रकार का 'विशेष प्रभाव' ही है जो लोक (वस्तु) द्वारा कवि के मानस पटल पर (प्रभाव) अंकित होता है और कविता में अवतरित होता है। चूँकि लोक सौन्दर्य की उत्पत्ति आधुनिक कविता के सन्दर्भ से महत्वपूर्ण हैं, अत: हम वर्तमान समय की परिस्थितियों को देखते हुए कह सकते हैं कि-

''लोक सौन्दर्य ग्रामीण और शहरी जीवन में रह रहे अपेक्षाकृत पिछड़ी जनता के जीवन व परिवेश (मिथक, घर-परिवार) के यथार्थ की काव्य में भावगत (इच्छाजन्य व सर्जनात्मक) अभिव्यक्ति है, जिसमें सामान्य के प्रतिष्ठा की संस्कारगत उत्कट लालसा बनी रहती है और साथ ही साथ ग्रास रूट पर धीमी गति से चल रही अमानवीकरण की क्रिया के विविध रूपों की पहचान संभव होती है और इससे मुक्ति की संभावना निर्मित होती है-

उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि ऐसा कविताओं में अभिव्यक्ति *संस्कारगत* होती है, जिससे उसमें कृत्रिमता न आने पाये जो कि सिद्धान्तों के कारण आ जाती है। *अमानवीकरण* से तात्पर्य निचले स्तर पर हो रहे हैं 'शोषण की पहचान' से है, जो स्वतंत्र भारत में अधिक हुआ है और इसकी पहचान करके इससे मुक्ति की इच्छा भी है, जिसके लिए 'संघर्ष' अपेक्षित है। इसके अलावा यह भी कि यह लोक गाँव व शहर दोनों में फैला हुआ है। यह अभिव्यक्ति *'भावगत'* है जो कि सर्जनात्मक है, जिसमें सामूहिकता की भावना है, जो कि अपने जैसे औरों के भी (इच्छाजन्य) कल्याण की कामना रखती है।

इस तरह से 'लोक सौन्दर्य, समग्र लोक को उसकी गतिशीलता में दर्ज करने

की प्रक्रिया है, जिसमें मनुष्य व प्रकृति, दोनों में जड़ता के प्रति एक प्रकार का विद्रोह है। यहाँ मनुष्य व प्रकृति दोनों की क्रियाओं के गतिशील बिम्ब है। इसी कारण, जैसा कि डा0 नामवर सिंह ने लिखा है, 'लोक सौन्दर्य में लोक संस्कृति के सभी क्रियमाण तत्व मिल जाते हैं।[63] इसमें 'संचय का विकार नहीं मिलता, आत्मदान का सहज रूप मिलता है।[64] अत: सात्विक सौन्दर्य वहाँ मिलता है, जैसा कि डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, जहाँ चोटी का पसीना ऐड़ी तक आता है और नित्य समस्त विकारों को धोता रहता है।

अब यदि हम 'लोक सौन्दर्य' की कुछ विशिष्टताओं की ओर ध्यान दें तो उसके निम्न रूप सामने आते हैं।

1- यह प्रभाव व गतिशीलता युक्त है-

वस्तुत: लोक का साधारण अर्थ प्रत्यक्ष हैं, किन्तु यदि प्रत्यक्ष को ही अलग अलग खण्डचित्रों में दिखाया जायेगा, तो कविता का कोई मतलब नहीं रह जायेगा क्योंकि फिर इससे इन प्रत्यक्ष के बीच कार्य करने वाले अनिवार्य अंत: सूत्रों का पता ही नहीं चलेगा जो कि किसी रचना का ध्येय होता है। अत: यहीं पर सौन्दर्य की बात आती है। प्रभाव की बात आती है। अभिव्यक्ति की बात आती है।

अत: यह तो स्पष्ट हुआ कि कविता में लोक सौन्दर्य के लिए देखना (प्रत्यक्ष) जरूरी है। लेकिन सबका देखना तो देखना होता नहीं, क्योंकि आँखें ठीक न हो, मन विचलित हो, तो देखने पर भी असर पड़ता है। इसके लिए जरूरी है कि अन्तर व बाह्य दोनों निर्मल हो, राग द्वेष से मुक्त हो, आदि। ऐसा देखना कवि होना है क्योंकि वह 'हृदय की मुक्तावस्था' होती है। उसमें भी अच्छा कवि ही यह कार्य कर सकता है क्योंकि देखे हुए के अलावा, उसे दिखाये जिस पर किसी और की नजर

नहीं है क्योंकि इसी कारण वह सर्जक कहलाता है, जो कि Construct करता है। इसी को डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी 'समग्रभाव की अनुभूति' कहते हैं। इसे वे दृष्टि सापेक्ष व दृष्टि निरपेक्ष दोनों मानते हैं। लालित्य तत्व में वे लिखते हैं "सुन्दर एक समग्रभाव की अनुभूति है। क्या वह दृष्टि सापेक्ष है? कुछ हद तक दृष्टि सापेक्ष है, इसमें कोई शक नहीं, किन्तु सब समय उसे ऐसा नहीं कहा जा सकता। कालिदास ने जब कहा था- "किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम" (कौन सी वस्तु है जो मधुर आकृतियों का मण्डन नहीं बन जाती) तो क्या उन्होंने यह नहीं कहना चाहा था कि सुन्दर सब अवस्थाओं में सुन्दर ही होता है। वस्तुत: कालिदास ने दो बातें लक्ष्य की थीं- (1) सुन्दर सबके लिए सुन्दर होता है (2) उसके लिए अधिक सुन्दर होता है, जिससे उसका लगाव होता है।' (पृ0 10) लेकिन डा0 द्विवेदी सौन्दर्य को दृष्टि सापेक्ष भी मानते हैं क्योंकि प्रभाव का अन्तर भिन्न होता है। वे सौन्दर्य का एक मानवीय स्तर मानते हैं, अर्थात समान भाव से समग्रता का बोध होना।' उनके अनुसार, जिसके चित्र में ममत्व का लगाव अधिक है, उसके लिए किसी वस्तु का आकर्षण अधिक हो सकता है।

इसको देखने से पता चलता है कि सौन्दर्य को वे समग्रता की अनुभूति मानते हैं और इसके दो रूप है[65]- *पहला* वह जो हमें अभिभूत करती है। जैसे लाल रंग का गुलाब का फूल। अब यहाँ पर गुलाब तो लाल है, किन्तु लाल तो और भी कई चीजें होती हैं। तब लाल से गुलाब का बोध कैसे होगा? यहीं पर भाषा की सीमा स्पष्ट होती है, अर्थात् जो प्रत्यक्ष (लोक) है, उसे कैसे पकड़ा जाय और तब *दूसरा* रूप दिखाई देता है, जिसमें पहली सीमा से निपटने के लिए मनुष्य की इच्छा, भाषा की सीमा से टकराती है। यह ही वास्तविक सौन्दर्य का सृजन करती है। इसी से वह प्रत्यक्ष के बीच एक अन्त: सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश करती है। अपनी

अनुभूति को जब भाषा सीधे प्रकट नहीं कर पाती, तो वह उपमा का, वक्रता का, हाथ के घुमाने आदि का सहारा लेती है जिसमें सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है क्योंकि एक वस्तु अन्य से जुड़कर भाव प्रकट करती है।

इस रूप में पहला जहाँ प्राकृतिक है, दूसरा मानवीय इच्छा शक्ति से उद्भूत है। पहला देश है, दूसरा काल है। पहला क्रिया है, दूसरी इच्छा है। पहली स्थिति है, दूसरी गति है। पहला केवल अनुभूति देकर विरत हो जाता है, दूसरा अनुभूति से उत्पन्न होकर अनुभूति प्रक्रिया का निर्माण करता है। काव्य में इसी मानवीय इच्छाशक्ति का अनुपम विलास ही सौन्दर्य है, ऐसा डा0 द्विवेदी मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि लोक सौन्दर्य में 'प्रत्यक्ष और मानवीय इच्छा शक्ति' का योग रहता है। यह सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक होता है। इस रूप में लोक अनुभूति का कारण है और अनुभूति की प्रक्रिया ही सौन्दर्य है।

तब यह ठीक ही है कि जैसे जैसे लोक का अर्थ बदलता है, उसकी अनुभूति प्रक्रिया में बदलाव आता है और जाहिर बात है यह स्थिति ही कविता में लोक सौन्दर्य की उपस्थिति को दर्ज करती है। स्वतन्त्र भारत की हिन्दी कविता में यह बदलाव प्रभाव व गति के रूप में बहुत स्पष्ट है, जहाँ लोक का चित्रण 'चित्र' रूप में नहीं होता क्योंकि ये कवि समझते हैं कि कविता फोटो नहीं है। उसमें चित्त का, इच्छा का भी समान योगदान होता है। अत: सौन्दर्य व्यक्ति निरपेक्ष हो नहीं सकता। इसमें व्यक्ति सापेक्षता का भाव स्वाभाविक रूप से विद्यमान है। एच0 गोम्ब्रिख ने अपनी पुस्तक Art and Illusion (पृ0 55) पर लिखा है- 'एक बार जर्मन चित्रकार लुडविग रिखतर अपने तीन मित्रों के साथ तिबोली की सुप्रसिद्ध सुन्दरस्थली को आँकने गया था। इन चित्रकारों के हाथों में कठोर नोक वाली पेंसिल थी। उसी समय कुछ फ्रांसीसी चित्रकार भी वहाँ आ गये। जर्मन चित्रकारों ने अचरज भरी दृष्टि से उनके सामानों

को देखा। इन चित्रकारों ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ उस रम्यस्थली की प्रतिकृति को आँका। उन्होंने एक एक घास का ब्योरेवार चित्रण दिया। चित्र में प्रस्तुत हो जाने के बाद चारों मित्र बारी बारी से मिलान करने लगे। उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि चारों मित्र भिन्न थे।[66] यह पढ़कर गोम्ब्रिख ने लिखा है कि उसे एमिला जोला की कला विषयक परिभाषा याद आ गयी जिसे जोला ने किसी कलाकृति को किसी विशिष्ट मानसिक शक्ति द्वारा देखा हुआ प्रकृति का एक कोना कहा था।

इससे स्पष्ट है कि सौन्दर्य कोई जड़ वस्तु नहीं है और चूँकि काव्य भी जड़ नहीं होता है अत: लोक सौन्दर्य जनित काव्य भी गतिशील होगा। यही कारण है कि हमारे अध्ययन का विषय लोक पक्ष (सामाजिक), लोक चेतना (दार्शनिक), लोक रूप (राजनैतिक) आदि न होकर लोक सौन्दर्य (साहित्यिक) ही है।

2- यह लोक मानस की भावगत अभिव्यक्ति है-

जिस तरह से लोक तन्त्र लोक मानस की राजनैतिक अभिव्यक्ति है, वैसे ही लोक सौन्दर्य लोक मानस की भावगत अभिव्यक्ति है। जैसे राजतन्त्र की तुलना में लोकतन्त्र का विकास अधिक जटिल और गूढ़ होता है, वैसे ही शिष्ट सौन्दर्य की तुलना में लोक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति अधिक जटिल होती है। जैसे लोक तन्त्र सत्ता के विकेन्द्रीकरण की ओर उन्मुख होता है, वैसे लोक सौन्दर्य साहित्य के विकेन्द्रीकरण को अपनाता है। और यह हमारे लिए अत्यन्त रोचक है कि स्वतन्त्र भारत में **जैसे जैसे सत्ता के विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती गयी है, वैसे वैसे साहित्य का विकेन्द्रीकरण (लोकोन्मुखता) भी बढ़ता गया है।** यह बात और है कि सत्ता के सन्दर्भ में यह छलावा है, तो साहित्य के सन्दर्भ में यथार्थ। साठोत्तरी कविता में लोक सौन्दर्य का यह मूल मन्त्र है। यह भी ध्यातव्य है कि जैसे लोक तन्त्र के विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया

में राज सत्ता से परस्पर संवाद-विवाद चलता रहता है और कई संरचनात्मक जटिलताएँ उत्पन्न होती हैं, वैसे साहित्य के विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया में "शिष्ट सत्ता से परस्पर संवाद होता रहता है और कई भावगत जटिलताएँ उत्पन्न होती है।" इस तरह से जहाँ पंचायती राज आज के लोकतन्त्र की अनिवार्यता है, वहाँ लोक सौन्दर्य भी कविता (साहित्य) की अनिवार्यता है। जैसे पंचायती राज (सार्वजनिक वितरण प्रणाली के विशेष संदर्भ से) कभी कभी छलावा हो सकता है और केवल कागजी प्रक्रियाओं में दिखायी पड़ता है। वैसे लोक सौन्दर्य भी छलावा हो सकता है और रचना प्रक्रिया में दिखायी देता रहता है।

(आज साठोत्तरी हिन्दी कविता में बहुत सारी कविताएँ इसी छलावे का संकेत देती हैं जिनमें लोक शब्दों को ठूँस ठाँस के भरे जाने की प्रवृत्ति है ताकि पंचायती राज के कागज की तरह, उन्हें कहीं से भी पकड़े जाने का खतरा उत्पन्न न हो। ऐसी स्थिति में हमारा यह दायित्व बनता है कि हम देखें कि ऐसे कवि कौन से हैं, जो समाज के लिए उपयोगी कम हैं और अपने लिए ज्यादा! ठीक पंचायती राज की तरह, जिनकी सामाजिक उपयोगिता पर ध्यान दिये जाने की जरूरत है। समय आ गया है इनकी दुकानों को हम निरस्त कर दें, जिनके घरों में सिर्फ 'तराजू' दिखायी देती है। सामान गायब रहता है। कुछ कुछ 'थोड़े दिन बाद' जैसा। कहना न होगा कि आज के बहुत से कवि इसी दुकान को चलाने के लिए हाथ-पाँव मारा करते हैं और जैसे जैसे असफल होते हैं वैसे वैसे समीक्षकों/आलोचकों के फेरे लगाया करते हैं।)

3- यह लोक संस्कृति का विकसित सौन्दर्यबोध है-

हिन्दी साहित्य का इतिहास वस्तुत: संप्रभु संस्कृति एवं अधीनस्त संस्कृति के बीच

की अन्तर्क्रियाओं का इतिहास रहा है और अधीनस्थ संस्कृति जब जब कमजोर हुई है, तब तब उसमें रहस्यात्मक प्रतीकात्मकता, गूढ़ता का आशय बढ़ता ही गया है और जब जब वह अपने को सबल पायी है तब तब उसमें तीव्रता और पारदर्शिता की झलक मिलती गयी है। लोक संस्कृति के विकास का इतिहास भी यही है और लोक सौन्दर्य का आशय भी इसी से खुलता है जिसमें सौन्दर्य उत्तरोत्तर संघर्ष की ओर बढ़ता है। लोक का यह संघर्षशील पक्ष आधुनिक कविता में 'निराला' से आरम्भ होकर उत्तरोत्तर बढ़ता गया है क्योंकि राजनैतिक व्यवस्था ने भी 'लोक' की मजबूती को बढ़ाने में मदद की है, जिसका ऊपर हम उल्लेख कर चुके हैं।

इस रूप में लोक सौन्दर्य वस्तुत: लोक संस्कृति का विकसित सौन्दर्य बोध ही है। इसी कारण से, आज की पूँजीवादी व्यवस्था में लोक संस्कृति के पुराने रूपों की अनुपस्थिति और नये की उपस्थिति पायी जाती है। उदार पूँजीवाद जब लोक तन्त्र के विकेन्द्रीकरण से मिला, तब लोक संस्कृति के विकास हेतु बदले संदर्भों के अनुकूल स्थितियाँ मिली जिससे उसमें गत्यात्मकता आ गयी।

इस रूप में यह लोक सौन्दर्य विकासशील लोक संस्कार पर ही आश्रित है। यह संस्कार परम्परागत होकर भी रूढ़ि का पर्याय नहीं है। यह गतिशील, व प्रसार-प्रवण है। आनन्द व मंगल उसके ध्येय है किन्तु यह व्यक्तिमानस का न होकर लोक मानस का ही होता है और इसलिए उसमें आनन्द की साधनावस्था (करुणा) व आनन्द की सिद्धावस्था (प्रेम) दोनों के रूप मिलते हैं। इसी कारण से खेतों में, झिलमिलाती धूप में, भीगते हुए वर्षा में, ठिठुरते हुए जाड़ों में, गावों चौपालों में, सुलगते हुए कौड़ों के चारों बैठे लोगों तक में यह सौन्दर्य दिखलायी पड़ता है, जिनमें प्राकृत होते जाने की अवस्था का विकास दिखलायी पड़ता है।

4- यह संघर्ष प्रधान है-

दरअसल लोक मानस की दो महत्वपूर्ण विशेषताएँ, उछलती कूदती, समयानुसार बदलती, अभी तक चली आई हैं-

1- संघर्ष प्रधान विद्रोही चेतना

2- चरित नायकत्व, जिसमें पौराणिक व कल्पित दोनों हैं।

इसे हम आदिकाल के सिद्धों-नाथों व रासों काव्यों में, रीतिकाल के दरबारी कवियों में और आधुनिक काल के प्राय: हर युग में हम कम-अधिक मात्रा में पा सकते हैं। संघर्ष प्रधानता तो रीतिकाल को छोड़कर सदैव विद्यमान रही है। चरित काव्यात्मकता हर समय में रही है। किन्तु आधुनिक समय में, हिन्दी कविता में यह संघर्ष जहाँ दो स्तरों पर दिखायी देता है। आत्म-संघर्ष व बाह्य संघर्ष, वही चरित नायकत्व का रूप सामान्य मनुष्य अपने विशेष संदर्भ में लेता है। इस तरह से यह प्रवृत्ति बढ़ती गयी है और साठोत्तरी हिन्दी कविता में दोनों की लोकोन्मुखी रुझान का पता चलता है। यह कहना यहाँ पर अप्रासंगिक न होगा, कि निराला से ही इसका आरम्भ हो चुका था और उसमें भी उनकी कविता तोड़ती पत्थर विलक्षण है, जिसका अलग से विश्लेषण किया जा रहा है।

इस तरह से लोक सौन्दर्य से आशय हमारा किसी भी कविता में पाई जाने वाली निम्नलिखित विशेषताओं से होता है-

1- संघर्ष प्रधान जीवन की स्वीकृति

2- स्थानीयता का रंग

3- यथार्थ से सीधा साक्षात्कार

4- मानवीय शोषण के जटिल रूपों की पहचान

5- जीवन के प्रति आस्थावादी दृष्टिकोण

6- प्राकृतिक सौन्दर्य की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति

7- लोक रूढ़ि को तोड़ने का प्रयास (प्रकृति में जैसे निराला व नागार्जुन ने तोड़ा)

8- ऐन्द्रिक ताप व वैचारिक तनाव

9- कर्म सौन्दर्य की पहचान

10- विकसित सौन्दर्यानुभूति (स्थूल + गति)

इसके अलावा कुछ विशेष लक्षण हैं-

1- चरित प्रधानता- पहले जहाँ महान पुरुष इसके केन्द्र में होते थे, साठोत्तरी में आम आदमी होता है। उदाहरण के लिए निराला की 'पत्थर तोड़ती' युवती और त्रिलोचन की 'चम्पा'।

2- प्रेम प्रसंग के धरातल पर जन साधारण के भाव संवेदन से युक्त होता है, काम क्रीडा वृत्ति की उन्मुक्तता न होकर थोड़ी नियन्त्रित मर्यादा होती है, स्थूल विवरण न होकर सूक्ष्म संकेत होते हैं। कुल मिलाकर स्वच्छन्दता तो होती है, उन्मुक्तता नहीं। नागार्जुन की कविता 'सिंदूर तिलकित भाल' इसका अच्छा उदाहरण है।

इस तरह हम देखते हैं कि लोक सौन्दर्य लोक जीवन की बदली मन:स्थितियों और उसकी काव्य में सर्जनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में आता है। मतलब चरित्र व प्रकृति दोनों ही गतानुगत से मुक्त होकर आते हैं, जिसमें अभिजनवादी दृष्टिकोण का नकार है। यह सब 'निराला' में एक साथ मिलता है, जहाँ कविता खुलती नहीं, बढ़ती है। इस रूप में कविता की जीवन से तदात्मकता ही कविता में सौन्दर्यवृद्धि का कारण हुआ करती है। इसीलिए लोक जीवन की कविता में जितनी अनगढ़ता होती है, उतनी

ही सामंजस्यता भी होती है। जितना खुरदुरापन, उतनी चिकनाई। इस तरह की कविताओं में एक प्रकार का 'निजत्व' (Involvement) होता है जिस कारण से कविता का लौक-सौन्दर्य निजत्व के सौन्दर्यबोध से भी जुड़ जाता है। इसे हम कबीर, जायसी, तुलसी में देख सकते हैं तो आधुनिक समय के निराला, मुक्तिबोध, धूमिल आदि में। इन कवियों में 'निर्वाह' की जगह 'निर्माण' की चेष्टा अधिक दिखायी देती है।

इसी 'निर्माण' के कारण कविता में 'सामुदायिकता' की भावना भी जन्म लेती हैं जिसमें जनोन्मुखी स्वर, आशावादिता, क्रांतिदर्शिता, संघर्षधर्मी चेतना के साथ 'जनभावना' का सामूहिक स्वर स्पष्ट होकर लोक सौन्दर्य का सृजन करता है।

अब यदि हम साठोत्तरी हिन्दी कविता के संदर्भ में देखें, तो पायेंगे कि बढ़ते सौन्दर्यबोध का पहला परिणाम तो यही रहा कि कविता में अश्लीलता कम होती गयी हैं, क्योंकि इसी लोक सौन्दर्य युक्त कवियों ने अकवितावादियों से संघर्ष किया। इस रूप में इन कवियों ने लोक का सहारा लिया और लोक सौन्दर्य की निष्पत्ति से कविता को सीधे निराला से जोड़ दिया। अत: लोक सौन्दर्य सम्प्रेषण को बढ़ाता है, कविता को देश व काल दोनों में बढ़ाता है और अश्लीलता को कम करता है। अब चूँकि साठोत्तरी के इन लोक धर्मी कवियों के प्रेरणा स्रोत 'निराला' रहे हैं। अत: उनकी कुछ कविताओं के माध्यम से लोक सौन्दर्य को समझा जा सकता है।

इस दृष्टि से निराला की कविता ***'वह तोड़ती पत्थर'*** बेहद मार्मिक कविता बन पड़ी है, जिसको यहाँ पर विश्लेषित करते हुए यह देखने का प्रयास करेंगे कि किस तरह इसमें लोक सौन्दर्य की सभी विशेषताएँ अंतर्भुक्त है।

यह कविता 'तोड़ती पत्थर' सन् 1937 की 4 अप्रैल को लिखी गयी है। यह 'द्वितीय अनामिका' में संकलित है। कविता यूँ है-

वह तोड़ती पत्थर

देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर-

वह तोड़ती पत्थर।

कोई न छायादार

पेड़ वह जिसके तले बैठी हुयी स्वीकार,

श्याम तन, भर बँधा यौवन

नत नयन, प्रिय-कर्म-रत-मन,

गुरु हथौड़ा हाथ,

करती बार बार प्रहार-

सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।

चढ़ रही थी धूप,

गर्मियों के दिन

दिवा का तमतमाता रूप;

उठी झुलसाती हुयी लू

रूई ज्यों जलती हुई भू,

गर्द चिनगी छा गई

प्राय: हुई दुपहर-

वह तोड़ती पत्थर।

देखते देखा मुझे तो एक बार

उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार-

देखकर कोई नहीं

देखा मुझे उस दृष्टि से

जो मार खा रोई नहीं,

सजा सहज सितार

सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार

एक क्षण के बाद वह काँपी सुघर

ढुलक माथे से गिरे सीकर

लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा-

'मैं तोड़ती पत्थर'।

इस कविता का विश्लेषण यदि लोक सौन्दर्य की दृष्टि से किया जाय तो कुछ विशेष बातें स्पष्ट होंगी। हम कह आये हैं कि लोक सौन्दर्य का आशय लोक जीवन के सौन्दर्य से ही है जिसके व्यक्त होने के लिए विविध माध्यम की जरूरत होती है। कुछ 'सौन्दर्य', 'श्रम' के माध्यम से व्यक्त होता है, कुछ 'प्रकृति' के माध्यम से, कुछ 'प्रति कृति' के माध्यम से, कुछ 'चरित्रों' के माध्यम से और कुल मिलाकर 'कर्म' माध्यम से। इस कारण सौन्दर्य चाहे जिस माध्यम से व्यक्त हुआ हो, वह कुछ न कुछ कर रहा होता है जो, उसकी आत्यंतिक 'गतिशीलता' को व्यक्त करता है। यह कुछ 'प्राप्ति' का भाव जागृत करता है जो कि समूहगत व स्थायी होता है।

अब यदि इन बिन्दुओं को 'तोड़ती पत्थर' कविता से जोड़े तो हम इसमें प्राय: सभी विशेषताओं को देख व समझ सकते हैं। कुछ सूत्र द्रष्टव्य है-

1- यहाँ चरित्रों का लौकिकीकरण है- हिन्दी कविता के लोकधर्मी स्वरूप का मूल्यांकन करते हमने यह बात उठाई है कि निराला 'भाव' के स्तर पर कबीर के और 'सम्प्रेषण' के स्तर पर तुलसी के निकट पहुँचते हैं और इस कारण संभव है कि उनमें किसी 'तीसरी परम्परा' के गुण-सूत्र मौजूद हों। यह बात निराला की छोटी कविताएँ और उसमें भी 'तोड़ती पत्थर' कविता पर अक्षरश: लागू होती है क्योंकि यह वह कविता है जो परम्परा से चले आते आध्यात्मिक/पौराणिक चरित्रों का लौकिकीकरण करती है।

बल्कि यह कि आध्यात्मिक व मिथक चरित्रों को सामान्य आदमी के स्तर तक पहली बार लाती है। यूँ अपभ्रंश के धनपाल (भविसयत्त कहा) की वाणी निराला में थोड़ा परिष्कृत होकर वर्षों के लम्बे अंतराल के बाद पहली बार की इस कविता में गूँजती है, जिसका वेग आगे की कविता में बढ़ता ही जाता है।

इसमें भी 'वह' का प्रयोग चरित्र की व्यापकता का सूचक बनकर आया है। उन्हें 'यह' से अलग करने के लिए 'वह' का प्रयोग जरूरी लगा। जब वे कहते हैं 'वह तोड़ती पत्थर', तब पहली ही पंक्ति में एक 'टीस' उठती है कि एक मजदूर महिला 'वह' पत्थर तोड़ती रही है और इधर तुम (यह) रोटी तोड़ रहे हो। कुर्सी तोड़ रहे हो। यह 'वह' कर्म सम्पृक्त भी है, क्योंकि निराला समझते थे कि मनुष्य की मुक्ति के लिए 'कामना' नहीं 'कर्म' चाहिए। 'भावना' नहीं 'भाव' की जरूरत है और इसी कारण से निराला 'वह' का हथौड़ा 'यह' पर बजवाते हैं। इस तरह से इस कविता में झुलसती हुई 'लू' में 'वह' (जन) के माध्यम से हुलसती हुई 'यह' (अभिजन) पर करारी चोट की गई है और अंत तक इस कविता का वह, 'मैं' में बदल जाता है, जिसका विकास सामान्य के विशेष चरित्रों बलई, मसुरिया से होता बलदेव खटिक (लीलाधर जगूड़ी) और 'खुँटकूढ़वा' (ज्ञानेन्द्रपति) तक में देखा जा सकता है। इसे ही मैंने 'विशेषीकृत सामान्य' कहा है और इसी माध्यम से 'लोक सौन्दर्य' की उत्पत्ति होती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'श्रम सौन्दर्य' के माध्यम से ही यहाँ लोक-सौन्दर्य उत्पन्न हुआ है।

2- इसमें संघर्ष-प्रधानता भी है- वस्तुतः कविता के अंत में 'मैं तोड़ती पत्थर' कहकर निराला ने 'मैं' पर जोर देते एक श्रमजीवी महिला के स्वाभिमान और संघर्षपूर्ण जीवन को दिखाने की चेष्टा की है जहाँ कर्म की रक्षा का भाव है, आशावादी संदेश है, ठंढे पड़े उस समय (30 का दशक) के जीवन में यह कविता उस 'पत्थर' की

तरह आई है, जिसके 'रिपल्स' से विक्षोभ पैदा होता है जिससे संघर्ष (भावी जीवन) का मार्ग प्रशस्त होता है। निराला के इस 'कर्म' में संघर्ष है, आत्म-विश्वास, स्वाभिमान व उल्लास है। यहाँ लोक का मूर्त रूप है, जहाँ व्यक्ति की सत्ता का प्राधान्य है। यह ध्यान देने की बात है कि यह कविता परतंत्र भारत में लिखी गयी है, जिस कारण से सामने 'तरु-मालिका अट्टालिका' में अंग्रेज शासकों पर प्रहार है और यह सामंतशाही पर भी उतना बड़ा आघात है। कविता के विधान में संघर्ष का यह मर्म बेहद मार्मिक है।

3- शारीरिक सौन्दर्य की दृष्टि से भी निराला की इस कविता का सौन्दर्य द्रष्टव्य है। युवती 'श्याम तन' है, पर 'भर बँधा यौवन'। इतना ही नहीं, वह 'नत नयन, प्रिय कर्म-रत-मन' है। इससे हमारी समूची काव्य परम्परा का पता चलता है। शारीरिक सौन्दर्य को लोक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना निराला जैसी प्रतिभा के बूते की ही बात थी। यह 'यौवन' कहीं भी कमजोर नहीं है। क्योंकि 'गुरु हथौड़ा भार' है। जिसके द्वारा 'करती बार बार प्रहार' है। नारी को केन्द्र में लाने का कारण भी नारी शक्ति की पहचान कराना है अन्यथा किसी पुरुष को भी वे रख सकते थे। *इसमें वस्तुत: लोक रूढ़ि को तोड़ने का एक प्रयास मिलता है, क्योंकि नारी को अब तक अत्यंत कोमल माना जाता रहा है।* आप पायेंगे कि अपभ्रंश के धनपाल कृत 'भविसयत्त कहा' जैसे कथा काव्य में भी नारी का प्रायोजन उसे उपेक्षित वस्तु के रूप में ही दिखाना रहा है, हालाँकि यह अपभ्रंश की अकेली कृति है, जिसमें सामान्य आदमी 'वणिक' की कथा को विषय बनाया गया है। इसमें नारी शोषण के विविध पक्षों की पहचान कराई गई हैं। यह जरूर है कि एक प्रकार से पुरुष के चुनौती की स्वीकार भावना के साथ नारी की विजय भावना का संकेत भी है, किंतु 'भविसयत्त कहा' में यह नियतिवादी होकर ईश्वरोन्मुखी हो जाती है, जैसा बाद

के भक्तिकाल में भी दिखायी पड़ता है।

आधुनिक समय में निराला ने नारी की इस नियतिवादी धारणा को उलटकर भाग्य को चुनौती देने वाली भावना का संचार कराया है और 'कर्म-रत-मन' के माध्यम से उसकी विजयी भावना का उद्घोष किया है। यह वस्तुत: लोक रूढ़ि के तोड़ने का परिणाम ही रहा है।

4- *लोक रूढ़ि को निराला ने* प्रकृति *के चित्रण में भी तोड़ा है*- और यह भी इस कविता में द्रष्टव्य है। इस कविता का चरित्र-संघर्ष, उसके प्राकृतिक सौन्दर्य से और भी तीव्र होता है। यहाँ 'प्रकृति' की गर्मी, छाँव की ओर (चल छैंया छैंया छैंया की मुद्रा में) नहीं ले जाती, बल्कि युवती को, नारी को, उसके संघर्ष को तीव्र करती है। यहाँ समूची ग्रीष्म ऋतु, कविता के 'मूड' से जुड़कर उसे और भी गतिशील बनाती है। परिवेश यहाँ बाधक नहीं है। प्रकृति सौन्दर्य का यह विलक्षण उदाहरण है जिसके बारे में दूधनाथ सिंह ने लिखा है कि 'ग्रीष्म को अपनी अनुभूतियों से तद्वत जोड़ देने या उसकी विनाश लीला या उसके द्वारा संघर्ष को अधिक तीखा बनाने, उसे धार देने और उसके द्वारा फेंकी गई चुनौती को सहज, मूक भाव से स्वीकारने और झेलने का भाव, निराला की इस कविता की विशेषता है...'[67] तब यह ठीक ही है कि इस कविता के कुछ शब्द बेहद महत्वपूर्ण हैं जैसे 'तमतमाता' जिसमें धीरे धीरे क्रोध के आवेग से निकलती हुई, बढ़ती जाती चेहरे की लालिमा ही व्यक्त हुई है'... (वही) इस तरह कर्म की तत्परता के कारण ग्रीष्म का यह चिलचिलाता रूप नगण्य है।

दरअसल प्रकृति का चित्रण तो बहुत कवियों में मिलता है किन्तु लोक जीवन को उभारने के क्रम में उकसाती हुई प्रकृति का रूप बहुत कम कवियों में दिखाई देता है। निराला की प्राय: कविताओं में प्रकृति, किसी न किसी वस्तु यथार्थ से जुड़कर उसकी गति को तीव्रतम बनाने के लिए सहायक होती है। वास्तव में 'प्राकृतिक सौन्दर्य

के लिए शब्द तांडव, सोचे हुए जीवन दर्शन, शब्द चित्रों का बुना हुआ लम्बा जाल, विशेषण जड़ाव आदि की जगह मानवीय संवेदना की सहज, असीखी, विवश अनुभूति, तात्कालिक मानवीय समस्या का संदर्भ और मौलिकता के साथ गतानुगतिक से मुक्त नितांत अछूते धरातल के संदर्भ को उठाये जाने की जरूरत होती है', (वही) जो निराला की कविताओं की अपनी विशेषता है। इसी प्राकृतिक सौन्दर्य में सच्चा लोक सौन्दर्य होता है। वह सौन्दर्य क्या, जिसमें जीवन न हो! जीवन का संघर्ष न हो! संघर्ष की भंगिमा न हो! भंगिमा की अनुभूति न हो! अनुभूति की अभिव्यक्ति न हो! अभिव्यक्ति की मौलिकता न हो!

5- *और यह सब इस कारण संभव होता है कि निराला की दृष्टि हमेशा 'कर्म सौन्दर्य' पर टिकी रहती है।* यह ध्यान देने की बात है कि इस कविता ने कर्म: दो बार आया है। पहली बार- 'नत नयन प्रिय कर्म-रत-मन' आता है जहाँ 'कर्म की प्रक्रिया का भाव' छिपा रहता है और आखिर में भी कर्म आता है। 'लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा।' अर्थात् कर्म की निष्पत्ति कर्म में ही होती है। यही प्रक्रिया है, यही परिणति। आप ध्यान दीजिए, यह कर्म हथौड़े की तरह चलता है, बल्कि हथौड़े के साथ चलता है। बार बार प्रहार करता है- 'करती बार बार प्रहार' और अंत में इस 'बार बार' पर जोर देने के लिए 'फिर' शब्द आता है- 'तीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा।' मतलब कि इस कर्म में त्वरा है, गति है, जड़ता के प्रति गति का विद्रोह है। सत्ता से शक्ति का संघर्ष है। इस कर्म में हाय! हाय! की चीत्कार न होकर, वाह! वाह! की प्रेरणा है, बावजूद इसके कि वहाँ कोई छायादार (छत्र छाया) नहीं है।

कविता में युवती 'ढुलक माथे पर गिरे सीकर' के साथ कर्म में लीन हो जाती है। सहानुभूति कहीं नहीं है। ठीक है कि वह पुष्ट यौवना है किंतु उसकी जवानी

साज-शृंगार के लिए नहीं है। उसमें जीवन की ललक है। आत्म-सम्मान का आत्म-संयत भाव है। किसी ब्यूटी-पार्लर में जाने के बजाय वह जीवन में घुसती है। निराला यहाँ जीवन में संघर्ष और संघर्ष मैं सौन्दर्य देखते हैं। स्वयं 'कुल्लीभाट' (1939) में इस जीवन का विस्तार है। एक तरह से यह, सामंती प्रवृत्ति, जिसमें नारी को सामंत लोग, उसके काम न करने के बदले कुछ पैसा दिखाकर यौन शोषण करते हैं, के खिलाफ नारी का विद्रोह भी है, जिससे इस कविता में शक्ति की 'लोकोन्मुखता' के लक्षण मिलते हैं। आगे यही हथौड़ा, हिन्दी कविता का केन्द्रीय संवेदन बनता है।

6- इस कविता में ग्रास रूट पर चल रहे अमानवीकरण की प्रक्रिया का भी पता चलता है। साथ में उससे मुक्ति का प्रयास भी मिलता है।

7- और तब हम कह सकते हैं कि यह कविता तो हिन्दी काव्य परम्परा के इस संधि स्थल पर है, जहाँ लोकधर्मी चेतना का स्वरूप पहली बार मूर्त होता है और साधारण आदमी का स्वर सामान्य के धरातल पर संयत भाव से सुनाई पड़ता है। निराला ने जिस दिन अपनी आँख झुकाकर उस युवती को देखा, उसी दिन पहली बार सामान्य आदमी ने आँख उठाकर ऊपर देखने का साहस किया। यूँ निराला व युवती की आँख के पश्चात मिलन (देखते देखा मुझे तो एक बार) में पहली बार मनुष्य का मनुष्य से रिश्ता भी कायम हुआ।

और यही वह आधार है (मनुष्य का मनुष्य से रिश्ता) जहाँ नवजागरण का कार्य अपने पूरे उभार पर होता है। इस रूप में निराला हिन्दी नवजागरण के परिपूर्णता के भी कवि ठहरते हैं।

इस रूप में ही यदि कोई कविता आती है, तो वह लोक सौन्दर्य की दृष्टि से हमारे विश्लेषण के केन्द्र में होगी। कहना न होगा कि निराला से आरम्भ हुए लोक

जीवन के इस सौन्दर्य का विकास बाद के कवियों में खूब होता है और साठोत्तरी की पूरी संरचना का यह तो आधार स्रोत ही है। शायद इसीलिए इस प्रवृत्ति के सारे कवियों के प्रेरणास्रोत, जाने अनजाने, निराला ही रहे हैं और आज का कवि निराला से सबसे अधिक जुड़ने की कोशिश करता है।

निराला के बाद और निराला के साथ, प्रगतिशील कवियों ने भी जीवन का मर्म खोजने का प्रयास किया है, जिसमें त्रिलोचन, नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल प्रमुख रहे हैं। *ये कवि जीवन से लगातार जुड़े हुए थे और कह सकते हैं कि ये प्रत्यक्ष द्रष्टा पहले थे, कवि बाद में हुए, जबकि यह ध्यान देने की बात है कि आजादी के बाद के लोग कवि पहले बनते हैं, प्रत्यक्ष द्रष्टा बाद में।* यूँ आजादी पूर्व व पश्चात का यह विभाजन राजनेता व समाज के बीच भी देखा जा सकता है, कि आजादी पूर्व के लोग समाजसेवी पहले थे, फिर राजनेता बने। आजादी के बाद राजनेता पहले बनते हैं, समाजसेवी बाद में। वहाँ पर स्थिति जो हो, किन्तु प्रगतिशील कवियों के संदर्भ में इतना तो कहा ही जा सकता है कि अंग्रेजी के विक्टोरियन समय के कवियों की तरह, ये कवि लगभग Critique की भूमिका में आते हैं। तात्पर्य यह है कि नैतिकता, उपयोगिता इनके लिए इतनी महत्वपूर्ण बन जाती है कि कविता इनके लिए जीवन की आलोचना बन जाती है। यदि ये पूर्ण कालिक आलोचक होते तो शायद आलोचना का बहुत भला होता। शायद यही कारण है कि कविता के संदर्भ से इनकी कविताएँ कमजोर हैं और कविता में जीवन की आलोचना सबसे अधिक इनमें मिलती हैं। यहाँ यह ध्यान रखना है कि निराला में जीवन है, लेकिन कविता में आलोचक का भाव कहीं नहीं आता। वे कविता को कविता ही रहने देते हैं, आलोचना नहीं बनने देते। त्रिलोचन व नार्गाजुन की कुछ कविताएँ इसकी अपवाद अवश्य हैं।

नार्गाजुन (1911-1998) के सन्दर्भ में यदि लोक सौन्दर्य देखना हो तो वे स्थल

होते हैं जहाँ कवि लोक रूढ़ियों को तोड़कर नया स्वरूप देता हुआ नजर आता है। नारी सौन्दर्य, प्रकृति सौन्दर्य व्यक्ति सौन्दर्य आदि सभी कुछ में यह मिलता है जो मुक्तिबोध के शब्दों में 'प्राकृत होते जाने की अवस्था' ही है, जिसमें गतिशील चित्र है, परम्परा से हटी दृष्टि है, संघर्ष है और अमानवीकरण की प्रक्रिया का उद्घाटन है। इस कारण से वे कबीर, निराला की परम्परा से सीधे जुड़ते हैं। "नेवला" जैसी कविता में जेल के अमानवीय जीवन को दर्शाते हैं, तो 'पैने दाँतों वाली' (1973) कविता में धूप में पसरे एक मादा सूअर का चित्रण बड़े ही बेलौस ढंग से करते हैं। दूबें, उसके लिए 'मखमली' हैं, वह 'पसरकर' (फैलकर नहीं) लेटी है। इन शब्दों में कविता का निहितार्थ छिपा हुआ है और 'पसरकर' शब्द जो कि कविता में दो बार आया है, देखने योग्य है। इस 'पसरने' के माध्यम से कविता में जो संवेदनगत गतिशीलता आई है, उसे देखने लायक है और कविता की पंक्तियाँ 'यह भी तो मादरे हिन्द की बेटी है', इस समूची काव्य प्रक्रिया को गत्यात्मकता प्रदान करती हैं। यह पंक्ति भी दो बार आई है और पहली के तुरंत बाद' 'भरे पूरे बारह थनों वाली' है, तो दूसरी के अंत में 'पैने दाँतों वाली' है। ध्यान दीजिए पहले में स्थिति का संयम है, दूसरे में दाँतों वाली के माध्यम से इसके प्रति संघर्ष की चेष्टा है। कर्म की संकल्पनाएँ हैं। इस रूप में इस कविता का सौन्दर्य देखने लायक है। 'नेवला' व 'सूअर', दो अलग मन:स्थितियों में लिखे होने के बावजूद लोक रूढ़ि को तोड़ते हैं।

लोक सौन्दर्य का यह रूप "नारी सौन्दर्य" के सन्दर्भ में 'सिंदूर तिलकित भाल' (1943) में दिखाई पड़ता है, जिसमें नागार्जुन को नारी का 'सिंदूर तिलकित भाल' नजर आता है और कुछ नहीं। 'सिंदूर' शब्द अपने आप में स्थिति की मार्मिक व्यंजना करता है क्योंकि इसमें एक औरत का समूचा संकल्प छिपा रहता है। कविता में सबसे पहले 'याद आता तुम्हारा सिंदूर तिलकित भाल' आता है और फिर उसके साथ-

याद आता मुझे अपना वह तरउनी गाँव

याद आती लीचियाँ, वे आम

याद आते मुझे मिथिला के रुचिर-भू भाग

याद आते धान....।

अब वह 'सिंदूर तिलिकित भाल', प्रकृति की इन मनोहर चित्रों से मिलता है, जिससे पता चलता है कवि की दृष्टि का। नारी के भाल से जड़ तक की यात्रा में कवि की दृष्टि जड़ों पर ही रहती है, यह ध्यान देने की बात है। 'सिंदूर' में जहाँ सुहाग की जड़ें हैं, 'तरउनी' में भावजन्य सम्पृक्तता की। यूँ दोनों ही 'स्थायित्व' की प्रतीक है। कवि की तलाश इसी स्थायी सौन्दर्य के प्रति है जिस कारण से उसमें 'मांसलता' कहीं भी नहीं है। मांसलता की मुक्ति के कारण ही यह कविता प्रचलित के विरुद्ध हैं और लोक सौन्दर्य को दर्ज करती हैं। इसके साथ 'खुरदरे पैर' (1961) में उनकी निगाह 'फटी बिवाइयाँ' तक जाती हैं जो विलक्षण हैं। एक तरफ 1943 का 'सिंदूरी' यथार्थ हैं तो दूसरी तरफ 1961 का 'फटा बिवाईजन्य' यथार्थ! यह उनकी अचूक दृष्टि का परिणाम ही है। यह वह यथार्थ है जो अपने छोटेपन (लघुत्व) के कारण नहीं, बल्कि बड़ेपन (दीर्घत्व) के कारण सामान्य कवि को दिखाई नहीं पड़ता। नागार्जुन ने इस 'दीर्घत्व' को देखा है। इस कारण वे 'दीर्घत्व' के गतिशील कवि हैं। जिस समय वे लिखते हैं-

खुब गए

दूधिया निगाहों में

फटी बिवाइयों वाले खुरदरे पैर,

इसके बाद लिखते हैं-

'दे रहे थे गति....' यानी वे गतिशीलता में कवि द्वारा देखे गये थे।

प्रकृति सौन्दर्य भी नागार्जुन में वस्तु व्यापार को बढ़ाते हैं, आरोपित नहीं लगते। वर्षाकाल का चित्रण 'बादल को घिरते देखा है (1939) में यह अद्‌भुत है। इसमें कवि जब कहता है-

'जाने दो, वह कवि-कल्पित था

मैंने तो भीषण जाड़ों में

नभ चुंबी कैलाश शीर्ष पर,

महामेघ को झंझानिल से

गरज गरज भिड़ते देखा है

बादल को घिरते देखा है।'

तब स्पष्ट होता है कि प्रकृति भी उसके यहाँ कवि-कल्पित न होकर 'स्वानुभूति' रूप में आती है और वह रूढ़ियों को तोड़कर वस्तु के साथ घुली मिली होती है। जाड़ा, यूँ तो सुहावनी होती है लेकिन यह नागार्जुन ही कह सकते थे कि वह भीषण है और बादल गरज गरज कर भिड़ रहे हैं जोकि वर्षाकाल का सौन्दर्य है। इस रूप में वे सीधे निराला से जुड़ते हैं। ध्यान दीजिए तोड़ती पतथर 1937 की कविता है जिसमें 'दिवा का तमतमाता' रूप 'अनुभूति की कठोरता' के रूप में आता है और यह कविता 1939 की लिखी है, जिसमें 'मैंने तो...' के माध्यम से वर्षाकाल की भीषणता का चित्रण है, जो 'अनुभूति की कठोरता' ही है। इस तरह दोनों कवि *'अनुभूति की कठोरता'* के कवि हैं।

इस तरह हम नागार्जुन की कविताओं में 'लोक सौन्दर्य' का मूल्यांकन कर सकते हैं और जो कविताएँ ऐसी हैं वे मार्मिक व महत्वपूर्ण दोनों हैं। यूँ इनकी अधिकांश

कविताएँ 'दैनिक क्रिया व्यापार' जैसी लगती हैं, जो त्रिलोचन में भी मिलता है।

त्रिलोचन : (1917). त्रिलोचन तो मूलत: ही गतिशील है, इस खास अर्थ में कि उनकी कविताओं में एक प्रकार की 'क्रियाशीलता' प्राय: ही मिलती है। उनका तो आधार वाक्य ही यही है-

भाषा की लहरों में जीवन की हलचल है
ध्वनि में क्रिया भरी है और क्रिया में बल है।

उनका पहला संकलन ही (धरती) इसका स्पष्ट संकेत छोड़ता है। उनके यहाँ संघर्ष है, प्रकृति व मनुष्यके बीच निजता है, जिसमें 'प्रकृति' मनुष्य की सक्रियता को बढ़ाती है। कविता लिखने की होड़ में वे किसी सौन्दर्य-लोक का निर्माण नहीं करते बल्कि लोक सौन्दर्य तक ही सीमित रहते हैं। इस रूप में वे सौन्दर्य लोक की अतीन्द्रिय वायवी चेतना से मुक्त होकर लोक सौन्दर्य की वास्तविक चेतना से सन्नद्ध हैं। उनके यहाँ लोक चरित्र भी हैं, हालाँकि चरित्रों के सन्दर्भ में वे थोड़ा सचेष्ट कम हैं, क्योंकि इनमें गत्यात्मकता थोड़ी कम रहती है। यहाँ एक प्रकार के सरलीकरण का शिकार हो जाते हैं। नगई महरा (ताप के ताये हुए दिन), चम्पा (धरती), भोरई केवट (धरती) आदि ऐसी ही ठंढी कविताएँ हैं और यहाँ लुहार, बढ़ई, कहार, किसान, मजदूर एक जाति के रूप में आते हैं, न कि व्यक्ति के रूप में जैसा साठोत्तरी में होता है। बच्चा, भूखा, स्त्री, बेरोजगार आदि।

वस्तुत: त्रिलोचन की कविताओं का सच्चा लोक सौन्दर्य प्रकृति व मनुष्य के आपसी रिश्तों में मिलता है। 'धूप सुन्दर' (धरती) कविता महत्वपूर्ण है जिसमें कवि आदमी का 'अपरूप सुन्दर' रूप उसकी 'अनगढ़ता के सामंजस्य' में पाना चाहता है। कविता आरम्भ होती हैं-

धूप सुन्दर

धूप में जग-रूप-सुन्दर

सहज सुन्दर....

अंत होता है-

सोचता हूँ

क्या कभी

मैं पा सकूँगा

इस तरह

इतना तरंगी

और निर्मल

आदमी का

रूप सुन्दर...।

यह आदमी की कौन सी सुन्दरता है? तो इसके लिए बीच में सरसों की तरह झूमती सुन्दरता का कवि जिक्र करता है। वह कहता है-

'झूमती सरसों / प्रकम्पित वात से / अपरूप सुन्दर'

इसमें 'प्रकम्पित' व 'सुन्दर' का सहज समन्वय है। यानी कठिनाइयों में भी मनुष्य के सौन्दर्य की कामना करता है कवि, जिसके लिए संघर्ष, क्रियाशीलता, आशावादिता आदि की जरूरत है। प्रकृति की यह क्रियाशीलता 'समुद्र के किनारे' (तुम्हें सौंपता हूँ) में भी मिलती है जहाँ आशा-निराशा के सहज भाव है और समुद्र के द्वारा छोड़ी "भीगी बेला" के माध्यम से कवि इस जीवन की निष्ठुर सचाई को आगे बढ़ाने की कोशिश करता है जिसके लिए वह 'वायु' का सहारा लेता है। ध्यान दीजिए वायु स्वाभवत: गतिशील है। यह प्रकृति की क्रियाशीलता, नारी के मार्मिक प्रसंगों से 'झाँय

झाँय करती दुपहरिया' में भी मिलती है (उस जनपद का कवि हूँ) जिसमें तपती दुपहरिया में नारी कवि को आम खिलाकर पानी पिलाती है और कवि कहता है-

ढेसर आम खिला कर पानी मुझे पिलाया।

ये वे बातें- 'फिर आना', कब मिला मिलाया।

कवि इस दुर्लभ संयोग पर अभिभूत है और इसके लिए दुपहरिया में आम बीनने को त्याज्य नहीं मानता। इसमें वह नारी है जो लोक जीवन में रची बसी है।

इस तरह से त्रिलोचन में लोक सौन्दर्य का लक्षण मिलता है।

केदारनाथ अग्रवाल (1911)- केदार नाथ अग्रवाल की यात्रा 'युग की गंगा' से आरम्भ होकर आगे बढ़ती रहती है और आज तक चल रही है। यूँ यदि देखा जाय, तो तीनों कवियों में लोक सौन्दर्य की दृष्टि से इनकी कविताएँ कमजोर हैं। जहाँ नागार्जुन व त्रिलोचन में दैनिक क्रिया व्यापार उभरकर सामने आते हैं और जीवन के किसी स्थायी मर्म का उद्‌घाटन करते हैं, वही ये केदार में फैलकर सामने आते हैं जिससे वे किसी स्थायी अर्थ का संकेत नहीं कर पाते। यूँ केदार बाबू में ऐसा संवेदन की अनुभूति बदलने के लिए जिस धैर्य की अपेक्षा होती है, उसकी कमी का होना ही है। इस कारण इनकी कविताएँ आलोचकीय मुद्रा अपनाकर तत्काल विलीन हो जाती है। वे अनुभूति की सघनता में परिणत होने के पहले ही संवेदन की तात्कालिक विविधता में फैल जाती है। अत: कोई स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ पाती।

दूसरी बात यह भी कि जहाँ नागार्जुन व्यवस्था की बाहरी सतह पर चोट करते हैं और उसके आंतरिक मर्म तक पहुँचते हैं, वहीं त्रिलोचन व्यवस्था के आंतरिक सतह पर चोट करते हैं और वाह्य जीवन की विसंगतियों का उद्‌घाटन करते हैं। पर केदार बाबू व्यवस्था को बाहर से स्पर्श करते हैं और इस स्पर्शमात्र की वैविध्यता को बताते और उसमें संतोष अनुभव करते ढेरों कविताएँ लिखते हैं जिनका संघर्ष भी या तो

नहीं है या फिर घोषणात्मक है।

हाँ, प्रेम व्यापारों की मार्मिक अभिव्यक्ति में बेहद सफल है और ऐसी कविताओं में लोक रूढ़ि को तोड़ने की चेष्टा के कारण हम लोक सौन्दर्य पाते हैं। इनका प्रेम, रीतिकालीन कवियों के प्रेम से भिन्न है। **यह एकांत मनुष्य का सार्वजनिक प्रेम नहीं है, बल्कि प्रेम इनके यहाँ आवेग को बढ़ाने वाला ही होता है जो सार्वजनिक मनुष्य का होता है। यह जीवन को गतिमय बनाता है। हाथ पकड़कर एकांत में जाने के बजाय एकांत से हाथ पकड़कर चौराहे पर आता है।**

यदि ध्यान से देखें, तो इनके यहाँ 'स्मृति' सर्जनात्मक प्रेम व्यापार में अभिव्यक्त होती हैं। प्रकृति के कार्य व्यापारों के बीच प्राय: ही प्रिया की याद आती है जो कि रीतिकालीन या प्रतिक्रियावादी कवियों से बिल्कुल अलग है जिनमें प्रिया की याद आते समय प्रकृति की याद आती है। स्वयं 'अनहारी हरियाली' की एक कविता है- 'आज दिखी फिर मुझे गिलहरी / कई दिनों के बाद / चिकचिक करती / दौड़ी जाती/ ... / लगा कि जैसे / याद प्रिया की दौड़ी आयी / संग साथ में / उनको लाई/ ' यहाँ पर गिलहरी को देखकर प्रिया की याद आना प्रेम के लौकिक विधान को नवीन दृष्टि से देखना है और इसमें वे सफल रहे हैं।

साठोत्तरी कविता का आरम्भ इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं क्योंकि आरम्भ में मुक्तिबोध, शमशेर, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, धूमिल केदारनाथ सिंह, विजेन्द्र, ऋतुराज आदि कवि कविता ही लिखते हैं। उनमें एक ओर कविता में जहाँ आलोचकीय तेवर की अनुपस्थिति पाई जाती है, वहीं अभिव्यक्ति का संयम भी मिलता है, क्योंकि इनमें 'वस्तु' से एक रागात्मक दूरी है जो इन्हें उसका तटस्थ मूल्यांकन करने देती हैं। कविता के सौन्दर्य के लिए इस 'तटस्थता' की जरूरत होती है और यह इनमें हैं, क्योंकि ये न तो हड़बड़ी में होते हैं और न ही उत्तेजना में। इनमें अभिव्यक्ति का संयम

संदर्भ सूची

1. डा0 हरद्वारी लाल शर्मा - 'लोकवार्ता विज्ञान' - खण्ड-1, उ0 प्र0 हिन्दी संस्थान, लखनऊ - 1990।

1+. डा0 भोलानाथ तिवारी - लोकायन और लोक साहित्य - सम्मेलन पत्रिका विशेषांक - पृ0 423।

2. उप0।

3. उप0।

4. डा0 बासुदेव शरण अग्रवाल - लोक का प्रत्यक्ष दर्शन - पृ0 67 - सम्मेलन पत्रिका विशेषांक।

5. राजेश्वर सक्सेना - 'सापेक्ष' - लोक संस्कृति विशेषांक।

6. उप0।

7. उप0।

8. डा0 कमलेश दत्त त्रिपाठी - 'सापेक्ष' - लोक संस्कृति विशेषांक - पृ0 129।

9. डा0 राजा राम भादू - 'सापेक्ष' लोक संस्कृति विशेषांक - पृ0 129।

10. डा0 रमेश कुंतल मेघ - 'सापेक्ष' अंक में संग्रहीत लेख - 'लोक संस्कृति से जनवादी संस्कृति।

11. G.M. Young - Victorian England - Portrait of an age - Oxford University Press, London - 1960।

12. डा0 बद्री नारायण - लोक संस्कृति एवं इतिहास।

13. डा0 अजय तिवारी - हिन्दी कलम - 3 में प्रकाशित लेख।

14. पं0 गुण सागर विद्यार्थी - सं कमला प्रसाद - 'लोक साहित्य एवं संस्कृति' में संकलित आलेख।

15. नर्मदा प्रसाद गुप्त - 'लोक साहित्य एवं संस्कृति' - सं कमला प्रसाद - में संकलित लेख - लोक साक्ष्य एवं परम्परा।

16. E.H. Car - What in history।

17. Toynabee - A study of history - 1963।

18. डा0 बद्री नारायण - 'लोक साहित्य एवं संस्कृति' - लोक भारती, इलाहाबाद।

19. रणजीत गुहा - Elementary Aspects of Peasant Insurgency in Colonial North Inda - Oxford University Press - 1992।

20. ज्ञानेन्द्र पाण्डे - Ascendency & Congress in U.P. - The study & imperal mobilization।

21. डा0 अजय तिवारी - 'हिन्दी कलम' - 3 में संकलित लेख।

22. उप0।

23. डा0 कैलाश नाथ तिवारी - 'लोक साहित्य व संस्कृति' - सं डा0 कमला प्रसाद।

24. उप0।

25. 'लोक साहित्य व संस्कृति' - सं डा0 कमला प्रसाद।

26. 'लोक संस्कृति एवं लोक मानस' लेख - डा0 कमला प्रसाद द्वारा संपादित 'लोक साहित्य व संस्कृति'।

27. राजेश्वर सक्सेना - 'सापेक्ष' - सं महावीर अग्रवाल - लोक संस्कृति अंक।

28. उप0।

29. डा0 भोला नाथ तिवारी - सम्मेलन पत्रिका लोक संस्कति विशेषांक।

30. डा0 सत्येन्द्र - हिन्दी साहित्य कोश - ज्ञानमण्डल वाराणसी।

31. Folklore - Encyclpeadia Britanica - भाग 10।

32. Standard Dictionary & Folklore, भाग - 1, न्यूयार्क - 1941 - पृ0 401।

33. डा0 सत्येन्द्र - 'ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन' -आगरा - 1949।

34. डा0 कृष्ण देव उपाध्याय - लोक साहित्य की भूमिका - पृ0 38।

35. उप0।

36. जय प्रकाश - जनवरी 97 - 'आजकल' में प्रकाशित लेख - 'जीवन कर्म व संस्कृति कर्म'।

37. डा0 कुमार विमल - सौन्दर्यशास्त्र के तत्व।

38. उप0।

39. J.H. Cozims - The philosophy & beauty - 1925।

40. डा0 नगेन्द्र - भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका।

41. उप0।

42. उप0।

43. उप0।

44. उप0।

45. उप0।

46. डा0 राम विलास शर्मा - 'समालोचक' - सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता व सामाजिक विकास।

47. डा0 रमेश कुन्तल मेघ - 'अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा' - 'कला और सौन्दर्यबोध' पृ0 46।

48. प्रेमचंद - कुछ विचार - पृ0 17।

49. उप0।

50. 'संकल्प का सौन्दर्यशास्त्र' सं अजित कुमार - डा0 नामवर सिंह का संकलित लेख - 'मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के विकास की दिशा' पृ0 111।

51. उप0।

52. मुक्तिबोध - 'नयी कविता का आत्म संघर्ष' -रचनावली 5/190।

53. उप0।

54. डा0 मैनेजर पाण्डे - 'नये मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की प्रासंगिकता'।

55. डा0 नामवर सिंह - 'दूसरी परम्परा की खोज' - 1982।

56. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - 'कविता क्या है' - चिंतामणि - भाग 1।

57. उप0।

58. डा0 मीरा श्रीवास्तव - कृष्णकाव्य में सौन्दर्यबोध व रसानुभूति'।

59. Herbert Read - Icon and Idea.

60. डा0 नंद किशोर नवल - कविता की मुक्ति - पृ0 20।

61. डा0 रमेश कुंतल मेघ - सौन्दर्य मूल्य एवं मूल्यांकन।

62. डा0 सुरेन्द्र नाथ तिवारी - प्रेमचंद व शरत के उपन्यास - पृ0 88।

63. डा0 नामवर सिंह - 'दूसरी परम्परा की खोज'।

64. उप0।

65. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी - 'लालित्य तत्व' - पृ0 23।

66. उप0।

67. दूधनाथ सिंह - 'निराला-आत्महंता आस्था'।

अध्याय -2

हिन्दी काव्य और लोक धर्मिता

1. आदिकालीन सन्दर्भ :

हिन्दी कविता की समूची काव्य परम्परा पर दृष्टिपात करने से यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है कि कविता की मूल प्रवृत्ति लोकधर्मी ही रही है और कविता में जब जब अवरोध उत्पन्न होता है, लोकमन की वाणी ही कविता को स्वर देती रही है। यूँ भी जब बात कविता की हो रही हो, जाहिर है उसमें भाव की सघन अभिव्यक्ति तो होगी ही और यदि अभिव्यक्ति ऐसी है, तो उसका मूल स्वर लौकिक ही होगा। यह दूसरी बात है कि अपनी विकासोन्मुखी यात्रा में संचरण करती यह आध्यात्मिकता के धरातल तक उठ जाय या फिर इहलौकिक होकर ही बहती रहे। जहाँ अभिव्यक्ति मात्र ही कविता का निमित्त बन जाता है, वहाँ वह रूढ़बद्ध हो जाती है, जैसा रीतिकाल में हुआ। तब जाहिर है कविता की अभिव्यक्ति भी एक प्रकार के संयम और सहजता की अपेक्षा रखती है, क्योंकि आक्रोश और खीझ इसके मूल स्वर को नष्ट करके या तो सूक्तियों में बदलते हैं या फिर नारेबाजी में।

इसके साथ यह ध्यातव्य है कि हर रचनाकार अपने आरम्भिक स्वर में कविता के निकट होता है। बाद में चाहे जहाँ चला जाय। कविता के इस लोकधर्मी स्वरूप का एक उदाहरण देते हुए *डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी* ने लिखा है कि 'आदिम भाषा के काव्यात्मक होने की बात शैली ने भी स्वीकार की है और इस सन्दर्भ में 'बारफील्ड' ने अपने 'पोएटिक डिक्सन' में शैली का मत उद्धृत किया है- समाज की आंतरिक स्थिति में प्रत्येक लेखक अनिवार्यत: कवि होता है, क्योंकि भाषा स्वयं कविता होती

है.... प्रत्येक मौलिक भाषा मानों अपने स्रोत के निकट एक चक्राकार कविता का अवस्था हो।[1]

जब हम हिन्दी कविता के उदय की बेला का अवलोकन करते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि इस साहित्य का उदय संस्कृत साहित्य के परिपार्श्व में हुआ है और इसकी निकट पृष्ठभूमि में लोक वार्ताएँ ही रहीं हैं। हिन्दी लोक भाषा थी और इसमें साहित्य सृजन करने वाले आरम्भ में वे ही लोग थे जिनका या तो संस्कृत से सैद्धान्तिक विरोध था जैसे बौद्ध, जैन या फिर वे थे जिनका संस्कृत से सम्पर्क ही न था। मतलब कि साधारण जन।[2] तब जनमानस को लोकोन्मुख होना ही था जबकि मुनि मानस कल्पना की ऊँची उड़ाने भरा करता था। इसी संस्कृत साहित्य की सापेक्षता में स्वयं अपभ्रंश कालीन लोकधर्मी चेतना का भी पता चलता है, क्योंकि संस्कृत की शास्त्रीयता से अपभ्रंशकाल में ही साहित्य अलग होकर जनसामान्य से जुड़ने लगा था। अपभ्रंश साहित्य के माध्यम से पहली बार, संस्कृत साहित्य की कथारूढ़ि, काव्य रूढ़ि और वस्तु वर्णन से हटकर, लोक जीवन से सम्पृक्त साहित्य का सृजन किया जाने लगा था। इस समय तक संस्कृत साहित्य के माध्यम से लोक जीवन की अभिव्यक्ति में कठिनाई हो रही थी, मौलिक उद्भावनाओं की प्रवृत्ति लगभग चुक सी गयी थी। साहित्य एक प्रकार से दार्शनिक भाववाद व जड़ता के शिकंजे में कसता जा रहा था। ऐसी स्थिति में हृदय के सहज भावों की अभिव्यक्ति का मार्ग लगभग बन्द होता जा रहा था और ऐसे समय में अपभ्रंश साहित्य ने ही अपनी लोकधर्मी चेतना के फलस्वरूप भारतीय साहित्य में वह 'ऐतिहासिक' कार्य सम्पन्न किया, जिसने आने वाले समय में मानव हृदय को आनंदित और स्पंदित किया। इसी ऐतिहासिक कार्य के कारण हिन्दी की 'प्राणधारा' अपभ्रंश काव्यों में मिल जाती है। स्वयं हिन्दी का आदिकाल इसी प्रभाव की तात्कालिक परिणति है, बल्कि कहीं कहीं तो विभाजन करना भी कठिन

हो जाता है।

इसी कठिनाई के कारण जहाँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा0 रामकुमार वर्मा ने क्रमश: "हिन्दी साहित्य का इतिहास" और "हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास" में अपभ्रंश साहित्य का हिन्दी साहित्य से सम्बन्ध भाषा की दृष्टि से माना है, वहीं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य:उद्भव और विकास' में इस सम्बन्ध को 'साहित्यिक परम्परा' के रूप में देखा है। जहाँ आचार्य शुक्ल और डा0 वर्मा के अनुसार अपभ्रंश की रचनाएँ 'हिन्दी के प्रारम्भिक रूप की छाप लिए हुए है और इसीलिए आदिकाल में लिए जाने की अधिकारी है', वहाँ द्विवेदीजी के लिए यह सम्बन्ध 'प्राणधारा' का सम्बन्ध रहा है। यहीं प्राणधारा वाले सम्बन्ध की ऐतिहासिकता उल्लेखनीय हैं क्योंकि इसी से साहित्य के विकास का पता चलता है। तब यह ठीक ही है कि अपभ्रंश और हिन्दी के सम्बन्ध की मौलिक समस्या यह नहीं है कि हिन्दी के कुछ काव्य रूपों, काव्य रुढ़ियों, उपमानों और छंदों पर अपभ्रंश का प्रभाव दिखा दिया जाय। यह सब तो ऊपरी बाते हैं। अपभ्रंश हिन्दी साहित्य का सम्बन्ध इससे भी कहीं आंतरिक और गहरा है।[3]

इस पृष्ठभूमि में इसका मूल्यांकन जरूरी हो जाता है कि वह 'प्राणधारा' कौन सी है जिसका विकास आदिकाल से होता अब तक चला आ रहा है और जाहिर है वह 'लोकधर्मी चेतना' ही है, किन्तु यह तो एक व्यापक, बहु अर्थगामी शब्द है। जरूरी है इसके ठीक ठीक रूप की पड़ताल करना कि कैसे अपभ्रंश और आदिकाल में प्रवृत्तिगत समानताएँ रही हैं और कैसे इसने आगे भक्ति पक्ष से लेकर आधुनिक काल तक को प्रभावित किया है। हम यहाँ इसके स्वरूपगत विशेषताओं को न लेकर इसके आंतरिक भावों को पकड़ने की चेष्टा करेंगे, क्योंकि इसी में किसी परम्परा के विकास का पता चलता है।

आदिकाल में वीरगाथा काव्य है और इसके दो रूप हैं- प्रबन्ध काव्य का साहित्यिक रूप जैसे 'पृथ्वीराज रासो' और वीर गीतों (वैलाड्स) के रूप जैसे 'बीसलदेव रास'- यह शुक्लजी ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा है। इसके साथ वे यह भी स्वीकारते हैं कि आदिकाल की इस दीर्घ परम्परा के बीच डेढ़ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय ही नहीं होता-धर्म नीति, शृंगार, वीर, सब प्रकार की रचनाएँ दोनों में मिलती हैं और इसे ही शुक्लजी 'अनिर्दिष्ट लोकप्रवृत्ति' का नाम देते हैं। इससे यह तो स्पष्ट ही होता है कि आदिकाल में पायी जाने वाली ये सभी प्रवृत्तियों 'लोक प्रवृत्ति' के अंतर्गत ही आती हैं, यह तो शुक्लजी भी मानते हैं। हाँ, यह बात और है कि यह 'अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति' जब निर्दिष्ट होकर आगे बढ़ती है, तब वह 'वीर काव्यों' से ही जुड़ी होती है और बाकी प्रवृत्तियाँ जैसे नीति, धर्म आदि गौण हो जाती हैं। यह शुक्लजी के अनुसार निष्कर्ष निकलता है। ऐसी प्रवृत्ति विशेष का उभार शुक्लजी मुसलमानों की चढ़ाइयों के कारण मानते हैं। स्थिति जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि शुक्लजी के अनुसार वीर गाथात्मक 'चरित काव्य' ही आदिकाल की प्रवृत्ति का निर्धारण करते हैं और यह लोकोन्मुखी है। शुक्लजी के इस तर्क को थोड़ा आगे बढ़ाया जाय तो पता चलेगा कि आगे भक्तिकाल में यही 'नायकत्व' प्रधान विशेषता हतदर्प जनता के हाथों, ईश्वर के रूप मे अपना नायक ढूढ़ने लगी। शुक्लजी ने ठीक ठीक यह नहीं कहा है, किन्तु जो कहा है (भक्तिकाल के उद्भव के संदर्भ में) उससे यह निष्कर्ष लिया जा सकता है। मतलब यह भी कि आदिकालीन अपभ्रंश काव्य में जिस धर्म, नीति को उपेक्षित माना गया, वह अब 'नायक' में घुसकर 'हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने का कारण बना।' अर्थ यह कि नायक की लोकधर्मी विशेषता, उत्तरोत्तर निर्दिष्ट होती गयी और अंत में धर्म का, बल्कि कहे भक्ति का (धर्म की भावात्मक अनुभूति-भक्ति) भाव

ओढ़कर भगवद् भक्ति का कारण बनी। तो यह यह है चरित प्रधानता, जो अपभ्रंश और आदिकाल हिन्दी साहित्य से होती, कभी दबती, कहीं उभरती भक्तिकाल तक चली आई है और बिल्कुल लोक परम्परा का निर्वाह करती रही है। इससे इस बात की पुष्टि भी होती है कि आदिकाल में चरित प्रधान वीर काव्यों के अलावा, जो अन्य प्रवृत्तियाँ सिद्धों-नाथों, जैन मुनियों, लोक काव्यों के माध्यम से अभिव्यक्त हो रही थी, उनका भी अपना महत्व है।

दूसरी तरफ *आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी* है। जिस धर्म, नीति को शुक्लजी ने साम्प्रदायिक काव्य कहकर चलता किया, वे द्विवेदी जी के लिए महत्वपूर्ण रहीं। जैन धर्म के अपभ्रंश काव्यों को, जो पश्चिम प्रांत में लिखे गये थे उन्हें शुक्लजी ने बहुत महत्व का नहीं माना था। ऐसा ही सिद्धों-नाथों के साहित्य के साथ किया, जो पूर्व में लिखे गये थे। तब पहला सवाल यही है कि जिस शौर्य प्रधान वीर काव्यों को शुक्लजी ने 'आदिकाल' में प्रमुख माना, वे स्वयं कहाँ से आये थे? जाहिर बात है कि इसकी पृष्ठभूमि में अपभ्रंश के काव्य 'नागकुमार चरिउ' और 'जसहर चरिउ' (पुष्पदंत कृत लोकप्रिय व्यक्तियों पर लिखे काव्य) ही रहे हैं। तब स्वयं लोक प्रसिद्ध चरित काव्यों के आधार पर अपभ्रंश और आदिकाल से परस्पर निकटता स्थापित हो जाती है और इसके द्वारा भक्तिकाल से भी। परोक्ष रूप से भक्तिकाल के बीज भी स्वयंभू के 'पउमचरिउ' में देखे जा सकते हैं, यद्यपि कि संस्कृत साहित्य व ब्राह्मण ग्रंथों का प्रभाव व्यापक मात्रा में रहा है। पौराणिक चरित, लोक प्रसिद्ध चरित या फिर कल्पित जन सामान्य चरित, तीनों अपभ्रंशकाल मिलते हैं जिसने आगे का विकास सम्भव बनाया है। इसमें लोक प्रसिद्ध काव्य आदिकाल में, पौराणिक चरित भक्तिकाल में और लोक जीवन के सामान्य चरित आधुनिक काल में विकसित होते देखे जा सकते हैं। चरित्रों की बदलती विशेषता परिस्थितिजन्य रही है जिसमें एक ओर वर्तमान का

दबाव रहा है, तो दूसरी ओर परम्परा का। *यूँ यह भी कहा जा सकता है कि घटनाओं के बदलते परिप्रेक्ष्य में चरित्रों के प्रकृति में परिवर्तन होता रहा है।*

इन चरित्रों की प्रकृति के विकास में धर्म, नीति के साथ सिद्धों-नाथों की रचनाओं का अपना विशेष योगदान होता आया है, जिनके अन्तर्गत आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के 'प्राणधारा' की खोज की। भक्तिकाल के धार्मिक, भक्तिप्रधान काव्यों के बीज भी इन्हीं जैन-मुनियों की रचनाओं में दिखाई पड़ते हैं। आशय यह कि आदिकाल में वीरगाथा के साथ धार्मिक रचनाओं को नकारा नहीं जा सकता। इसी से द्विवेदीजी ने इसे 'स्वतो-व्याघातों' का युग कहा है, क्योंकि यहाँ अंतर्विरोध था। इस अन्तर्विरोध की भी एक व्यवस्था थी, इसकी भी अपनी एक गति थी। यहाँ (आदिकाल) प्रवृत्तियों की अराजकता नहीं थी, बल्कि विविधता थी जिसकी एक व्यवस्था थी। एक प्रवृत्ति, वीरगाथात्मक, क्षीणमाण थी और दूसरी वर्धमान थी। पहली का सम्बन्ध राजस्तुति, सामंतों के चरित्र वर्णन, युद्धवर्णन, केलि विलास, बहु विवाह के लिए विजयोन्माद से था और दूसरा का सम्बन्ध नीची समझी जाने वाली जातियों के धार्मिक असंतोष, रूढ़ि विरोध, वाह्याडम्बर, खण्डन, जातिभेद की आलोचना, उच्चतर आचार-विचार, व्यापक भगवत्प्रेम, मानवीय आत्म गौरव आदि से था। एक का नाम तथाकथित वीर गाथा है, दूसरी का योगधारा'[4]। अत: स्पष्ट है कि दोनों लोक प्रवृत्तियाँ आदिकाल में एक साथ विद्यमान थीं। हाँ, एक बात जरूर है, कि ये दोनों प्रवृत्तियाँ अंतर्विरोधी न होकर (जैसा कि डा0 नामवर सिंह कहते हैं) परस्पर अंतरावलंबित (Inter dependent) रही हैं, क्योंकि ऐसा नहीं है कि वीर गाथा की प्रवृत्ति बिल्कुल ही बन्द हो गयी जैसा कि कहा जाता है और भक्तिकाल का उदय सिद्धों-नाथों की रचनाओं से ही हुआ। वस्तुत: असल बात तो यह है कि वीरगाथाकाल की चरित प्रधानता जैसा कि हमने पहले कहा है, आगे भक्तिकाल में बढ़ी है। हाँ स्वर बदल गया क्योंकि समय के

दबाव में उस पर धार्मिकता का दबाव बढ़ता गया है पहले इसने निर्गुण का रूप लिया, तो सिद्ध-नाथ प्रधानता पाये। फिर जब 'सगुण' का रूप धारण किया, तब इसके बाद की स्थिति में लोक प्रसिद्ध चरित ही पौराणिकता की धरातल पर ऊपर उठ गये और ईश्वर की सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित हुए। ध्यान देने की बात है और स्वयं डा0 नामवर सिंह इससे सहमत हैं कि स्वयंभू के काव्य में राम-कृष्ण ऐतिहासिक लोक प्रसिद्ध चरित्र के रूप में ही आते हैं, उसमें भक्तिभाव जैसी कोई बात नहीं थी। भक्ति का जो सोता सिद्धों-नाथों से होता आया है, उसी ने सगुण कवियों के हाथ में पुराने चरित काव्यों की ईश्वर की महिमा से मण्डित किया। इन दोनों प्रवृत्तियों में यदि सचमुच का अंतर्विरोध होता, तो चरित की इस प्रवृत्ति का आगे प्रस्फुटन कदापि न होता क्योंकि एक दूसरे को खारिज करके विकास संभव ही नहीं था। अत: दोनों एक दूसरे के पूरक रहे हैं। जाहिर बात है इसके लिए (भक्ति काव्य) संस्कृत व अपभ्रंश में पहले से ही पृष्ठभूमि तैयार की। (आगे रीतिकाल में भी यही नायकत्व बोध प्रवहमान रहा, किन्तु यहाँ तक यह रूढ़ हो चुका था। अब धर्म ठंढा पड़ गया था, जिस कारण से नायक की उदात्त भावना, विराट सत्ता, उसके शौर्यबल से हटकर सौन्दर्य पक्ष पर आ टिकी जिसने नायक को शृंगारी बना डाला। यह एक प्रकार से धार्मिक भावना के तनूकरण (Dilution) का परिणाम रहा है, वही भावना जिसके प्रबल प्रभाव से आदिकाल का वीर नायक, भक्तिकाल में ईश्वर बना था। आधुनिक काल में यह नायक शृंगार से भी हाथ धो बैठा और पहले 'मनुष्य मात्र' के रूप में प्रतिष्ठित हुआ, फिर साधारण मानव के रूप में जिसको लेकर निराला जैसा कवि शताब्दी महान कवि बना।)

तब यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश और आदिकाल दोनों ही साहित्य में प्रवृत्ति को लेकर लगभग समानताएँ रही हैं। जैसे अपभ्रंश में रूढ़ि-पोषक और रूढ़ि-विरोधी दो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, वैसे ही आदिकाल में। इन्हीं रूढ़िविरोधी प्रवृत्तियों को डा0

नामवर सिंह ने 'नवोन्मेघ शालिनी' प्रवृत्ति कहा है। तब यह ठीक ही है कि अपभ्रंश की इसी प्रवृत्ति ने हिन्दी के आदिकाल को गति दी है। इसी से लोक प्रवृत्ति का विकास होता गया है। अपभ्रंश की यही जीवंत परम्परा कुछ तो 'संदेश रासक' जैसे प्रेम मुग्ध लोक गीतों में व्यक्त हुई, कुछ 'भविसयत्त कहा' 'जसहर चरिउ', 'णयकुमार चरिउ' और 'करकंड चरिउ' जैसे आख्यान काव्यों में, कुछ जैन मुनि व बौद्ध सिंद्धों के दोहों में और कुछ स्वयंभू एवं पुष्पदंत के पौराणिक काव्यों में। हिन्दी साहित्य में इस प्राणधारा का विकास कहीं प्रत्यक्ष और कहीं परोक्ष रूप में हुआ।[5] इसमें से तो आदिकाल में 'संदेश रासक' के आधार पर 'वीसल देव रास' (14वीं शताब्दी) का विकास माना जा सकता है। इन दोनों में लोक जीवन के विविध रूप दिखलाई पड़ते हैं। 'बीसलदेव रास' पर तो लोक जीवन का प्रभाव इतना गहरा है कि इसका छंद भी लोक गीतों का है। इसमें "भावों की तीव्रता और अभिव्यक्ति की सादगी" (डा0 नामवर सिंह) द्रष्टव्य है। इसी प्रकार 'ढ़ोला मारु-रा-दूहा' भी (15वीं शताब्दी) भी इसी लोक धर्मी परम्परा में अपना स्वरूप ग्रहण करता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि दोनों ही विरह काव्य 'वीसलदेवरास' और 'दोला मारू-रा-दूहा' मारवाड़ देश में लिखे गये हैं, जहाँ चारणों की राजस्तुतियों की प्रधानता रही है। अत: पश्चिमी भारत की लोकधर्मी परम्परा के ये स्वयं ही प्रमाण हैं। इसमें कोई संदेह नहीं।

इसी प्रकार चारण कवियों के 'चरितकाव्य', अपभ्रंश के आख्यामूलक काव्यों से सम्बन्धित माने जा सकते हैं। यद्यपि आचार्य द्विवेदी इन्हें वीर दर्पोक्तियाँ कहते हैं, किन्तु 'पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो, हम्मीर रासो जैसी कृतियों की जो लोक प्रसिद्धि रही है, उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रासो ग्रंथ वीरगाथात्मक होने के कारण लोक प्रसिद्ध थे और मुस्लिम आक्रमणों से निरंतर जूझते रहने वाले राजाओं- सांभर (अजमेर) का चौहान, राजा दुर्लभराज (द्वितीय), अजयदेव (अजमेर बसाने वाला),

अर्णोराज (अजयदेव के पुत्र), वीसलदेव (अर्णोराज का पुत्र), पृथ्वीराज, हम्मीरदेव आदि- के प्रति जनता में जो विश्वास बना था, वह चारण कवियों की अतिशयोक्तिपूर्ण रचनाओं में व्यक्त होता था[6]। स्वयं आचार्य द्विवेदी जी पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो जैसे ग्रंथों को असंदिग्ध मानते हुए भी इन्हें लोक परम्परा में बहती आने वाली और मूल रूप से अत्यंत भिन्न बनी हुई लोक भाषा की रचनाएँ माना है (हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास पृ0 37) इसी के साथ इस काल के सिद्धों की स्पष्टवादिता, नाथ पंथियों का हठयोग, जैनों की अहिंसा, खुसरों की लोकानुरंजकता, राउल वेल की श्रृंगारिकता आदि कितनी ही कृतियाँ हैं जिनसे कविता के लोकधर्मी स्वरूप का दोनों स्तरों पर पता चलता है- चाहे वह अपने समय में सहज जीवन की स्वत: स्फूर्त अभिव्यक्ति की बात हो या फिर बाद के भक्तिकाल को प्रभावित करने की दृष्टि से हो। चूँकि आदिकालीन साहित्य, जनजीवन की अनुभूतियों से प्रकट हुआ था, अत: इसी कारण से उसमें पर्याप्त विविधता के लक्षण पाये जाते हैं। कुछ कुछ आधुनिक समय के भारतेन्दु काल की तरह। यह एक आरोपित भाव निबद्ध रचना नहीं बल्कि सहज जीवन से उद्भूत साहित्य है। यही वह समय है जहाँ नारी के सहज श्रृंगार से लेकर उसके मानसिक सौन्दर्य तक पहुँचने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। नख-शिख वर्णन, विरह के विविध रूप, विरहिणी नायिका द्वारा प्रियतम के पास संदेश प्रेषण आदि यहाँ मिलते हैं। किन्तु ये सब सहजता के धरातल पर ही आगे बढ़ते हैं। रीतिकाल की तरह रूढ़िबद्ध नहीं होते।

वस्तुत: हिन्दी साहित्य के जन्मकाल की परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी थीं कि बौद्ध, ब्राह्मण व जैन साहित्य के उच्च स्तूप धराशाही होकर लोक भूमि में धूल धूसरित होते मिलते हैं और सामान्य भूमि पर एक नई लोक वार्तापरक दार्शनिकता, धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता का निर्माण करते पाये जाते हैं। बौद्ध-सिद्ध एवं नाथों का साहित्य इसे

प्रमाणित करता है। उत्तर भारत में हर्ष (7वीं शताब्दी) के बाद बौद्धों को कोई सहारा न मिला। अत: अपनी रक्षा हेतु इसे या तो मठों का सहारा लेना पड़ा या फिर निचली जातियों का। ईसा की पहली शताब्दी तक बौद्ध संप्रदाय दो टुकड़ों में बँट गया था- हीनयान व महायान। महायान शाखा वाले उदार थे जो छोटे बड़े सभी को निर्वाण तक पहुँचा सकते थे। अत: महायान लोक मन के अधिक निकट था। इसी के बज्रयान और सहजयान दो टुकड़े हुए जिनसे बौद्ध सिद्धों का विकास हुआ। इसने पाण्डित्य या कृच्छ साधना का कोई नियम नहीं बनाया। आठवीं नवीं शताब्दी तक यह महायान, तन्त्र, मन्त्र, जादू, टोना, ध्यान, धारणा आदि से लोगों को बड़ी तेजी से आकृष्ट करने लगा। इन सब का मुसलमानी संसर्ग से कोई सम्पर्क न था और ये महायानी बौद्ध हीनयान की अपेक्षा अधिक मानवीय, लोकगम्य, सहज और समन्वयमूलक थे।[7] वज्रयान के अनुसार इन सिद्धों की संख्या 84 है जिसमें सरहयाद (आठवीं शती), शबरपा (नवीं शती), भूसुकता (नवीं शती), लुइया (नवीं शती), विरूपा (नवीं शती), डोंबिपा (नवीं शती), कुकुरिपा (नवीं शती), कण्हपा (नवीं शती) जैसे प्रसिद्ध सिद्ध हैं जिनमें रूढ़ियों के विरोध की प्रवृत्ति (जिसका विकास आगे कबीर में हुआ), सहज शून्य की साधना, आदि भिन्न प्रकार की अवस्थाओं का वर्णन मिलता है।

इसी प्रकार नाथ पन्थ, जिसे राहुल सांकृत्यायन ने सिद्धों की परम्परा का ही विकसित रूप माना है, ने 'हठयोग' की साधना आरम्भ की और वाम मार्गी सिद्धों की भोग प्रधानता से अपने को अलग किया। इसमें गोरखनाथ, जो मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य माने जाते हैं। प्रमुख है, जिनका काल डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नवीं शती माना है, शुक्ल जी ने तेरहवीं शती। डा0 रामकुमार वर्मा शुक्लजी से सहमत है। समय जो भी हो किन्तु यह सच है कि इन नाथपंथियों ने आगे के साहित्य को काफी हद तक प्रभावित किया है। इनके पदों में ब्रह्मचर्य, वाकसंयम, शारीरिक, मानसिक पवित्रता,

ज्ञान के प्रति निष्ठा, वाह्य आचरणों के प्रति अनादर आदि जो कुछ भी मिलता है, उसने परवर्ती साहित्य को गहरे प्रभावित किया, क्योंकि बाद के साहित्य में चरित्रगत दृढ़ता, आचरण शुद्धि व मानसिक पवित्रता का जो स्वर सुनाई पड़ता है, उसका श्रेय इसी साहित्य को है।[8] यह जरूर है कि गृहस्थ के प्रति अनादर भाव ने इसे रुक्ष और कमजोर बनाया है जिससे संत साहित्य के बाद इनका विकास न हो पाया। इनका योगमत संतों को गहरे प्रभावित करता है। नाथ संप्रदाय ने गोरखनाथ के नेतृत्व में समग्र उत्तर भारत को एक सामान्य लोकधर्म के आधार पर, जिसमें लोक परिकर के धर्म भी थे, एक संगठन सूत्र में बाँधने की कोशिश की थी। इसी संगठन के आधार पर इसमें दो प्रवृत्तियों का उदय हुआ। एक ब्राह्मण, दूसरी लोक। लोक प्रवृत्ति समस्त अब्राह्मण प्रवृत्ति का पर्याय थी। ब्राह्मण प्रवृत्ति भेद व भिन्नता के भावभूमि पर खड़ी थी, जबकि लोक प्रवृत्ति सर्वग्रासिणी थी।... लोक वार्ता की इसी सर्वग्रासिणी प्रवृत्ति के कारण उसमें कभी कभी परस्पर विरोधी बातों का समन्वय हो जाता है।[9] तब यह सर्वग्रासिणी प्रवृत्ति, लोक धर्मिता की एक अनिवार्य विशेषया ठहरती है क्योंकि इसी कारण से नाथ-संप्रदाय ने योग को लिया और बाद के साहित्य को प्रभावित किया, अन्यथा तो यह स्वयं ही (योग) एक लोकेतर वस्तु है। 'योग' भले ही लोकेतर वस्तु हो किन्तु जीवन को अलौकिक स्वरूप प्रदान करने का भाव अपने आप में लोक प्रवृत्ति का आधार रहा है, जिसको कबीर लेकर आगे बढ़े। इसी 'योग' ने सूफियों तक को प्रभावित किया। लोक भूमि का वह भाग जिसमें योग के चमत्कारों ने लोक कहानियों में परिणति पायी, अपनी पृथक सत्ता बना ली। इसे सूफियों ने ग्रहण किया। सूफियों की प्रेम कहानियों में एक ओर जहाँ जैन कहानियों के विद्याधरों के चमत्कारों का किंचित उपयोग हुआ है, वही प्रत्येक कहानी में किसी न किसी रूप में जोगी भी आता है। यह जोगी नाथ संप्रदाय का ही अवशेष है। नायक ने बहुधा योगी बनकर अपने प्रियतम

को पाने की चेष्टा की है।[10] अतः नाथ सम्प्रदाय की लोकधर्मिता स्वयं सिद्ध हैं।

अतः यह कहना ठीक है अपभ्रंश ने भारतीय साहित्य को जिस गति से लोक जीवन से दूर जाता देखकर फिर से उसके साथ कर दिया, उसी के प्रयत्न के फलस्वरूप हिन्दी के समूचे साहित्य का निर्माण हुआ। यूँ अपभ्रंश का आदिकाल पर और इन दोनों का भक्तिकाल तथा परवर्तीकालों पर प्रभाव परोक्ष ही रहा है, क्योंकि स्वयं भक्तिकाल की भक्ति धारा का अपभ्रंश साहित्य में अभाव रहा है। यह जरूर है कि उन सब ने और उनके बावजूद, मध्यकाल को प्रभावित किया है।

ऊपर के विवेचन में मैंने 'चरित काव्यों' के महत्व को रेखांकित करते इस बात का संकेत किया है कि 'घटनाओं के संकोच से चरित्रों का प्रस्फुरण और मिथकों का निर्माण होता है।' दरअसल मैंने यह बार बार महसूस किया है कि हिन्दी साहित्य के सभी युगों में विविध साहित्यिक प्रवृत्तियों में चरित्रगत विशेषता एक प्रकार से अंतर्भुक्त रही है और इसके स्वरूप को बदलना, उस समय की घटनाओं से निर्धारित होता रहा है। यही बात हमें आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल से आधुनिक काल तक चली आती लगती है। यूँ घटनाओं (परिस्थिति-सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक) और चरित्रों के बीच एक प्रकार का अ-समानुपाती (Inversely proportional) संबंध रहा है जिससे जब जब घटनाओं में स्थिरता आई है, तब चरित्रों की उदात्तता का विकास अपनी चरम सीमा में दिखाई पड़ता है। आदिकाल में मुसलमानों का आक्रमण होता रहा था जिससे घटनाएँ लगातार घटित होती रही थीं, जिससे चरित्रों का उभार तो मिलता है (वीरगाथात्मक), किन्तु यह स्थानीय (localized) ही रहा है। लोक प्रसिद्ध चरित्रों को आधार बनाकर अपनी अपनी तरह से गाथाकाव्य लिखे गये हैं, क्योंकि घटनाओं की बहुलता और एक प्रकार 'आशावादिता' ने हिन्दी क्षेत्र में इन्हीं चरित्रों को जन्म दिया। आगे भक्तिकाल तक आते आते (14वीं शताब्दी तक) मुसलमानों का आधिपत्य

लगभग स्थापित हो चुका था जिससे एक प्रकार से घटनाओं का (राजनैतिक) संकोच दिखाई पड़ता है। ऐसी स्थिति में चरित्रों का उभार देखने लायक है और ध्यान देने की बात यह है कि इसका महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता गया है जिसका परिणाम सगुण भक्तिकाव्य है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है आदिकाल की चरित विशेषता मौका पाकर और तेजी से आगे बढ़ी है, क्योंकि सिद्धों-नाथों का साहित्य संत काव्य एवं सूफी काव्य (अंशत:) तक ही अपना प्रभाव बनाये रख रका। फिर सगुण काव्य की तात्कालिक पृष्ठभूमि कहाँ से मिलती है? इसका जवाब भी आदिकालीन चरितकाव्य प्रदान करता है। इसके साथ ही जहाँ एक ओर चरित काव्यों की प्रधानता होते जाने से धर्म व नीतिगत आदिकालीन विशेषताओं ने इसका सहयोग दिया, वही इसकी उदात्तता के लिए अपभ्रंश व संस्कृत काव्यों की परम्परा ने भी साथ दिया। अब यहाँ आकर चरित स्थानीय न होकर स्थायी हो जाते हैं। सर्वशक्तिमान व सर्वगुण सम्पन्न हो जाते हैं और इसीलिए लोकधर्मी काव्य का सामान्य के धरातल पर और भी अधिक सृजन होता है। **आदिकाल की लोकधर्मी प्रवृत्ति (नायक के सन्दर्भ से) का उभार भक्तिकाल में यूँ देखा जा सकता है जहाँ चरित औदात्य गुणों से सम्पन्न होकर सार्वकालिक हो जाते हैं और सबकी श्रद्धा (भक्ति) का पात्र होते हैं। घटनाओं की स्थिरता ने इस तरह चरित्रों के विकास में सहयोग किया है कि मनुष्य का आदिकालीन वीरत्व, ईश्वर की अलौकिक सत्ता से सम्पन्न होकर दैदीप्यमान हो उठा।** इसी चरितगत विशेषता के कारण आदिकाल का भक्तिकाल से योग बन जाता है, अन्यथा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'प्राणधारा' संत कवियों के आगे बढ़ ही नहीं पाती। तब इस प्राणधारा का विकास इन चरित महत्ताओं से दिखाना तर्क सम्मत लगता ही है और इसमें स्वयं द्विवेदी जी ने अपनी सम्मति जाहिर की है, क्योंकि वीर गाथात्मक काव्यों को कहीं भी उन्होंने उपेक्षा के भाव से नहीं देखा

है। स्वयं आचार्य शुक्ल की 'नैराश्य भावना' सम्बन्धी बात को मान लेने से भक्तिवाद के विकास का तो पता चलता है (तुलसी के सन्दर्भ से) किन्तु आगे 'रीतिकाल' के श्रृंगार प्रधान चरित विशेषताओं की पृष्ठभूमि का पता नहीं चलता। अब यदि इन 'चरित व घटनाओं' को भक्तिकाल के बाद 'रीतिकाल' में रूपांतरित किया जाय, तो रीतिकाल का भी पता चल जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शाहजहाँ के बाद से मुस्लिम का पतन शुरु होता है। 1658 ई0 में शाहजहाँ के पुत्रों के बीच सत्ता का संघर्ष आरम्भ होता है और यही रीतिकाल के आरम्भ का भी समय है। आगे दो दो आक्रमण भी हुए (1738 में नादिरशाह द्वारा तथा 1761 में अहमदशाह अब्दाली द्वारा)। इसी के साथ सामंत शाही की प्रवृत्ति का उभार बना और अपनी सारी विकृत अवस्थाओं से यह समय गुजरने लगा। मंदिर तक में ऐश्वर्य व विलासिता की प्रवृत्ति बढ़ गई। केन्द्रीय सत्ता के उत्तरोत्तर टूटते जाने से इस समय कई सामाजिक राजनैतिक बुराइयाँ आरम्भ हो चुकी थीं। घटनाओं के इस बाहुल्यजन्य अध:पतनशीलता के कारण चरित्रों के विकास का अवसर तो रहा ही नहीं, बल्कि प्रक्रिया उल्टी हो गई। ऐसी स्थिति में नायकों का जो सार्वकालिक उदात्त चरित्र था, वह अब जनता के श्रद्धा का कारण नहीं रहा, क्योंकि शोषण के दमन को झेलते जनता भी यह सोचने लगी कि 'ईश्वर' कुछ नहीं कर सकता। ईश्वर की सार्वकालिक सत्ता व उसकी अलौकिक सामर्थ्य से लोगों का विश्वास डगमगाने लगा। उधर सामंतशाही ने दरबारी कवियों को प्रोत्साहित किया। बस क्या था? पूरा रीतिकाल रसमय हो गया। चरित्रों की स्वरूपगत विशेषता, उसकी लावण्यमयता, उसके बाहरी सौन्दर्य का वर्णन केन्द्र में आ गया। मतलब यह कि अब रूप ही अलौकिक हो गया, जोकि था ही, इसमें से शक्ति गायब हो गई। कवियों ने शक्ति को निकालकर रूपपक्ष पर जोर देकर रीतिकाल की श्रृंगार प्रधानता को यूँ प्रभावित किया। इसके लिए कुछ

सामग्री अपभ्रंश काव्यों से मिली, तो कुछ आदिकाल से। इसीलिए आप देखेंगे कि रीतिकाल के शृंगार प्रधान काव्य के नायकों का सौन्दर्य काफी बढ़ा चढ़ाकर, विलक्षणता की हद तक किया गया है, क्योंकि भक्तिकाल ने पृष्ठभूमि ही कुछ ऐसी तैयार की थी। यह शृंगार प्रधानता आदिकाल से इस मायने में भी भिन्न है कि यहाँ रसिक नायकों के केन्द्र में पौराणिक चरित हैं, जबकि आदिकाल में या तो लोक प्रसिद्ध चरित्र थे या फिर कल्पित। अत: यह पुष्ट होता है कि "घटनाओं के विस्तार से नायकों का संकोच हुआ।" आगे घटनाएँ विस्तार पाती रही। चरित की भावना क्षीण होती गई और 1843 तक आते आते अंग्रेजों आधिपत्य हो गया। 1857 का संग्राम इसको पुष्ट करता है और आधुनिक काव्य का यही समय भी है। अब जनता के भीतर से क्या लौकिक, क्या अलौकिक, 'चरितमात्र' के प्रति विश्वास भी जाता रहा। इसमें पश्चिमी सभ्यता की मानववादी वैज्ञानिक संस्कृति ने भी मदद की। अब मनुष्य मात्र ही साहित्य व सभ्यता के केन्द्र में आ गया। 'नायकत्व' की भावना का लोप यूँ होता है और घटनाओं एक के बाद एक यूँ घटित होती है। यहीं 'मनुष्य' घटनाओं के और विस्तार पाने से बीसवीं शताब्दी में 'निराला' जैसे कवियों के हाथों और भी पूर्ण हो गया और अब साधारण मनुष्य, जन-सामान्य, उपेक्षित मनुष्य, साहित्य चिंतन के केन्द्र में आ गया। आदिकाल व अपभ्रंशकाल के पौराणिक व लोक प्रसिद्ध चरित्रों का इतिहास यहाँ तक आते आते यूँ रुक जाता है और बलई, मसुरिया जैसे सामान्य जनता के भीतरसे ढ़ेर सारे सामान्य चरित फूट पड़ते हैं। संभव है कि धनपाल के 'भविसयत्तकहा' का सामान्य लोक जीवन से उभरा 'वणिक' चरित्र आधुनिक काल में निराला के हाथों बलई, मसुरिया, कुल्लीभाट, बिल्लेसुर आदि के द्वारा यूँ अभिव्यक्ति पाता है। **समूचे हिन्दी साहित्य में, इसकी कविता में आख्यानमूलक चरितों का यह 'विकेन्द्रीकरण' बड़ा ही रोचक है और इससे भी अधिक रोचक है**

चरित व घटना का यह संबंध जिसका विश्लेषण ऊपर हो चुका है। हमारी हिन्दी कविता की लोकधर्मी परम्परा का यह सर्वोत्तम उदाहरण है।

ऊपर के विवेचन में मैंने 'चरित' प्रधान काव्यों के रूपान्तरित होते जाने वाली प्रवृत्ति के आधार पर पूरे हिन्दी कविता की विकास की विविध अवस्थाओं का संकेत किया है। ऐसा मैंने इसलिए किया क्योंकि हिन्दी कविता का प्राणधारा मूलत: 'नायकत्व' प्रधान रही है। हर समय में हमारी जनता, अपनी आशा-आकांक्षाओं के लिए किसी नायक (लौकिक, पौराणिक, पारम्परिक आदि) की ओर ताकती रहती है। इसे ही आधुनिक समय का एक प्रखर समाजशास्त्री 'मैक्सवेबर' पारम्परिक (Traditional), ऐश्वर्य प्रधान (Charismatic) सत्ता के नाम से पुकारता है। वह एक और Rational-Legal Authority की बात करता है किन्तु उसका सन्दर्भ राजनैतिक व्यवस्थाओं से है, जिस कारण से आधुनिक प्रजातन्त्र में शासन तन्त्र के महत्व का पता चलता है। अत: हिन्दी कविता की यह नायकत्व प्रधानता, इसकी लोकधर्मी चेतना का एक सबल प्रमाण प्रस्तुत करता है। आधुनिक काल में यह नायक, अब सामान्य से सामान्य जनता के रूप में फैलकर अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहा है, तो यह और भी सुखद बात है क्योंकि इससे जनता की चित्तवृत्ति का पता चलता है। अब संघर्ष उसके लिए अनिवार्य हो उठा है। वह बाहर न 'ताककर' अपने भीतर झाँकता है और लड़ाई लड़ने को तैयार है। इसी संघर्ष प्रधानता ने आज 'सौन्दर्य' को बहिरंगों से अलग करते जनता के संघर्ष पक्ष, उसकी आंतरिक स्थिति, उसके आत्म विश्वास से जोड़ दिया है। इसी की अभिव्यक्ति आज की हिन्दी कविता में यदि हो रही है तो हमारी सार्थकता है। इसी को मैं 'लोक सौन्दर्य' कहता हूँ। यही लोक जीवन का सौन्दर्य भी है, अन्यथा तो बड़ी से बड़ी लोक जीवन की अभिव्यक्तियाँ भी हिन्दी कविता का उद्धार नहीं कर सकती।

2- भक्तिकालीन सन्दर्भ-

भक्तिकाल के उदय की पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि 14वीं शताब्दी तक आते आते मुस्लिम शासन का आधिपत्य स्थापित हो चुका था और सम्पूर्ण उत्तर भारत में राजाओं-महाराजाओं के बीच का आपसी संघर्ष लगभग समाप्त हो चुका था। इस समय जो इस्लाम धर्म भारत में आया, वह एक मजहबी धर्म था जिससे उत्तर भारत की जनता के लिए बिल्कुल ही वह नया था और यही वजह रही कि उसके साथ इनका सामंजस्य बैठ पाना कठिन हो रहा था। इसी के साथ, उत्तर भारत की जनता के बीच, अपनी मजबूत स्थिति के विचार स्वरूप हिन्दू शब्द उत्पन्न हुआ और स्थिति यह रही कि इस्लाम की प्रतिक्रिया में 'जातिगत कठोरता और धर्मगत संकीर्णता" पूरे हिन्दू धर्म की मुख्य विशेषता बन गई। यह तात्कालिक प्रतिक्रिया थी जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू धर्म में नीच समझी जाने वाली जातियों के लिए मुस्लिम धर्म सबसे उपयुक्त लगा क्योंकि वहाँ जातिगत बंधन नहीं था और व्यक्ति से अधिक समुदाय का महत्व हुआ करता था। तब यह स्पष्ट होता है कि भक्तिकाल के आरम्भ में ही समाज संकीर्णताओं से ग्रस्त हो गया और ऐसी स्थिति में समझदार लोगों की जिम्मेदारी बनती थी कि समाज को इससे मुक्त करायें। **अतः पूरा भक्तिकाल इन्हीं संकीर्णताओं से मुक्ति का प्रयास है और इस मुक्ति के प्रयास में पूरा काव्य संघर्ष से समन्वय की ओर प्रवहमान होता रहा है जिससे लोकधर्मी चेतना का जितना स्पष्ट और तीव्र स्वर आरम्भ के संत कवियों में दिखाई पड़ता है उतना बाद के कवियों में (तुलसी आदि सगुण कवियों में) दिखाई नहीं पड़ता।** शायद इसका कारण यह भी रहा है कि समय के उत्तरोत्तर विकास में हिन्दू धर्म, शास्त्र संवलित होता गया है और अपने स्वभाव के अनुरूप लोक चेतना के प्रभाव में यह अपने को बदलता रहा है जिससे आगे हिन्दू

धर्म में जैसे जैसे ऊपरी स्तर पर संकीर्णताएँ शास्त्रानुमोदित होकर वैधता प्राप्त करती गई, लोकधर्म की संघर्षधर्मी चेतना भी क्षीण होती गयी। कवीर से तुलसी तक के काव्य में इसे यूँ देखा जा सकता है।

दरअसल आदिकाल का अंत और भक्तिकाल का आरम्भ, ऐसे सन्धिस्थल को जन्म देता है जहाँ एक ओर वीरगाथात्मक चरित्रों की तीव्रता मंदहोती हैं और सिद्धों-नाथों की लोकधर्मी चेतना तीव्र होती हैं जो परम्परा से ही चली आ रही थी और यह संयोग ही कहना चाहिए कि कबीर जैसा व्यक्तित्व 1400 ई0 के आस पास, उस नाथपंथियों की परम्परा में उत्पन्न होता है जो हठयोग के मार्ग से जन सामान्य की रुचियों के अनुरूप रही है, जिसमें वर्ष व्यवस्था, जातिगत विषमताओं, धर्मगत संकीर्णताओं के प्रति तीव्र आक्रोश रहा था। ठीक इसी समय इस्लाम धर्म के आगमन से जब हिन्दू धर्म और भी कठोर होता जाता है तो ऐसे समय में ऐसे प्रतिभाशाली कवि, समाजसेवी, व्यक्ति (जो भी कहेंगे) की जरूरत होती है जो उन सिद्ध-नाथपंथी योगियों के स्वर को ऊँची आवाज में कह सके। कबीर ने ठीक यही काम किया और उनके साथ सारे संत कवियों ने। इन कवियों के हाथों उस समय की दो प्रमुख समस्याओं-जातिभेद और धर्म भेद पर तीखा हमला किया गया और चूँकि हिन्दू धर्म ने, इन दोनों के औचित्य को "शास्त्र के आधार पर सिद्ध करने की कोशिश की थी इसलिए शास्त्र भी संत कवियों के 'आक्रोश' का कारण बना। तब यह ठीक ही है कि भक्तिकाव्य का मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक का ही था जिससे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी सहमत हैं। इसी समय सूफियों के द्वारा 'प्रेम' भाव का प्रभाव भी संत कवि कबीर पर पड़ा और रामानन्द के द्वारा 'राम राम' का महत्व बताये जाने पर 'भक्ति' का रूप ले लिया। इसी को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर के बारे में 'योग के थाले में भक्ति का बीज' कहते हैं। वस्तुत: यह 'भक्ति ही प्रेम भगति है और यह प्रेम भाव

भगति हैं।' इसी 'प्रेम' के आधार पर कबीर ने 'मनुष्यता' की बात उठाई और अपने ईश्वर को 'सर्व निरपेक्ष परम तत्व' कहा है जिससे उनका 'ब्रह्म' मुस्लिम के एकेश्वरवादसे अलग हो जाता है क्योंकि इस्लाम के अनुसार उसके ईश्वर के समान कोई दूसरी सत्ता नहीं, जबकि कबीर के अनुसार 'उसके राम के अलावा कोई है ही नहीं''। इसी 'राम' के आधार पर कबीर ने सामाजिक विषंगतियों पर जमकर हमला किया और लोकधर्म के प्राणधारा की रक्षा की। कबीर की यह आह्वान परकता, यद्यपि प्रतिक्रिया स्वरूप संबोधनात्मक ही रही, किन्तु इसने 'लोकधर्म' को विवेक सम्मत भी बनाया और नाथों-सिद्धों की परम्परा से चली आ रही सूक्ष्म वृत्तियों का जमकर प्रयोग किया। यहाँ तक आते आते ऐतिहासिक पौराणिक, लोक प्रधान सारे के सारे चरित अपनी नि:सारता को प्रमाणित कर रहे थे और वर्षों से दबी उपेक्षित जनता की आवाज अपनी बुलंदियों पर थी। अत: इस्लाम धर्म के सम्पर्क की तात्कालिक प्रतिक्रिया "भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने वाले" (आचार्यशुक्ल) पौराणिक चरित नायकों रूप में 'शास्त्र संवलित तात्विक दृष्टिसम्पन्न' न होकर परम्परा से चली आ रही सिद्धों-नाथों में "लोकधर्म" के 'ऐतिहासिक' संघर्ष धर्मी चेतना के रूप में प्रतिफलित हुई जिसने कबीर के रूप में निर्गुण 'राम' को आधार बनाया, जो किसी साम्प्रदायिक शिक्षा का आधार न होकर एक अदृश्य शक्ति की कल्पना थी, जिससे सम्पूर्ण मनुष्यता की भावना की रक्षा हो सके। हाँ, यह अवश्य है कि इसके कुछ समय बाद जब हिन्दू धर्म में भी कुछ लचीलापन आया, तब इस संघर्षधर्मी चेतना का प्रभाव कम हुआ और समन्वयवादी विचार प्रणाली का विकास होने लगा। इसी समन्वयवादी विचार के परिणाम स्वरूप एक ऐसे "महानायक" की जरूरत महसूस हुई जो समाज के विविध वर्गों, जातियों, वर्णों, धर्मों के बीच सम्पर्क सूत्र स्थापित कर समरस की भावना का संचार करे। ठीक इसी समय पौराणिक शास्त्रों की ओर ध्यान गया और सगुण भक्ति की भावना का उदय

हुआ। तुलसी का काव्य इसी समन्वयवादी, लोक चेतना का परिणाम रहा है, जिसमें 'संघर्ष' की भावना की जगह 'सामंजस्य' की भावना का संचार मिलता है। **नायक प्रधान काव्य की इससे अधिक कल्पना और क्या हो भी सकती थी। तब यह ठीक ही है कि भक्तिकाल में जैसे जैसे 'नायकत्व' की भावना का संचार होता गया, वैसे वैसे शास्त्र संवलित होकर 'काव्य सौन्दर्य' की मात्रा में विकास होता गया, किन्तु लोक सौन्दर्य (संघर्ष धर्मी चेतना) का भाव कम होता गया है।** कबीर जायसी, सूर, तुलसी में इसे देखा जा सकता है कबीर में जहाँ सामाजिक व्यवस्था के भीतरी विषंगतियों पर सीधे चोट की गई है, रूढ़िवाद का विरोध किया गया है, वहाँ तुलसी में सामाजिक व्यवस्था (लोकपक्ष) का चित्रण भर मिलता है। कबीर सब कुछ को छोड़कर मनुष्यमात्र को केन्द्र में रखकर चले थे, तुलसी सब कुछ को मानकर 'अलौकिक सत्ता' में विश्वास व्यक्त किये थे। कबीर भेद-भाव को ही नष्ट करना चाहते थे, तुलसी इनके रहते इनके बीच किसी समन्वय के मार्ग को ढूढ़ रहे थे। (तब कबीर जहाँ आधुनिक समय में अम्बेदकर के निकट होते हैं, वहीं तुलसी गाँधी के)। स्पष्ट है पहला पूरे समाज को बदलना चाहता था जबकि दूसरा समाज जैसा है, उसी के भीतर से मार्ग तलाश रहा था। इस कारण पहला जहाँ प्रगतिशील था दूसरा अपनी मूल चेतना में यथाचित्रणवादी। इस सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि "उनकी प्रतिभा (तुलसी की) अधिकतर उपलब्ध प्रसंगों को लेकर चलने वाली थी, नये नये प्रसंगों की उद्भावना करने वाली नहीं। उनकी कल्पना वस्तु स्थिति को ज्यों की त्यों लेकर उसके मार्मिक स्वरूपों के उद्घाटन में प्रवृत्त होती थी...."[11] इससे स्पष्ट है कि तुलसी में जैसा है, प्रसंग वैसा ही होता है, यह बात और है कि उसके भीतर घुसकर उसके और 'जैसे तैसे' स्वरूपों का उद्घाटन किया जाता है। मतलब कि प्रत्यक्ष को और भी अधिक पारदर्शी बनाना! विषम की विषंगति को और भी

उद्घाषित करना। इसी कारण आचार्य शुक्ल तुलसी के जिस लोक धर्म की तारीफ करते नहीं थकते और इनके "प्रादुर्भाव को हिन्दी काव्य के क्षेत्र में चमत्कार समझते भारतीय जनता का प्रतिष्ठित कवि कहते हुए इनके भीतर व्यक्तिगत साधना के साथ लोकधर्म (लोकपक्ष) की उज्ज्वल छटा देखते काफी मुग्ध होते हैं", (हिन्दी साहित्य का इतिहास) वह काव्य सौन्दर्य के कारण चाहे जितनी महान हो, किन्तु लोक धर्म की संघर्ष धर्मी चेतना की क्षीण प्रवृत्ति के कारण बाद के समय के लिए बहुत महत्वपूर्ण नहीं लगती। ध्यान देने की बात है कि मैंने यहाँ पर उनके 'सौन्दर्यपक्ष' को नकारा नहीं है। केवल लोक प्रसूत सर्जनात्मक परिवर्तन की बात को उठाया है। तब तुलसी एक कुशल 'लोक व्यवस्थापक' ही हैं और अधिक से अधिक यही हो सकते थे। कारण फिर वहीं, कि लोक धर्म, उनके लिए आर्य धर्म वर्णाश्रम धर्म ही था, जिसका मूल उद्देश्य ही 'वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वेद विहित कर्म, शास्त्र प्रतिपादित ज्ञान इत्यादि के साथ सामंजस्य स्थापित करके आर्य धर्म को छिन्न भिन्न होने से बचाना है" (तुलसी, रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 19)। तुलसी के बारे में आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि "संसार जैसा है, वैसा मानकर उसके बीच से एक कोने को स्पर्श करता जो धर्म निकलेगा वही धर्म लोकधर्म होगा" (तुलसी, पृ0 19) तब यह ठीक ही है कि तुलसी में यथा चित्रण का आग्रह अधिक था। **दरअसल तुलसीदास पौराणिक चरित्रों के माध्यम से सामाजिक संरचना को देख सकते थे, जबकि सामाजिक संरचना के भीतर से चरित्रों (लोक) का विकास किया जाना चाहिए। यही कार्य आगे आधुनिक समय में निराला ने किया। इस रूप में निराला, तुलसी के क्रम को यूँ उलटते हैं।** बहरहाल इन दोनों के बीच सूफी कवि जायसी और सगुण कृष्णभक्त सूरदास का काव्य मिलता है। इन दोनों ने 'प्रेम' भाव के आधार पर लोक चेतना को जिलाये रखने की कोशिश की है। जायसी के सामने सबसे बड़ी समस्या हिन्दू-मुस्लिम एकता

की थी जिसके लिए उन्होंने 'हिन्दू' समाज में परम्परा से चली आ रही 'लोकप्रिय कथाओं' को आधार बनाया, जिसमें 'हृदय पक्ष' पर बल देकर प्रेम की भावना का संचार कराया और हृदय की समान अवस्था के आधार पर मनुष्यता के भाव की रक्षा की। जायसी के समक्ष न तो जातिगत भेद प्रमुख थे और न ही शास्त्रगत कसौटी। इनके सामने धर्मगत संकीर्णताएँ प्रमुख थीं जिसको दूर करना इन्होंने जरूरी समझा, क्योंकि समाज में बँटे इन दो धर्मों के बीच भावना का संचार होना, इनके लिए लोकहित में जान पड़ा। तब यह भी ठीक है जायसी ने जहाँ संयत भाव का परिचय देते, बगैर किसी प्रतिक्रिया व खीझ के हिन्दू मुस्लिम के बीच एकता का भाव प्रदर्शित किया, वहीं कबीर ने झाड़-फटकार, अक्खड़ता, फक्कड़ता के माध्यम से इसे अर्जित करने की कोशिश की, जिससे प्रतिक्रियाजन्य निषेधात्मक प्रतिरूप ही जन्म ले सके और जितनी तेजी से ये भाव व्यक्त हुए, उतनी ही तेजी से इनका प्रभाव भी जाता रहा। शायद ये अपने प्रभाव में लोकधर्मी होते हुए भी अपनी परिणति में संयत होकर बहुत दूरगामी न हो सके, क्योंकि वर्षों से चली आती व्यवस्था को क्षणिक भावोन्माद से बदलना न तो उचित था और न ही संभव। उसके लिए जिस संयम धैर्य व प्रतीक्षा की जरूरत होती है वह कबीर में निश्चय ही न थी। (जबकि तुलसी में यह धैर्य था, किन्तु उनमें उपेक्षित जनता के द्वारा संघर्ष को प्रत्यक्ष करने की ताकत न थी। लोकोन्मुखता थी लेकिन उसमें लोकचित्रण अधिक था, निर्णयात्मक कम। चित्र से अधिक चित्रण था और भाव से अधिक भावना थी। जाहिर है चित्रण व भावना के द्वारा केवल चीजों को सलीके से रखा ही जा सकता था, उनके बीच एक व्यवस्था दिखाई जा सकती थी। उनके बीच समन्वय से अधिक समानता स्थापित कर पाना संभव न था)। इसी को देखते आचार्य शुक्ल ने कबीर व जायसी की तुलना करते कहा है कि "कबीर ने अपनी झाड़ फटकार से हिन्दुओं और मुसलमानों के कट्टरपन को दूर करने का

ो प्रयास किया है वह अधिकतर चिढ़ाने वाला सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करने वाला नहीं। मनुष्य मनुष्य के बीच जो रागात्मक संबंध है, ~~वह उसकी कभी किया करता है,~~ ~~उसी~~ उसकी अभिव्यंजना उससे न हुई। कुतुबन, जायसी आदि इस प्रेम कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक सा प्रभाव पड़ता है। हिन्दू हृदय और मुसलमान हृदय आमने सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। यह जायसी द्वारा पूरी हूई।"[12]

दूसरी ओर जब हम *सगुण कृष्णभक्त कवि सूरदास* पर विचार करते हैं तो स्पष्ट होता है कि इनके सामने हिन्दू-मुस्लिम धर्म के विभाजन जैसी समस्या न थी। उस समय तक समाज स्थिर हो चुका था और ऐसी स्थिति में जातिगत विद्वेष, धर्मगत संकीर्णता की भावना भी न थी। ऐसा नहीं कि समाज में यह सब प्रवृत्तियाँ उपस्थित न थीं किन्तु इनके लिए (सूरदास) यह सब महत्व की न थी। शायद इसका कारण यह भी था कि उस समय तक निर्गुण सम्प्रदाय का इतना जोर था कि यही समस्या सूरदास के लिए प्रमुख हो गई थी। प्रेम की नीरस उक्तियों के आधार पर, कपोल कल्पित कहानियों के आधार पर मनुष्य के हृदय में भावना का संचार करना इन भक्त कवियों को अच्छा न लगा। सूरदास तक आते आते एक घटना यह भी हुई कि कबीर में व्यक्त नाथ-सिद्ध योगियों की लोकधर्मी चेतना समाप्त हो चुकी थी, जिससे आगे इसके विकास का अवकाश न रहा। तब ऐसी स्थिति में आदिकाल की 'चरित भावना' को

प्रस्फुटित होने का अवसर मिला जो अब इतिहास प्रसिद्ध, लोक चरित्रों से ऊपर उठकर पौराणिक ऊँचाई को छूने लगी, क्योंकि मनुष्य-मनुष्य के बीच सरस भावना का संचार करने के लिए नायक के रंजक पक्ष की कल्पना की गई जिसकी सहायता तुरंत ही शास्त्रों ने की। (आगे यह चरित्र तुलसी में और भी उदात्त हो गया, जहाँ लोक रंजक के साथ रक्षक के नायक की भी बात उठी) परम्परा से चली आ रही ऐतिहासिक घटनाओं (सिद्धों नाथों की हठवादिता, हिन्दू मुस्लिम धर्म भेद आदि) का संकोच, यूँ चरित्रों के उभार में सहायक होता है और लोक रंजक की भूमिका तैयार करता है। सूर के समय में निर्गुण संत संप्रदाय की बातें जोर शोर से चल रही थी[13] जिससे 'भ्रमरगीत' में सूरदास ने सगुणोपासक का निरूपण बड़े ही मार्मिक ढंग से किया है, यद्यपि भागवत में यह (सगुण-निर्गुण प्रसंग) प्रसंग नहीं है। इसी रंजक रूप के कारण परम्परा से चले आते जयदेव, विद्यापति व चण्डीदास के गीत इनको तैयार शुदा माल के रूप में मिलते हैं। कृष्ण चरित के गान में गीतकाव्य की जो धारा पूरब में जयदेव व विद्यापति ने बहाई उसी का अवलम्ब ब्रज के भक्त कवियों ने भी किया, ऐसा आचार्य शुक्ल ने कहा है।[14] यद्यपि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सूरदास की ब्रजभाषा (पश्चिमी) पर इन पूर्वी भक्त कवियों का प्रभाव नहीं स्वीकारते और कहते हैं कि पश्चिमी भारत में कृष्ण लीला परम्परा पहले से ही वर्तमान थी और दीर्घकाल से इस प्रकार के पद (तानसेन और बैजू बावरा के पद) जनता में प्रचलित थे जिनमें श्रृंगार और धर्म की प्रधानता थी। श्रृंगार व धर्म के लिए रचे जाने वाले इन पदों को सूरदास ने नया स्वर दिया..... जिसमें भगवान की लीला की प्रमुखता हो गई और ऐकांतिक भक्ति का प्राधान्य प्रतिष्ठित हुआ[15] पर एक बात तो निश्चित ही है कि शुक्लजी और द्विवेदी जी दोनों ही लोग कृष्ण काव्य की पूर्ववर्ती परम्परा को स्वीकारते हैं। डा0 रामविलास शर्मा के अनुसार जयदेव-विधायति से भिन्न द्विवेदीजी सूरदास का सम्बन्ध वामाचारी

सिद्धों के पदों से जोड़ते हैं। द्विवेदीजी का मत है कि ऐसे पदों का प्रयोग निर्गुण उपासक करते आ रहे थे, इन्हें सगुण रस से सरस करना सूरदास का ही काम था[16] और डा0 शर्मा इस मत का जबरदस्त प्रत्याख्यान करते शुक्लजी के साथ ही खड़े होते हैं, फिर भी स्थिति इतनी तो स्पष्ट ही है कि सूरदास को गीत परम्परा से ही प्राप्त थे जिसमें इन्होंने भगवान के लीलामय रूप की विविध रूप में प्राण प्रतिष्ठा कर लोक जीवन को सरस बनाने की कोशिश की। इसी के साथ, इन्होंने लोक रूढ़ियों से भी विद्रोह किया और प्रेम के सहज उच्छवास की अभिव्यक्ति की। तन्मयता के आधार पर हृदय को जोड़ा जिससे जाति-भेद, धर्म आदि की संकीर्ण मान्यताओं से काव्य ऊपर उठा। 'नवीन प्रसंगों की उद्भावना' द्वारा प्रेमलीन नाना अनुभूतियों की व्यंजना की (शुक्लजी)। **अतः वस्तु के धरातल पर 'मिथक का सहारा लेकर भी लोक उपमानों के माध्यम से इन्होंने जो रचनाएँ दी उनका लोकधर्म (विद्रोह) अप्रतिम है और इसी से लोक सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है।** इनका लोक जीवन, अपने सीमित दायरे में क्रियाशील है और क्रियाशीलता की ऐसी ही अभिव्यक्ति कविता में लोक सौन्दर्य का कारण हुआ करती है। इनकी कविता लोक जीवन से गृहीत अनुभूतियों की कविता है। इस कविता के सारे आध्यात्मिक संकेतों को निकाल दिया जाय, उसके साम्प्रदायिक आशयों तथा धार्मिक-दार्शनिक निरूपणों को भी तरजीह न दी जाय, उसे महज संसार सागर की रूप तरंगोंसे प्रभावित होनेवाली, उसी से प्रेरणा लेने वाली, विशुद्ध मानवीय और विशुद्ध लौकिक अनुभूतियों की कविता के रूप में स्वीकार किया जाय तो भी लोक जीवन के बहु आयामी सौन्दर्य का जो अक्षयकोष उसमें है, मानवीय जीवन के हर्ष विषाद का जो आख्यान उसमें है, लोक की पीड़ा और उल्लास के जोर स्वर उसमें है, मात्र इन सबके बल पर ही किसी भी सहृदय के मन पर अमिट छाप छोड़ने में समर्थ है[17]। तब यह ठीक ही है कि 'मनुष्यता

के सौन्दर्यपूर्ण एवं माधुर्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर इन कृष्णोपासक भक्त कवियों ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया या कम से कम जीने की चाह बनी रहने दी[18]। यह दूसरी बात है कि प्रेमलक्षणा भक्ति ने अश्लीलता का प्रवृत्ति भी जगाई (आचार्य शुक्ल)।

इन विशेषताओं के बावजूद यह कहना ठीक ही है कि सूरदास और कृष्णोपासक कवियों में प्रेम का ऐकांतिक पक्ष ही अपनी पूरी गहराई में उद्भूत हो पाता है। ये (सूरदास) अपने भाव में मगन रहने वाले व्यक्ति थे। संसार में क्या हो रहा, लोक की प्रवृत्ति क्या है, समाज किस ओर जा रहा है, इन बातों की ओर इन्होंने अधिक ध्यान न दिया।[19] लोकपक्ष (सामाजिक-पारिवारिक स्थिति) भी इनके यहाँ नहीं मिलता। लोक रक्षक (नायक की विशेषता) का भाव भी अनुपस्थित है। जिस समय में लोगों में 'झूठी शान, थोथी मानप्रियता और उद्देश्यहीन धर्माचार का बोलबाला था, (उस समय) भावुक सूरदास विरक्ति का अनुभव कर रहे थे[20]। यही इनका दोष है क्योंकि मनुष्य को पूर्ण रूप से सजग बनाने के लिए ऐसे साहित्य की आवश्यकता होती है, जो उसे कर्त्तव्यपथ पर चालित करे और जीवन के प्रत्येक संघर्ष में विजयी होने के लिए उमंग संचारित करे। (यह काव्य) वर्तमान काल के संघर्ष संकुल जीवन में नई प्रेरणा नहीं दे सका।[21]

तब इस पृष्ठभूमि में 'नायक' को लेकर सगुण भक्ति के लोक रक्षक स्वरूप का उदय तत्कालीन समय की जरूरत रही थी। तुलसी के उदय की यही पृष्ठभूति है। इस समय के (16वीं शताब्दी 1575 से रामचरित मानस लिखा जा रहा था) समाज में नाना भाँति के परस्पर विरोधी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार-विचार, पण्डित-पाखण्डता, मिथ्या आत्मविश्वास, ऊँच-नीच भाव आदि स्थिरता प्राप्त कर चुके थे और मुस्लिम प्रभाव से हिन्दू धर्म भी आत्म रक्षा के भाव से अनावश्यक रूप से कठोर हो चुका था। यूँ कबीर के समय से जो प्रक्रिया आरम्भ हुई थीं, वह तुलसी तक

आते आते स्थिरता प्राप्त कर चुकी थी और इसे अब और भी विषम होते जाने की कोई संभावना नहीं बची थी। इसके साथ निर्गुण-सगुण रूप में बटे धर्म की स्थिति तो थी ही, साथ साथ शास्त्र-लोक के बीच के विभेद भी स्थिरता प्राप्त कर चुके थे। ऐसी स्थिति में किसी ऐसे 'नायक' की कल्पना करना ही संभव था, जो इन सभी विभाजित स्थितियों में 'समन्वय' स्थापित कर सके और जाहिर है इसके लिए जरूरी था शास्त्र व लोक, दोनों का पूर्व ज्ञान। तुलसीदास में यह प्रतिभा थी और रामानन्द की परम्परा में बाबा नरहरिदास से जो राम की कथा सुनी थी, उसे अपनी प्रतिभा के आधार पर उदात्त सगुण स्वरूप प्रदान किया जिससे 'नायक' का उभार देखते ही बनता है। मनुष्य के रूप में ईश्वर का अवतार ही उन विषम परिस्थितियों की माँग थी जिसे 'कथा' के आधार वर्तमान की परिस्थितियों से जोड़ दिया। ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत साधना के साथ लोकपक्ष (पारिवारिक व सामाजिक स्थितियों) का भी विषद चित्रण इनके काव्य में हुआ, जो कि सूरदास में उपेक्षित रह गया था। कबीर की 'गलदश्रु भावुकता' (हजारी प्रसाद द्विवेदी) इनमें न थी, जिससे इनमें अभिव्यक्ति का संयम भी दिखाई देता है। अपने समय में प्रचलित सभी काव्य पद्धतियों को पचाकर इन्होंने अद्भुत 'ग्राहिका शक्ति' का परिचय दिया था। इतनी बड़ी पहचान दृष्टि व सूक्ष्म अंतर्दृष्टि के साथ तुलसी का आविर्भाव एक ऐतिहासिक घटना थी जिसके द्वारा उनमें केवल लोक और शास्त्र का समन्वय नहीं है, वैराग्य व गार्हस्थ का, भोक्ता और ज्ञान का, भाषा और संस्कृति का, निर्गुण और सगुण का, पुराण एवं काव्य का, भावावेग और अनाशक्त चिंतन का, ब्राह्मण और चाण्डाल का भी समन्वय है[22]। इसके साथ यह भी ध्यान देने की बात है कि तुलसी में कथाकाव्य के सम्पूर्ण अवयवों, प्रसंगानुकूल भाषा के साथ साथ 'कथा के मार्मिक' स्थलों की पहचान के लक्षण भी मिलते हैं और 'तुलसी' की लोकप्रियता के लिए यहीं 'मार्मिक स्थल' ज्यादे उत्तरदायी हैं क्योंकि ये

सम्बन्धों व स्थितियों के सहज भाव से उद्भूत होते हैं। इतने आदर के बावजूद यह तो कहना ही पड़ता है कि 'कथा' से इतर वर्तमान समय की स्थितियों के प्रसंग में वे 'चित्रण' पर अधिक बल देते हैं जिससे लोक जीवन में उपेक्षित जनता के संघर्ष का पक्ष दब सा जाता है। केवल उनकी कारुणिक अवस्था का बोध भर होता है। मध्यकाल की संकीर्णताओं से मुक्ति के प्रयास में तुलसी का काव्य यूँ संकीर्णताओं का चित्रण भर बनकर रह जाता है। यह तुलसी के समन्वयवादी दृष्टिकोण की अंतर्निर्हित (inherent) कमजोरी है। अपनी मूल चेतना में यह लोकोन्मुखी होने के कारण भी लोक जीवन के ठोस यथार्थ को देखते उसे निर्णायक भूमिका नहीं दे पाता। अपने चरितनायक को अलौकिक सत्ता से अभिमंडित करने का परिणाम यही रहा कि सामान्य आदमी के द्वारा नायकत्व (संघर्षधर्मी) स्वीकार करने का विकल्प ही बन्द हो गया। सब कुछ का निदान उसी अलौकिक सत्ता के द्वारा ढूँढ़ा जाने लगा जिससे लौकिक सत्ता की संभावनाएँ क्षीण हो गई। तब यह ठीक ही है कि सूरदास में अनुपस्थित "लोकपक्ष" तो तुलसी में मिलता है, किन्तु सूरदास का प्रेम आधारिक रूढ़ि विरोधी (संघर्ष) पक्ष तुलसी में अनुपस्थित हैं। यूँ सूरदास का नायक जहाँ ऐकांतिक प्रेम से उद्भूत है, वहीं तुलसी का नायक लोकपक्ष का विराट स्वरूप है। यही 'नायक' आगे रीतिकाल में शक्तिमान तो रहता ही है, श्रृंगारिका भी बन जाता है और प्रेम का व्यापार उसकी समस्त अलौकिक सत्ता में दरबारों में कैद हो जाता है। समाज के सम्पूर्ण जीवन को आलोकित करने वाली यह विराट चरित्र आगे दरबारों को ही आलोकित करने वाला बन जाता है और ऐसा 17वीं शताब्दी में घटनाओं के बाहुल्य के कारण होता है जहाँ मुस्लिम साम्राज्य का पतन शुरु हो जाता है जिसकी चर्चा मैंने पीछे की है। *लोक नायक से दरबार नायक बनने की यह प्रक्रिया शोध का एक अलग विषय है।*

ऊपर के विवेचन की पृष्ठभूमि में अब यदि हम निर्गुण संत भक्तों (कबीर) से

लेकर सगुण राम भक्तों (तुलसी) तक के भक्तिकालीन विकास प्रक्रिया का सूक्ष्म पर्यालोचन करते हैं, तो यह पता चलता है कि संत कवि का लोक जहाँ विशेष (तात्कालीन, समय सापेक्ष, अनुभव जन्य) था, वहाँ सगुण भक्त कवि का कुछ कुछ सामान्य था। तब सबल और निर्बल दोनों ही थे। कबीर का 'लोक' जहाँ 'विशेष' (तत्कालीन) होने से अपेक्षाकृत गतिशील था, वही यह भी था कि 'लोक' की किसी सर्जनात्मक सत्ता का पता नहीं चल पाता था, क्योंकि ये कवि 'लोक' के भीतरी मर्म (सामान्य) तक पहुँच ही न सके थे। दूसरी तरफ तुलसी का लोक जैसा है, वैसा न होकर जैसा होना चाहिए कुछ कुछ इस भावना संचालित था और ऐसा उनकी शास्त्रीय दृष्टि के कारण था, जिससे वर्तमान को भी वे उसकी परम्परा और ऐतिहासिकता में देखते थे। *तब यह ठीक ही है कि तुलसी का लोक कबीर की तुलना में 'आत्मानुभूत' से अधिक 'आत्म-शास्त्रानुभूत' हो जाता है जिससे लोक की अनगढ़ता उसकी प्रवहमानता से अधिक उसका व्यवस्थागत चित्रण अधिक होने लगा।* इस रूप में वे लोक 'सामान्य' सत्ता तक पहुँचकर उसके भीतरी मर्म को पहचानकर इसके निषेधात्मक रूपों को बताते तो रहे थे किन्तु लोक की विशेष सत्ता का पक्ष उपेक्षित रह गया जिससे उसका गतिशील पक्ष (स्वानुभूत, वैविध्यपूर्ण, संघर्ष...) पहचानने का संकट भी छा गया। जाहिर है 'लोक' की वह 'गतिशीलता', जिसमें वस्तु के भीतरी ही दृष्टि का विधान मिलता है, तुलसी में कम हो जाती है। शायद यही कारण है कि कबीर का यही लोक आधुनिक काल में निराला की संवेदना के अधिक निकट होता है जहाँ बहुवस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा से अपने अनुभवों को व्यक्त किया गया है। प्रगतिवाद का वह (शास्त्र निरपेक्ष) विद्रोह भी, यही से प्रभावित है जो पुन: साठोत्तरी कविता में फूट पड़ता है। अब निराला संवेदना के धरातल पर कबीर के निकट होते हुए भी, कबीर की चर्चा कहीं नहीं करते, यह एक अलग से अध्ययन का विषय हो सकता है, किन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा

वे अपनी छोटी कविताओं में संवेदना के धरातल पर कबीर के निकट है और संप्रेषण के धरातल पर तुलसी के। संभव है काव्य की उत्कृष्टता निराला को संप्रेषण के धरातल पर अधिक महत्वपूर्ण लगी हो, जिससे तुलसी की प्रशंसा करते नहीं थकते जहाँ संप्रेषण की काव्य क्षमता निश्चय ही अचूक है। किन्तु जहाँ तक लोकधर्मी चेतना की बात है, तो इसका प्रतिनिधित्व उनकी छोटी कविताएँ ही करती हैं। **यह भी एक अंतर्विरोध है कि निराला स्वयं कबीर की चेतना के निकट होकर भी खड़े तुलसी के साथ ही हैं।** क्या यह नहीं है कि निराला का व्यक्तिगत जीवन (ब्राह्मण, बावजूद इसके दर-ब-दर ठोकरें खाया, आर्थिक कठिनाई से गुजरना....) तुलसी के निकट होता है जबकि चिंतन (आक्रोश) कबीर के। जीवन व चिंतन के द्वन्द निराला में यूँ देखा जा सकता है। बहुत इच्छा रखते हुए भी इसका अध्ययन प्रस्तुत विषय के अन्तर्गत नहीं हो सकता। *संभव है निराला में किसी 'तीसरे प्रतिमान' की संभावना हो।*

इसी पृष्ठभूमि में भक्तिकालीन साहित्य के बारे में यह स्पष्ट ही है कि लोकोन्मुखी होते हुए भी यह लोक साहित्य नहीं है, क्योंकि रचनात्मक सतर्कता, कलात्मक सौष्ठव और भक्तिभावना की व्यक्तिगत अभिव्यक्तियों से यह काल पटा पड़ा है। वास्तव में आदिकाल का लोक जीवन जहाँ व्यक्तिगत अनुभूतियों एवं प्रेम प्रसंगों तक ही सीमित था, भक्तिकाल में इसमें पारिवारिक और सामुदायिक भावना के 'लोकपक्ष' का भी समावेश हो जाता है और आधुनिक काल तक आते आते इसमें सामाजिक हित चिंतन और सर्जनात्मक कार्य कौशल की भावना प्रवेश करती है, क्योंकि आधुनिक काल में 'नवजागरण साहित्य को सबसे पहले लोक से जोड़ता है, फिर लोक को राष्ट्रीयता' (डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी) से जिसमें संघर्ष प्रधानता पाता जाता है। यह हम आसानी से देख सकते हैं कि समाज जैसे जैसे आधुनिक काल की ओर बढ़ता जाता है, वैसे वैसे लोक मानस

आध्यात्मिकता के गाढ़े रंग से हल्का होता जाता है और 20वीं शताब्दी में निरा मनुष्य हमारे चिंतन के केन्द्र में आ जाता है, यद्यपि लोक मानस का संघर्ष अभी शुरु होना बाकी था और वह हिन्दी कविता के मुक्त छंद के साथ आरम्भ होता है, क्योंकि लोक की मुक्ति में ही छंद मुक्ति का संकेत मिलता है। लोक मानस को जड़ बनाती जब 'बाहरी आस्था डगमगाई, तब कविता में छंद का बंधन भी शिथिल हो गया और संघर्ष के माध्यम से लोक मानस जिस रास्ते पर बढ़ा, कविता की आंतरिक लय में भी वह अभिव्यक्ति पाता रहा। आधुनिक कविता का सौन्दर्य बाहरी लय में नहीं, बल्कि आंतरिक में फूट पड़ा। तब जाहिर बात है इस आंतरिक संगति में उपेक्षित जनता, सामान्य जीवन की वाणी का स्वर भी मुखरित हुआ और 'यूनिटों' का हित चिंतन, होने लगा। कविता की इस आंतरिक संगति ने सामाजिक जीवन को लोकोन्मुखी बनाया, या फिर समय के दबाव से प्रसूत लोकोन्मुखता ने आंतरिक संगति को कविता का मुख्य स्वर बनाया, बात एक ही है कि समाज व कविता में अजब ढंग से समन्वयकारी सम्बन्ध (harmonical relation) स्थापित हुआ। यूँ पूरे हिन्दी कविता के इतिहास में जिस एक आदमी के द्वारा यह सम्बन्ध पहली बार लोकधर्मिता के सच्चे अर्थों में स्थापित हुआ, वह महाकवि निराला ही हैं। इन्हीं की कविता सच्चे 'लोक सौन्दर्य' का प्रतिनिधित्व करती है। **धन्य है वह कवि जिसके अकेले के अध्ययन से उसके पूर्ववर्ती समूची काव्य प्रक्रिया का ठीक ठीक पता चल जाता है और धन्य हैं वे लोग, जिनको इतनी बड़ी प्रतिभा विरासत में मिली (परवर्ती काव्य के सन्दर्भ में)। हम तो ऐसे कवि के अध्ययन से धन्य हैं और धिक्कार है उन्हें जिन्होंने हिन्दी कविता के सम्पूर्ण वाङ्गमय को मथा और निराला को नहीं पढ़ा।**

भक्तिकाल के बारे में सोचते यह हमने पहले लिखा है कि पूरा भक्तिकाव्य संकीर्णताओं से मुक्ति की इच्छा का परिणाम रहा है। साथ में यह भी कहा है कि जैसे जैसे ये

संकीर्णताएँ स्थिरता को प्राप्त होती गयी, इनसे मुक्ति की छटपटाहट का संघर्षधर्मी स्वरूप हल्का पड़ता गया। यह भी विचित्र लगता है कि पूरे "भक्तिकाल की मूल समस्या मनुष्य को मनुष्य के धरातल पर प्रतिष्ठित करने की भावना से संचालित है। एक प्रकार से उसकी मनुष्यता का उद्घोष हैं।" बावजूद इसके जाति, धर्म, वर्ण आदि में विभाजित उस समाज में उस सामान्य आदमी का मूर्त रूप स्पष्ट होना बाकी रह गया था जो आधुनिक काल के शिष्ट समाज में पहचाना गया, जहाँ 'वर्ग' ने पिछले सारे शब्दों को आत्मसात कर लिया। सच्चे मनुष्य की खोज तो भक्तिकाल में न हो सकी। हाँ कवियों को उसकी 'कामना' मात्र से संतोष करना पड़ा। 'नायकों' के ऐश्वर्य, बल, शक्ति के माध्यम से सामाजिक विषंगतियों को दूर करने की कोशिश तो रही, किन्तु उस नायक के माध्यम से जन-सामान्य के बीच उस आम-आदमी की प्राण-प्रतिष्ठा का भाव शेष रह गया। यूँ भी यह तो ठीक ही है कि भक्तिकाल का लोक शास्त्र की तुलना में और उसके समानान्तर भी अपना विकास कर रहा था, जिससे उसमें मंडन से अधिक खंडन का भाव ही प्रधान रहा। **शास्त्र की सापेक्षता में लोक का यह 'प्रवाह' केवल छीजती मनुष्यता के ऊपरी मर्म तक ही चोट कर पाया। मनुष्य की वास्तविक पहचान और मनुष्यता का भीतरी सच्चा मर्म अभी तक स्पष्ट नहीं पाया था जो आधुनिक काल में ही हुआ जहाँ शास्त्र की जगह अब शिष्ट का बोध व्याप्त हो गया।** यूँ भी आधुनिक काल में 'वर्ग' के स्थान लेने से ऊपरी ढाँचा कुछ कुछ सभ्य व शिष्ट होने का भाव संप्रेषित करने लगा, जिससे शास्त्र की पुरानी प्रतिक्रियावादी धारा क्षीण तो अवश्य हुई, किन्तु इस शिष्ट ने लोक से भी बहुत ग्रहण करना शुरु किया। 'शास्त्र' का 'शिष्ट' में यूँ रूपांतरण चकित तो करता है किन्तु दिग्भ्रमित नहीं। इसके रूपांतरण की बारीक प्रक्रिया का संकेत *आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी* ने किया है कि 'लोक के दबाव में शास्त्र ने कभी कभी अपने

आपको इतना लचीला बनाकर लोक की बहुत सी विशेषताओं को अंतर्भुक्त कर लिया' जिसपर डा0 नामवर सिंह ने बहुत ही सटीक टिप्पणी की है: 'भारतवर्ष में उच्च वर्ग के इस वैचारिक लचीलेपन और समझौतावादी रुख का ही यह परिणाम रहा है कि हिंसात्मक विद्रोह की स्थितियाँ बहुत कम उत्पन्न हुई...[23]। तब यह कहना शायद बहुत अनुपयुक्त न लगे कि आधुनिक समय में वर्ग विभाजन की तीव्रगामी प्रक्रिया के फलस्वरूप जैसे जैसे उपेक्षित मनुष्य की पहचान 'मूर्त' होती गई है, वैसे वैसे ऊपरी स्तर पर बैठे शिष्ट मनुष्य के खोखलेपन व बेहयाई की पोल भी खुलती रही है। तब यह ठीक ही है कि शिष्ट के लगातार बदलते जाने के पश्चात भी सामान्य आदमी की संघर्षधर्मी चेतना और उसके परिवेश में हस्तक्षेप की पहचान की भावना कम नहीं होती गई है। मध्यकाल व आधुनिक समय की संवेदना का यह एक मौलिक फर्क है।

उपर्युक्त विश्लेषण के पश्चात अंत में यह बतला देना जरूरी है कि यहाँ हमने भक्तिकाल के मूल मिजाज (temper) का ही विश्लेषण किया है जिससे इसकी 'प्राणधारा' का पता चल सके। जाहिर है इसके लिए हमने केवल प्रतिनिधि कवियों को ही चुना है और उन्हें उनके 'ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य' में देखने समझने की कोशिश की है। अन्य कवियों तथा पूरे भक्तिकाल के तात्विक स्वरूपों का अलग-अलग अध्ययन न तो संभव था और न ही विषय के अनुरूप।

3- रीतिकालीन सन्दर्भ-

जैसाकि हम जानते हैं, भक्तिकाल के ठीक पहले का साहित्य आश्रयदाता राजाओं के गुण कीर्तन, काव्यगत रूढ़ियों पर आधारित साहित्य था जिसका प्रधान लक्ष्य था : राज संरक्षण कवि यश, वाक्सिद्धि आदि। भक्तिकाल में यह लक्ष्य बदला और संकीर्णता से मुक्त होते जाने की प्रक्रिया में भक्ति साहित्य का विकास हुआ जिसके फलस्वरूप एक ओर निर्गुण भक्त कवियों का उदय होता है तो दूसरी ओर सगुण भक्त कवियों का। तब ठीक ही है कि 'इस काल का हिन्दी साहित्य उर्ध्व बाहु होकर घोषणा करता है कि लक्ष्य बड़ा होने से साहित्य बड़ा होता है। जिस दिन हिन्दी साहित्य इस तथ्य को भूल गया और सूक्तियों को लेकर खिलवाड़ करने के चक्कर में पड़ गया, इसी दिन से साहित्य की अध:पतन शुरु हो गया।[24] इसी बड़े लक्ष्य से भटकने का परिणाम रहा हैकि रीतिकालीन कविता में हिन्दी कविता की प्राणदारा ही सूख सी गई। जिससे संप्रेषण का माधुर्य तो रहा, किन्तु 'भाव' में वह दीप्ति, प्रखरता व जीवंतता नहीं रही जो भावी समय को प्रेरित कर सके। यूँ भी जब कोई काल, अपनी मूल प्राणधारा से कटकर अपना राम अलापता है, तब वह कैसे आगे के साहित्य के लिए किसी प्राणधारा को दे सकेगा। जाहित बात है जब 'भाव' की प्रधानता ही नहीं रहेगी तब काव्य से अधिक सूक्तियों का सृजन होगा। इसी को लक्ष्य करके शुक्लजी ने लिखा है कि बहुत से लोग काव्य और सूक्ति को एक ही समझा करते हैं। पर इन दोनों का भेद सदा ही रखना चाहिए। जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागृत कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना, वैचित्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति'[25] इसी आधार पर बिहारी के बारे में आप लिखते हैं कि विशुद्ध काव्य के अतिरिक्त बिहारी ने सूक्तियाँ भी बहुत सी कही है

"(इतिहास) इससे यह पता तो चलता ही है कि भक्तिकाल में वास्तविक काव्य का सृजन संभव हो सका जो अपनी मूल चेतना में लोकोन्मुखी ही रहा। यह बात दूसरी है कि निर्गुण भक्त कवियों के हाथों लोक का भाव जिस खीझ व बेचैनी के साथ व्यक्त हुआ, उसे एक संतुलित आवाज देकर चरित नायकों को आधार बनाकर लोकबद्ध करने का कार्य सगुण भक्त कवियों ने किया। यह दूसरी बात रही कि लोक को जनता से ऊपर उठाकर सीधे अध्यात्म से जोड़ दिया, जिसका क्रम आधुनिक काल में बदल जाता है।

दरअसल आधुनिक काल के पूर्व सम्पूर्ण हिन्दी कविता का विकास 'शास्त्र व लोक' परस्पर अंर्तक्रिया के रूप में विकसित होता आया है। इस प्रक्रिया में 'लोक के दबाव में शास्त्र ने कभी कभी अपने को लचीला बनाकर लोक की बहुत रही विशेषताओं को अंतर्भुक्त कर दिया है (डा0 नामवर सिंह दूसरी परम्परा की खोज- पृ0 79) ध्यान देने की बात है कि लोक के दबाव में शास्त्र बदलने की क्रिया का लक्षण दो बार स्पष्ट दिखाई देता है। *पहला* आदिकाल के अंत में, *दूसरा* भक्तिकाल के अंत में। जाहिर बात है लोक के इस दबाव का परिणाम यही रहा कि 'लोक' में परम्परा से चली आ रही प्रवृत्तियों को ग्रहण किया जाय। आदिकाल के अंत व भक्तिकाल के आरम्भ में 'लोक' के सामने सिद्धों-नाथों की ही लोकधर्मी परम्परा थी जो लोक विश्वास (प्रचलित टोना, टोटका, तन्त्र-मन्त्र, मिथक आदि विश्वास) पर आधारित थी और जिसमें एक दबा आक्रोश धधक रहा था। जाहिर है इसका प्राणधर्म विद्रोह ही था और यह भी कि यह लोक धर्म अनुभव सम्मत (प्रत्यक्ष) व विवेक आश्रित था। ऐसे समय में कबीर जैसे निर्गुण भक्तों का उदय यदि होता है तो निश्चय ही उनमें भी लोकधर्म के इसी भावना की प्राणप्रतिष्ठा हो सकती थी और हुई भी। दूसरी तरफ भक्तिकाल के अंत में और रीतिकाल के आरम्भ में जब शास्त्र को लोक के परिप्रेक्ष्य में बदलने की

जरूरत महसूस हुई तब उसके सामने 'सूरदास' की लोकधर्मी परम्परा थी, जिसमें शृंगार का प्राधान्य था और राधा-कृष्ण के आलम्बन के कारण उसमें अश्लीलता नहीं आने पाई थी। किन्तु जब यह लोक अपनी पूर्ववर्ती परम्परा में पैठ किया, तो उसमें हाल की 'सतसई' जैसी प्राचीन कृतियों की परम्परा मिली जिसमे राधा-कृष्ण के माध्यम से विलासिता की प्रवृत्ति जगाई। 'राम' का सगुणवादी ईश्वरी चरित, रीतिकाल में यूँ बल जाता है। *दरअसल इसे उस समय में नायकत्व की भावना का लोप ही समझा जाना चाहिए जिससे लोकधर्मी चेतना के परखचे ही उड़ गये क्योंकि 'नायक' की भावना की पूर्ण उभार की अवस्था में जब मुगल साम्राज्य का पतन शुरु होने लगा, तो मन में इसके प्रति एक खिंचाव की भावना भी उत्पन्न हुई।* जाहिर बात है, जैसा कि हुआ, लोक चिंता का भाव पुन: केन्द्र में आ गया, क्योंकि घटनाओं के विस्तार से नायक का संकोच हुआ। इस समय खास बात यह हुई कि इसने एक ओर चरित को उसके औदात्य, ऐश्वर्य शक्ति स्वरूप से हटाकर शृंगार प्रधान रसमय बना डाला, दूसरे ओर पूरे काव्य संसार को लोक चिंता के धरातल पर अवरुद्ध सा कर दिया। स्वयं हाल की सतसई में "प्रेम व करुणा के भाव, प्रेमिकों की रसमयी क्रीड़ाएँ और उनका घात प्रतिघात, अतिशय जीवंत रूप में प्रस्फुटित हुआ है। अहीर-अहीरियों की प्रेम गाथाएँ, ग्राम बधूटियों की शृंगार चेष्टाएँ, चक्की पीसती या पौधों को सींचती सुन्दरियों के मर्मस्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओं का भावोत्तेजन करने वाली बातें बड़ी जीवंत, सरस और हृदय स्पर्शी है"[26]। आगे चलते चलते यही गोपी-गोपिकाएँ राधा-कृष्ण का रूप धारण कर लिया, जो सूरदास से भक्ति के धरातल पर चित्रांकन होता है। बस रीतिकाल को लोक की परम्परा से यही मिला, जिसमें से भक्ति का तत्व जाता रहा और बच रहे राधा कृष्ण, जो रसिक कवियों के आलंबन का कारण बने। जाहिर बात है लगभग 1700 वर्षों के बीच और भी प्रवृत्तियाँ रही है जो 'सतसई' के आगे व रीतिकाव्य

के पहले रही हैं। रीतिकाल के उदय की मोटी मोटी पृष्ठभूमि यही है और यदि इसकी पूर्व साहित्यिक पृष्ठभूमि का मूल्यांकन करें तो क्रम कुछ यूँ बनता है : हाल की 'सतसई' (प्राकृत में), अमरूक का 'अमरूक शतक' और गोवर्धन की आर्यासप्तशती (संस्कृत), वात्स्यायन का 'कामसूत्र' (संस्कृत), चन्दवरदाई (हिन्दी), विद्यापति, कृपाराम 'हिततरंगिणी' (1541), सूर 'साहित्य लहरी, तुलसी 'बरवै रामायण', रहीम 'बरवै नायिका भेद', नंद दास रसमंजरी, केशवदास-रसिकप्रिया, कविप्रिया और चिंतामणि (परम्परा को बढ़ाने के विचार से)।[27]

इसी के साथ यह भी हुआ कि जिस तुलसी में शास्त्र को आधार बनाया गया, उससे वह भी प्रवृत्ति जगी कि हर कोई संस्कृत के काव्य शास्त्रों की ओर कूच करने लगा। जब भक्तिकाल में और विकास की संभावनाएँ नहीं रही, तब इन्हीं संस्कृत ग्रंथों को आधार बनाकर काव्य रचना की जाने लगी, जिससे व्यक्तिगत विशेषता के आधार की मौलिक उद्भावनाओं की संभावना ही न बची। भानुदत्त की रसमंजरी, जयदेव के चंद्रालोक से केशव और देव ने तथा मम्मट के काव्य प्रकाश और विश्वनाथ के साहित्य दर्पण से भिखारीदास ने इतना कुछ लिया कि सब कुछ नकली माल बन गया। मुगल साम्राज्य की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति ने भी इसमें मदद की, जहाँ शाहजहाँ के शासन काल से ही गृहकलह आरम्भ हो गया था और केन्द्रीय शक्ति के पड़ने से छोटे-छोटे रजवाड़े और नवाब स्वतंत्र हो गये। जिसने बाद में विलासित का खूब फैलाव किया। बस क्या था, कवि गण, बाहरी जनजीवन की मार्मिक प्रस्तुतियों को छोड़कर दरबारी क्रिया कलापों में उलझ गये। स्वच्छन्दता की जगह एक भाषाई अराजकता ने ले ली। काव्य की मूल शक्ति का स्रोत लोक मन ठूँठ होता गया और कविगण अपने भीतर की रागात्मक कुंठा के गीत गाने लगे। कहीं असफल प्रेम था तो कहीं प्रेमी का विदक जाना। कुछ विचित्र स्थिति यह थी कि कवियों की आंतरिक लय, राजाओं से की

आंतरिक लय से जा मिली। बस क्या था? आश्रयदाताओं को उनके भावों के विरेचन हेतु कवि मिले और कवि को उनकी अभिव्यक्ति के लिए आश्रयदाता मिले। तब लोकपक्ष धूमिल हो गया। प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न-भिन्न चिंत्य बातों तथा जगह के नाना रहस्यों की ओर कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध एवं परिमित सी हो गई।[28] इस बात का प्रत्याख्यान करते डा0 राम कुमार वर्मा ने कहा कि "प्रकृति की विविधता के लिए यह काल महत्वपूर्ण है (रीतिकालीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन-227)[29] किंतु डा0 वर्मा ने शुक्लजी के एक पक्ष को समझकर ही ऐसा कहा है। शुक्लजी ने यदि प्रकृति की अनेकरूपता की माँग की है, तो वह जीवन से जुड़ी लोक के चित्त भावभूमि की उपज है, केवल प्रकृति के ऋतु वर्णन में नहीं, जिस पर डा0 वर्मा अभिभूत हैं। ऐसे रूप जिन्हें देखने हों, तो निराला को पढ़े जहाँ प्रकृति लोक जीवन को गति प्रदान करती है। जहाँ तक डा0 वर्मा ने हेय या कलुषित दृष्टि की बात उठाई है, तो ऐसा कहता कौन है? बात यहाँ हेय-प्रेय की नहीं, बात है 'प्राणधारा' के विकास में योगदान की और वह नहीं है। स्वयं डा0 वर्मा ने कहा है- ".... भक्तिकाल हीन अवश्य है, उपेक्षणीय नहीं" (पृ0 228) इसी प्रसंग में 'अज्ञेय' को देख सकते हैं : "प्रकृति काव्य के विवेचन में वास्तव में समूचे रीतिकाल को छोड़ ही देना चाहिए क्योंकि रीतिकालीन कवियों में से कुछ ने यद्यपि सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिचय दिया है तथापि उनके निकट प्रकृति, काव्य-चमत्कार के लिए उपयोज्य साधन मात्र हैं। प्रकृति के मानवीकरण की बात तो दूर, रीतिकाल के कवि स्वतन्त्र इयत्ता के प्रति भी उदासीन हैं- उनके निकट वह केवल अभिप्राय है जो अलंकृति के काम आ सकता है"[30]। तब बात यह भी हुई कि 'व्यक्तिगत विशेषता के द्वारा जो नवीन प्रसंगों की उद्भावना (सूरदास) होती थी या फिर कथा के मार्मिक स्थलों की पकड़" (तुलसी में) संभव होती आई थी, एकाएक क्षीण हो गई। स्वयं

काव्य सौन्दर्य, काव्य चमत्कार बनकर रह गया। जो चमत्कार किसी समय में सिद्ध-नाथ योगी अपने 'योग' से दिखाया करते थे, अब ये कवि 'कविता' में दिखाने लगे। कला के पुजारी इन काव्य रसिकों ने 'चमत्कार' की प्रेरणा वहीं से पाई है तो क्या आश्चर्य। यूँ भी पूर्ववर्ती काल के साधुओं की सिद्धियाँ और चारण कवियों की कल्पित प्रशंसावाली काव्य वृत्ति शिथिल तो हुई, निःशेष नहीं।[31]

इसी में श्रृंगार भावना का विकास भी होता रहा है। कबीर, सूर, जायसी तीनों में प्रेम भाव था, किन्तु उसमें भक्तिभाव का प्राधान्य होने के कारण अश्लीलता नहीं आने पाई थी। यदि पिउ-बहुरिया जैसा रागात्मक सम्बन्ध था भी, तो उसका मुँह भगवान की ओर था। सगुण भाव के भक्तों ने तो श्रृंगार रस को सम्पूर्ण भाव से अपना लिया, केवल उसका मुँह जड़ जगत की ओर से फिराकर चिदानंद भगवान की ओर कर दिया (पृ0 157 डा0 द्विवेदी : उद्भव और विकास)। रीतिकालीन कवियों ने इसी को सीधा खड़ाकर प्रेम के मुँह को जगत की ओर फेर दिया। फिर क्या था 'जैसे जैसे भक्तिकाव्य के आरम्भिक उन्मेष का लोकधर्मी स्वरूप शिथिल पड़ता गया... भक्तों में भी गतानुगतिक की मात्रा बढ़ती गई, वैसे वैसे लौकिक रस की कविता भी तेजी से सिर उठाती गई। 17वीं शताब्दी के बाद प्रत्येक कवि की कविता में श्रीकृष्ण और गोपियों के नाम तो अवश्य आते हैं पर प्रधानता ऐहिकतापरक श्रृंगार रस की ही रही[32]। भक्तिकाल की मूल भावना, संकीर्णताओं से मुक्ति की भावना, यहाँ आकर अलंकार, रस, नायिका भेद की संकीर्णताओं में धँस सी गई। वर्षों से चली आ रही लोकधर्मी चेतना, यूँ संकीर्ण होती जाती पूरे 200 वर्षों तक (1643-1843) पड़ने के बाद आधुनिक युग के आरम्भ होने के पहले अंतिम बार 'पद्माकर' में चुहचुहाई!

अतः पूरे रीतिकाल (रीतिग्रंथकारों) की कविताओं के मूल्यांकन से इतना स्पष्ट होता है कि उनकी दृष्टि जीवन के मार्मिक व गम्भीर पक्षों पर न होकर राजसी ठाठबाट,

तैयारी, नगरों की सजावट, चहल-पहल, युवतियों के उभरती यौवन के प्रति ही थी और यह आश्चर्य का विषय भी नहीं है क्योंकि इनके रचयिता कवि उस समय की (17वीं शताब्दी) उस साहित्यिक पृष्ठभूमि पर कार्य कर रहे थे जहां आर्थिक दृष्टि से समाज में दो श्रेणियाँ उभरने लगी थीं- एक ओर उत्पादक वर्ग था जिसमें किसान व इससे सम्बन्ध रखने वाली जातियाँ बढ़ई, लोहार-बहार-जुलाहा इत्यादि थी, तो दूसरी ओर भोक्ता वर्ग था जिसमें राजा, रईस, नवाब आदि थे।[33] इनके बीच झूलते से लगते कवि, चित्रकार कलाकार थे जो उपज तो उत्पादक वर्ग की होते थे, किन्तु बंदन भोक्ता का करते थे? क्यों? क्योंकि इस समय तक यह कलाकार वर्ग भी लगभग मानसिक चिंताओं से ग्रस्त होकर थक सा गया था और इसी से मुक्त होने की कोशिश में सौदा करता सा नजर आने लगा था। चूँकि जाति, वर्ग, धर्म, भेद अब धीरे धीरे वर्ग में बदलने लगे थे जिससे इन्हें अपनी आर्थिक जरूरतों की मजबूरी भी दिखाई देने लगी थी जिसकी पूर्ति में आश्रयदाता आगे आये। क्यों ऐसा वे करने लगे थे? क्योंकि उन्हें सामाजिक स्थितियों का कारण अब न तो धर्म में आस्था रह गई थी और न ही व्यक्ति में विश्वास। *भक्ति का भावजन्य ईश्वरी विश्वास जाता रहा और अपने पर बहुत विश्वास भी नही रहा।* तब ऐसी स्थिति में उनके चंचल मन को शांत करने के लिए इन रसिक कवियों के अलावा दूसरा उपाय भी क्या था। उधर कवि-कलाकार भी थे जिन्हें नैतिक मूल्यों के आधार पर कविता कर्म की सार्थकता ही निरर्थक लगने लगी थी और इससे उत्पन्न निराशा और अवसाद की पहचान भी होने लगी थी, जिससे कवि कर्म उनके लिए सिर्फ कवि धर्म बनकर रह गया। परम्परा से चली आ रही लोक चिंता की उच्च भावभूमि से हटकर उनके लिए आश्रयदाताओं की प्रसन्नता ही उद्देश्य बन गई। तब ऐसी स्थिति में दोनों वर्ग आपस की जरूरतों को पूरा करने लगे और कविता महलों के मुंडेर पर बैठकर झूलने लगी। **इसी झूलने में कवि**

ने सारे संसार को झूलते देखा और महलों के ठीक नीचे की सड़क पर झुलसते चेहरों की तरफ से आँखें फेर लिया। आखों का इस तरह से फिरना ही वस्तुत: कविता की लोकधर्मी प्राणधारा का सूखने का कारण हुआ और जैसे जैसे यह सूखती गई है, इस समय के कवि का पेट वैसे वैसे फूलता गया है। पूरे हिन्दी साहित्य में रीतिकाल के कवियों की सम्पन्नता इसको प्रमाणित करती हैं।

तब तो इस काव्य को शृंगार प्रधान होना ही था, जहाँ नारी केवल टाइप रह गई, व्यक्ति नहीं और यह सामंती प्रवृत्ति का परिणाम ही है जिसकी ओर डा0 बच्चन सिंह ने बहुत ठीक संकेत किया है- "सामंती व्यवस्था के एकात्म होने से रीतिवद्ध कवियों ने मूलत: नारी के शरीर के प्रति बुभुक्षा प्रकट की" (पृ0 346)[34]। संस्कृत के अलंकारशास्त्रों की ओर ठीक इसी समय ध्यान जाने से नायिका भेद पर जबरदस्त चर्चा होने लगी और इसकी पृष्ठभूमि भी भक्तिकाल का शास्त्रवादी रुझान ही तैयार करता है क्योंकि इस समय तक शास्त्र को अपने अपने ढंग से देखने की प्रवृत्ति उठने लगी थी। रीतिकाल के कवियों ने अपने अनुरूप 'अलंकार शास्त्र' को कविता में घसीटा जिससे कहीं भामह, उद्‌भट, दंडी (केशवदास में) के अलंकार शास्त्रों का प्रभाव रहा, तो कहीं मम्मट, आनन्दवर्धन और विश्वनाथ का (चिंतामणि, बिहारी, आदि में) जहाँ अलंकार-अलंकार्य में भेद किया जाने लगा। हिन्दी के रीतिग्रंथकारों ने संस्कृत के इन्हीं परवर्ती (मम्मट आदि) ग्रंथों का मत ग्रहण किया। तब जैसे सब ओर से चोट खाकर, किसी की ओर रास्ता न पाकर, बुद्धि घर के भीतर सिमट सी गई, जैसे जीवन के व्यापक क्षेत्रों में मनो निवेश का अवसर न मिलने के कारण मनोरंजन का एक मात्र साधन नारी देह की शोभाओं व चेष्टाओं के अवलोकन-कीर्तन तक ही सीमावद्ध हो गया हो। इस शृंगार में न तो प्रिया का व्यक्तित्व ही उभर पाया है-उनका साधारण

नारीत्व ही आकर्षण का एकमात्र हेतु है- न प्रिया की प्रीति जीतने के लिए रुमानी ढंग के किसी असीम साहसिक कार्य की योजना ही बन पाई है.. यह प्रेम शुरु से अंत तक महात्वाकांक्षा से शून्य, सामाजिक मंगल के मनोभावों से प्राय: अस्पृष्ट, पिंड नारी के आकर्षण से हततेज और स्थूल प्रेम व्यंजना से परिलक्षित है... वह वास्तविक जीवन की कठोरता पर आधारित नहीं है... जीवन की वास्तविक, जटिलताओं के साथ सामना करने के लिए जिस प्रकार वैयक्तिक साहस और सामाजिक मंगल का मनोभाव आवश्यक है, वह इसमें नहीं और न श्रृंगार भावना को जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य घोषित करने का साहस ही है।[35] इसी के साथ यह भी ध्यान देने की बात है कि नखशिख, नायिका भेद, षट्ऋतु वर्णन के अंतर्गत कवियों की दृष्टि बार बार लक्षण ग्रंथों पर लगी रही है जिस कारण से कवि के चित्त में रईसी की धाक है। नायिकाओं के "चित्त को मादक बनाने के लिए उसने आडंबरपूर्ण वातावरण और महार्घ वेशभूषा का सहारा लिया है। उनकी नायिकाएँ विशाल प्रासादों में रहती है, उनके सेज की चादरे चाँदनी और दूध की उज्ज्ववलता को लज्जित करती है, उनके पायदान में बहुमूल्य मखमल का उपयोग होता है, उनकी सेवा में नियुक्त दासियाँ जिन पायदानों, इत्रदानों व फूलदानों का व्यवहार करती हैं, उनमें सोने-चाँदी की बहार रहती है। नायिकाओं के परिधान में कीमखाब, साहस, मलमल एवं अतलस के वस्त्र प्रयुक्त होते हैं।"[36] अत: रीतिकाल का कवि अपनी नायिकाओं को गरीबी के वातावरण में नहीं देख सकता। बिहारी (1600 ई0) से लेकर ग्वाल व पजनेस (1843 ई0) तक सभी कवियों के चित्त में नायिका की ऐसी ही ऐश्वर्यशक्ति शोभा का भान था। जिसमें कटाक्ष विक्षेप की क्षमता न हो, ऐसी गोबर पाथती, खेत निराती, गृहकर्म में उलझी हुई स्त्रियाँ उनके काव्य का विषय नहीं हो सकती थी क्योंकि उनमें वक्तव्य को मादक वनाने की क्षमता नहीं होती।[37] तब यह ठीक ही है कि यह काव्य उन पारखियों के लिए अधिक उपयोगी

था "जो किसी हाथी दाँत के टुकड़े पर महीन बेल-बूटे देख घंटों वाह वाह किया करते हैं"[38] जिन्हें हृदय के अंतस्थल पर मार्मिक प्रभाव की जरूरत हो, किसी प्राणधारा से जुड़ने व विकास करने की इच्छा हो, उन्हें इसमें यह सब ढूढ़ने में असफला ही मिलेगी। दरअसल डा0 सत्यप्रकाश मिश्र ठीक कहते हैं कि "काव्य में प्रक्रिया जब पूर्णत: चेतन होती है तो कलात्मकता को प्रश्रय अधिक मिलता है और अनुभव की सहजता कम होती है। रीतिकाव्य पूर्णत: चेतन काव्य है बल्कि अतिचेतनता का काव्य है।"[39] तब ठीक ही है कि इसी चेतनता में इसे लोक की चेतना से असंपृक्त कर दिया। यह भी विचारणीय है कि तुलसी में यह चेतनता है, किन्तु वे आत्ममुग्ध नहीं है। दूसरी ओर ये रीतिकार इतने आत्ममुग्ध हैं कि पूरी परम्परा से विच्छिन्न होकर इतनी मौलिक व नवीन कविता देने लगे कि छिन्नमूल हो गये। दरअसल इसके लिए जिस गहरी जीवन दृष्टि की जरूरत होती है, इन कवियों में न थी। यह "सुदीर्घ अनुभव, गहरे आत्म बंधन, प्रौढ़ा चिंतन की परिणाम होती (डा0 जगदीश गुप्त)।[40]

अब हम थोड़ा इस काल के रीतिबद्ध लोक प्रिय कवियों की कविताओं पर विचार कर लें। सबसे पहले तो हम यह स्पष्ट कर दें कि इस समय के कवियों की लोकप्रियता, लोकबद्धता के आधार पर न होकर या कि लोक जीवन की सम्बद्धता को आधार न बनाकर बद्धलोकता(!) की तात्कालिक भावों को उद्भूत करने वाली कविता थी जिसका प्रभाव पढ़ने के साथ ही समाप्त हो जाता है। प्राय: ही ये कविताएँ ऐसे किसी भाव को उद्दीप्त नहीं करती जिनसे उनका प्रभाव दूरगामी हो सके। ये ठहरे चित्त को चंचल करने वाली कविताएँ हैं, किसी मन को गति प्रदान करने वाली कविताएँ नहीं। ये उस समय की याद मूलक कविताएँ हैं जब मन चारों तरफ से शिथिल हो जाय, बिस्तर पर सोते हुए नींद न आये और छत को निहारते रहा जाय, आसपास कोई न हो और फिर भी किसी के होने का अहसास हो। सच्ची लोकप्रिय कविता तो लोकबद्ध होती

है जो अपने समाज व जनता की इच्छाओं, भावनाओं, जीवन उद्देश्यों व सँघर्ष की अभिव्यक्ति करती हैं।[41] अत: रीतिकाल की अधिकांश कविताएँ एकांत मनुष्य या कि मनुष्य के एकांतिक रूप को प्रभावित करने वाली कविताएँ हैं। शायद वे इन्हीं अर्थों में लोकप्रिय भी है क्योंकि हर मनुष्य अपने एकांत में एक "सार्वजनिक रुचि" छिपाये हुए है, जो बहिरंग अवस्थितियों में, उसकी सम्बन्धगत सामाजिकता में प्राय: दिखाई नहीं पड़ती। चूँकि मनुष्य, मनुष्य है ही इसलिए कि वह किसी दूसरे प्राणी की सामाजिक सापेक्षता में जीता है, अत: वास्तविक प्रवृत्ति का आभास तो इन्हीं से मिलता है और यही रीतिकाल फेल हो जाता है। यूँ जब जब मनुष्य के आपसी सम्बन्धों का संकोच होता रहा है, कविता में ऐसी ही प्रवृत्तियाँ उभरती रही हैं। क्या रीतिकाल का उत्तर पक्ष इसको प्रमाणित नहीं करता?

रीतिकाल के प्रमुख कवियों की काव्यगत विशेषताओं की भी संक्षेप में चर्चा की जाय तो क्रम कुछ यूँ बनता है- केशवदास, सेनापति, बिहारी, भूषण, मतिराम, देव, भिखारीदास, पद्माकर। इसमें वीर रस में विश्वास करने वाले राज्याश्रयी कवियों के बारे में डा0 राम कुमारवर्मा ने "रीतिकाव्य के पुनर्मूल्यांकन" में बड़ा अच्छा रूपक बाँधा है- "यदि एक रूपक में कहा जाय तो इस काल का साहित्य मानव शरीर के मुख मंडल का शृंगार करते उस पर मुकुट सुसज्जित करता था, जबकि शेष शरीर स्नेह रहित होकर रूखा-सूखा ही पड़ा रहता था, (पृ0-205) दूसरी तरफ जो राज्याश्रय से विहीन कवि थे, वे राजाओं की भर्त्सना में ही अपना समय बिता देते थे जिससे उनकी भी लोक जीवन में रुचि न हो पाती थी। इससे अलग, कुल के बावजूद रीतिकाल के जो प्रतिनिधि कवि, अपनी लोक प्रियता के आधार पर, माने जाते हैं उसमें बिहारी, मतिराम, देव व पद्माकर ही है। बल्कि कह सकते हैं कि इस धारा के प्रतिनिधि कवि।

यहाँ हम इन प्रतिनिधि कवियों की मूल प्रवृत्तियों का संकेत करना चाहेंगे और यह बताना चाहेंगे कि इनकी लोकप्रियता का आधार लोक बद्धता न होकर, बद्ध लोक की आत्माभिव्यक्ति ही है, जिससे कहीं कहीं नैतिक पदों का परिधान दिखाई देता है जो आत्मीयता तो प्रदान करता है किन्तु उस आत्मीय भाव का परिपाक नहीं करता जिसे हम आत्मोत्सर्ग कहना चाहेंगे। जो किसी उपेक्षित के लिए छज्जे का कार्य कर सके। (यद्यपि रातिमुक्त कवियों में कुछ दिखाई अवश्य पड़ता है जहाँ रूढ़िभंजन, तन्मयता, जैसी सहजता है हालाँकि ये सब भी प्रेम के विविध प्रपंच ही हैं। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।)

क- बिहारीदास- 1603 - प्रमुख कृति 'बिहारी सतसई'। ये मथुरा के चौबे थे। जयपुर के मिर्जा राजा जयसिंह के दरबारी थे। इनके कवि में कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समाहार शक्ति भी है (शुक्लजी)। भाव, रस के साथ वस्तु व्यंजना की मिलती है। वाग्वैदग्धता भी है। इन सबके बावजूद इनके मूल्यांकन में शुक्लजी ने बहुत ठीक लिखा है और यह कमोवेश समूचे रीति ग्रंथकारों पर लागू होता है- बिहारी की कृति का मूल्य जो बहुत अधिक आँका गया है उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यत: दृष्टि रखने वाले पारखियों के पक्ष से समझना चाहिए- उनके पक्षों से जो किसी हाथी दाँत के टुकड़े पर महीने बेलबूटे देख घंटों वाह वाह किया करते हैं (हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ0 139) ध्यान देने की बात है कि यह वह आलोचक कह रहा है जो बिहारी सतसई को बड़ी कीर्ति का आधार मानता है। (पृ0 136 उपर्युक्त) स्वयं निराला ने रचनावली-5/153 में कहा कि इनके दोहे की समाप्ति के साथ उसका भाव भी समाप्त हो जाता है, सोचने के लिए कुछ नहीं बचता।

ख- मतिराम- 1617- कानपुर- प्रमुख कृति 'रसराज' और 'ललित-कलाम'। बूँदी

के महाराजा भाव सिंह के यहाँ बहुत काल तक रहे। जहाँ तक सहज व सरल भाषा में हृदय के अनुराग को नायिका तक पहुँचाने की बात है, मतिराम मर्मस्पर्शी कवि हैं। ये भाषा की नाड़ी पहचानते हैं। (हजारी प्रसाद द्विवेदी)। "केलि के रात अधाने नहीं दिन ही में लला पुनि घात लगाई" वाला प्रसिद्ध कवित्त इन्हीं का है।

ग- देव- 1673- इटावा- कई आश्रयदाताओं के दरबार में रहे। कई ग्रंथों की रचना की जिसमें जातिविलास, भावविलास, अष्टयाम प्रमुख हैं। अर्थ गाम्भीर्य, सरल वाग्विन्यास, प्रगल्भता इनके यहाँ काफी है। गार्हस्थ प्रेम के अत्यंत मर्मस्पर्शी चित्रण में कुशल हैं। "बेगि ही बूड़ि गयीं पँखियाँ, अंखिया मधु की मँखिया भई मेरी" वाला प्रसिद्ध सवैया इन्हीं का है। दरअसल रीतिकाव्य का कृत्रिम भावबोध ही इसके लोक मन से दूर हटने का कारण बना। प्रेम का तत्व तो स्वयं सूरदास में भी था, किन्तु वह विलास की वस्तु नहीं था। इसी आधार पर आचार्य शुक्ल ने 'देव' के बारे में लिखा है कि 'पीछे देव कवि ने एक 'अष्टयाम' रचकर प्रेम चर्चा दिखाने प्रयत्न किया किन्तु वह अधिकतर एक घर के भीतर के भोग विलास का कृत्रिम दिनचर्या के रूप में ही है। उसमें न तो वह अनेकरूपता है और न ही प्राकृतिक जीवन की वह उमंग (जो सूरदास में है)" (सूरदास-176) स्वंय देव ने कहा है- "कौन गनै पुर नगर कामिनि एकै रीति देखत हरै विवेक को चित्त हरे करि प्रीति"। डा0 राम कुमार वर्मा ने इनके बारे में उदाहरणों के द्वारा सिद्ध किया है कि "इन उदाहरणों में कवि ने वर्ण वैचित्र्य में जो सूक्ति-चमत्कार उपस्थित किया है, वह लोक जीवन की स्वाभाविक भंगिमा की अपेक्षा कवि की काव्य कला का ही परिचायक है" (90-217)

घ- पद्माकर- 1753- बाँदा - जयपुर के राजा प्रताप सिंह के यहाँ काफी समय तक रहे। सिंधिया के दरबार में भी काफी मान मिला। रचना में अनाडंबर, भाव-योजना, सहज भाषा प्रवाह, इन्हें मतिराम के निकट ले जाता है। इनमें देव का मौजीपन,

मतिराम की सहृदयता एवं बिहारी की वाग्वैदग्धता है (डा0 द्विदेदी : उद्भव और विकास)।

उपर्युक्त विशेषताओं के बावजूद यद्यपि 'देव' जैसे कवियों ने भिन्न भिन्न देशों के और जातियों की स्त्रियों के वर्णन में 'जातिविलास' लिखा जिसमें नाइन, धोबिन सब आ गई, जिन्हें बाद में भिखारीदास ने रसाभास या मर्यादा के भय से आलंबन के रूप में न रखकर दूती के रूप में ही रखा और ''रस सारांश' लिखा जिसमें नाइन, धोबिन, कुम्हारिन, बराइन सब प्रकार के चरित्र मौजूद हैं जो लोक जीवन से लिए गये हैं किन्तु यह सब लोक चेतना की प्राणधारा के बजाय कवि की अपनी 'निकट जरूरत' के प्रतिफल ही रहे हैं। अब कोई इसी आधार पर इन्हें भक्तिकालीन प्राणधारा से जोड़ने पर अमादा हो तब हम तो इसे पुष्ट यौवन के फूले मस्तिष्क में भरे तरल पदार्थ का प्रवाह ही कहना चाहेंगे जिससे अपनी रीढ़ की मालिस करके भले ही खड़ा रह लिया जाय, किन्तु यह झुकी रीढ़ को ठीक करने के किसी काम का नहीं।

इसके साथ यह बड़ा महत्वपूर्ण है कि सबके सब कवि किसी न किसी राजा के दरबार में थे। सबमें नायिका का श्रृंगार प्रधान वर्णन है या फिर ऊँचे स्तर की नैतिकता के सूत्र हैं। सबमें एक घर के भीतर का वर्णन हैं। भाषा के चमत्कार द्वारा सबने अपनी ओर ध्यान आकृष्ट कराने की चेष्टा की है। तब यह भी स्पष्ट है कि सौन्दर्य प्रसाधन की सहायता से ढका गया इनका खोखलापन निकटता के बढ़ने की स्थिति में उजागर होने लगता है। दरअसल ये आकर्षित तो करते हैं, किन्तु प्रेरणा नहीं देते। जाहिर है, आकर्षण की अपनी लोकप्रियता होती है और इसी अर्थ में ये लोकप्रिय हो सके हैं। सच्चा लोकबद्ध काव्य तो प्रेरणादायी होता है, उद्भावक होता है जो ये नहीं है। इनके यहाँ न तो कबीर, सूर की उद्भावक शक्ति है और न ही तुलसी की सूक्ष्म पहचान परक दृष्टि। दरअसल इन कवियों में involvement नहीं होता है। डूबना नहीं होता, एक प्रकार की तटस्थता होती है। भला हो ऐसी तटस्थता

की! इन कवियों की एक सीमा यह भी हुई कि दूसरे की संवेदना को तराशते हुए खुद की संवेदना नष्ट हो गई और जैसे आधुनिक समय में कई संभावनाशील कवि, आलोचक बन गये। करीब करीब इनके साथ भी यही हुआ। अब उस समय आलोचना तो थी नहीं क्योंकि गद्य नहीं था, अत: सब कुछ कविता में ही संभव था। सो वे आलोचक कवि होकर शास्त्रकार हो गये। संभव है कि हमारे समय के प्रतिभा शाली लोग अपने कविनपन से हाथ धो देने के डर से ही ढेर सारी शोध-आलोचनाएँ न लिखते हो। इन सबके बावजूद रीतिकाव्य को लोकधर्मिता से पूर्णत: असंपृक्त मानना भी अनुचित होता, क्योंकि इसी समय में रीतिमुक्त कवि जैसे घनानंद, बोधा, आलम ठाकुर आदि कविताएँ लिख रहे थे। यूँ भी जैसा कि शुक्लजी ने कहा है, "... यह न समझना चाहिए कि किसी विशेष काल में और प्रकार की रचनाएँ होती ही नहीं थीं। डा0 रामविलास शर्मा तो रीतिमुक्त कवियों का अध्ययन 'लोकजागरण' के सन्दर्भ में करते हैं (लोकजागरण और हिन्दी साहित्य) और इसका आधार 'तन्मयता' को बताते हैं, जहाँ घनानन्द को सूर-तुलसी से जुड़ा हुआ बताते हैं। इन कवियों की सबसे बड़ी विशेषता है कि इनमें दरबारी मजमून नहीं है, काव्य चमत्कार की कोशिश नहीं, हृदय के सहज उद्गार हैं, पैसे की भूख नहीं है, नायिकायें किसी उच्च वर्ण से नहीं आती (घनानंद ने तो सुजान वेश्या से ही प्यार कर डाला)। भाव अपने ही हैं वाह्य संचालित न होकर अन्त: संचालित व स्वत: स्फूर्त हैं। प्रेम के लोकधर्मी रूढ़ि भंजकता के स्तर पर जो बात सूरदास में मिलती है वह इनके यहाँ भी है। यह इस बात से प्रमाणित होता है कि आलम कवि रहे तो औरंगजेब के दूसरे बेटे मुअज्जम के आश्रय में, जो बाद में बहादुरशाह के नाम प्रसिद्ध हुआ, किन्तु शेख नाम की रंगरेजिन के प्रेम में फँस गये। घनानंद जाति से कायस्थ और दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के मीरमुंशी थे, किंतु 'सुजान' नामक वेश्या से प्रेम कर बैठे जो शृंगार में नायक के लिए और

भक्तिभाव में भगवान श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त होता है। बोधा बाँदा के सरयूपारी व्राह्मण थे जो पन्ना के राजदरबार में रहते 'सुभान' नाम की वेश्या से प्रेम कर वैठे। तव जाहिर है कि रीतिबद्ध कवियों का प्रेम जहाँ कपोल कल्पित था, वहीं रीतिमुक्त कवि पहले प्यार करते हैं फिर कविता लिखते हैं। प्यार भी सबके सब वेश्या से ही करते हैं। मतलब कि उन दरबारों में वेश्याएँ आती थीं। ये वेश्याएँ कवियों पर रीझती थीं या कवि इन वेश्याओं पर किन्तु इतना तय है कि वह प्रेम टिकाऊ नहीं होता था और उनके 'विरह' की पीड़ा में कवि कविता करते थे। अब इसी 'प्रेम' को यदि थोड़ा ऊपर उठाया जाय, तो यह तो लगता ही है कि यदि इन कवियों को प्रेम ही करना था, तो क्यों नहीं गली-कूचे में पड़ी वेश्याओं (यदि उस समय थीं) से प्रेम करने का साहस बटोर पाये? क्यों इनको दरबार की वेश्याएँ ही प्रिय लगीं? क्या उनका भी 'स्तर' ऊँचा था या फिर और कोई कारण था? यह एक विचारणीय प्रश्न तो है ही। यह भी कि यदि इन प्रेम-प्रसंगों को कविता में उतारकर उसे परकीया नायिका जन्य लोक उपमानों से जोड़ दिया जाय या फिर उसे राधा कृष्ण का रूप देकर 'उदात्त' बना दिया जाय, बात वही की वही है कि विशुद्ध आदमी की पहचान कहाँ संभव हो सका। ***हाँ इतना जरूर है कि जहाँ रीतिबद्ध कवि पहले कविता लिखते थे, फिर प्रेम करते थे, वहीं रीतिमुक्त कवि पहले प्रेम करते थे, फिर कविता लिखते थे।*** **यह क्रम आधुनिक समय के साठोत्तरी कविता में भी दिखाई देता है जहाँ प्रेम के कुछ प्रवीण पोषक कभी रीतिबद्ध ढंग को अपनाते हैं तो कभी रीतिमुक्त। दरअसल इन सारे कवियों का आत्म त्याग आत्मोसर्ग से होकर आत्म-बलिदान तक की यात्रा नहीं करता। यह इनके आत्म विस्तार का कारण बना और जहाँ कहीं इनको झपकी से जगाया गया, ये तुरंत तोता रटंत की तरह लोक लोक चिल्लाने लगे। ज्यादातर इन लोगों ने 'झपकी-**

काव्य' ही लिखा है।

रीतिकाल की इसी पृष्ठभूमि में आधुनिक काल का उदय होता है जहाँ मिथक चरित्रों के तनूकरण (dilution) की जो प्रक्रिया रीतिकाल से आरम्भ होती है उसकी पूर्णता का आभास मिलता है। हमने आदिकाल व भक्तिकाल के मूल्यांकन में यह कहा है कि घटनाओं के संकोच से चरित्रों का विस्फोट हुआ है और vice-versa। तब रीतिकाल से घटनाओं का जो विस्तार होता दिखाई देता है, मुस्लिम राज्य का पतन और अंग्रेजी राज्य का जो आधिपत्य बढ़ता जाता है, उससे उदात्त चरितों की उदात्तता ही खतरे में पड़ गई, क्योंकि अब यह स्पष्ट हो गया था कि 'मनुष्य' स्वयं ही अपनी समूची समस्याओं के लिए जिम्मेदार हैं और उसका समाधान भी वह इसी धरातल पर कर सकता है। उसका आधुनिक मन, किसी प्रकार के नियतिवाद से विद्रोह करने लगा और वह 'कार्यरत' होकर आत्म-सृजन हो गया। शास्त्र-लोक का द्वन्द भी जाता रहा और विभिन्न वर्गों की बढ़ती जागरुकता से वह शिष्ट लोक का द्वन्द हो गया जिससे अब दोनों अपनी स्थिति में वर्तमान कालिक हो गये।

तब एक बड़ी घटना ने जन्म लिया और रीतिकाल की सूखती जमीन पर जब नवजागरण का पहला पानी बरसा, वह भरभराकर उठ गई और बाद के कवियों ने इस पर अपनी खेती आरम्भ की। यहाँ अब वह मनुष्य था, वह लोक मानस था जिसे स्वयं अपनी स्वतंत्रता, स्वच्छन्दता, व्यक्तित्व का आभास था। उपेक्षित के प्रति भावना उद्दीप्त हुई जो पहले परम्परा से चले आते मिथक चरित्रों-मेघनाथ, कैकेई, उर्मिला आदि के द्वारा व्यक्त हुई। फिर बाद में मिथक भी जाते रहे और बिल्कुल ही सामान्य आदमी, सामान्य धरातल पर ही कविता के केन्द्र में आ गया जिसके बड़े सूत्रधार 'निराला' बने। जैसे पूरे हिन्दी कविता के विकास में आदिकाल से आधुनिक काल के आरम्भ तक मिथक चरितों के तनूकरण की प्रक्रिया आरम्भ होकर 'मनुष्य' मात्र की प्रतिष्ठा

हुई, वैसे ही आधुनिक काल के बिल्कुल आरम्भ से उपेक्षित चरित नायकों से आरम्भ हुई सरलीकरण की प्रक्रिया महाकवि निराला में उपेक्षित लोक चरित्रों में पर्यवासित हुई। **जैसे पूरे हिन्दी कविता में लोक मन की अभिव्यक्ति के संदर्भ में आधुनिक काल का महत्व सबसे बड़ा है। वैसे पूरे आधुनिक काल में महाकवि निराला का। निराला यूँ पूरे एक युग का प्रतिनिधित्व करते देखे जा सकते हैं। कैसे कोई 'युग', एक 'कवि' में अभिव्यक्त होता है और कैसे कोई 'कवि', एक 'युग' में संचरित होता है, इसे निराला में देखा जा सकता है।**

आधुनिक काल के पूर्व का लोक अधिकाँशत: संस्कार व विश्वास पर आधारित हुआ करता था जहाँ वह 'व्यवस्था' के बाहरी ढाँचे से पहचाना जाता था। उसके पहचान का कारण कोई न कोई पारंपरिक व निष्ठा या गुण ही हुआ करता था। आधुनिक काल में पहली बार 'लोक' का प्रत्यक्ष गत गुण स्पष्ट हुआ, जिससे लोक जीवन के वैविध्य का पता चलता है। अब यह सामान्य आदमी के जीवन से जुड़ी 'रोजमर्रा' की गतिविधि के रूप में आता है, जबकि पहले 'रूढ़िगत' गतिविधि से लोक की पहचान संभव होती थी। *क्रम का यह उलट जाना, मनुष्य का सीधे पाँव पर खड़े हो जाना ही है। इसे भारतेन्दु से लेकर अब तक देखा जा सकता है जिसको हमने अपने अगले लेख में हिन्दी कविता का लोकधर्मी स्वरूप- आधुनिक संदर्भ में विवेचित किया है,* जहाँ इसे बता गया है कि आगे लोक सामान्य का संघर्ष, लोक विशेष का संघर्ष होता जाता है, मतलब कि अब हर 'सामान्य' आदमी अपने 'विशेष' अर्थ में सामान्य है। मानव की यही विशेषगत विशेषता हमारे आधुनिक जीवन की सच्ची तसवीर प्रस्तुत करती है, क्योंकि इसी विशेष पर भी बल देने से विधवा, भिक्षुक के बाद बलई, मसुरिया, चंपा आदि चरित आते हैं जो गतिशील हैं, संघर्षरत हैं, जिनमें गहरा जीवनबोध आ गया है। इसी विशेष के कारण अब कुछ भी तिरस्कृत व बहिस्कृत करने की वस्तु

नहीं रह गया है। कुकुरमुत्ता से लेकर कुत्ता व विल्ली तक, इस रचना के विषय हैं। **सड़क पर की कुतिया भी अपने भावी जीवन की क्रिया में कुत्ते पर पाषाण प्रहार से विचलित व रोती हुई यदि दिखाई जाती है, तो यह उस शिष्ट मनुष्यता पर कठोर प्रहार है जिन्हें बंद घरों का 'बेडरूम' सुलभ है। संभव है ढँके घरों के नंगे लोग, सड़क पर के नंगे जीवन को अश्लील कहें, किंतु यदि अपने भीतर थोड़ा भी झाँक सकेंगे, तो उनके कार्य व्यापारों से 'नग्नता' की शरमा जायेगी।**

अंत में इतना बता देना जरूरी है कि यहाँ हमने केवल रीतिकाल के संदर्भ से हिन्दी कविता की लोकधर्मी प्राणधारा की बात उठाई है, इसके तात्विक विवेचन पर जोर न देकर इसको ऐतिहासिक प्रवाह में देखने की कोशिश की है। तात्विक विवेचन के आधार पर कुछ न कुछ मिल ही जायेगा मसलन यह कि नारी के शृंगार वर्णन में लोक उपमानों का सहारा लिया गया है, प्रकृति के मनोहारी रूप भी मिल जाते हैं। जैसे कि डा0 किशोरी लाल ने कहा है कि "रीति कवियों की मौलिकता का सच्चा और प्रकृत दर्शन उनके द्वारा विवेचित नायक-नायिकाभेद में होता है और इस संदर्भ में इन्होंने देव, भिखारीदास, रसलीन आदि का उल्लेख भी किया है। आगे समस्त नायिका भेद का विश्लेषण लोक तात्विक दृष्टि से करते हुए और उसे वड़ा महत्वपूर्ण मानते कहते हैं कि "उसमें वैवाहिक जीवन, नैहर-ससुराल, स्वकीया का आदर्श, ननद-भाभी, देवर-भाभी, साल-बधू, सामाजिक रूढ़ियों व अंधविश्वास का वर्णन विशद है।[42] सवाल फिर वही कि क्या ये चित्रण से अधिक 'लोकचित्त' को कुछ दे भी सके हैं? *स्थूलता से ऊपर जा भी सके हैं। वैसे भी हम तो उस आदमी की, उस चरित की तलाश में निकले हैं जो सड़क पर कराह रहा है, भूख से बिलबिला रहा है, चेहरा पथरा गया है, प्रकृति से आँख-मिचौनी (प्रेम के धरातल पर नहीं, जीवन*

के धरातल पर) कर रहा है, कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी हँसने में ही दुखी है, कभी दुख में भी हँसता है, जो थोड़ा बहुत दिखाता है या कि ऐसी कोशिश करता है, जो भीतर से निष्कपट है, लेकिन कुछ कुछ काइयाँ हैं...। अन्यथा तो हमें यह पता है कि रीतिकाल का योगदान कविता को कविता के रूप में प्रतिष्ठित करने का है उसे तमाम नैतिक, धार्मिक, आदर्शवादी आग्रहों से मुक्त करने का है। इसके द्वारा secularization की प्रक्रिया के आरम्भ होने से कम से कम मिथक चरितों को आकाश से धरती पर लाने में सुविधा हुई जिससे 'नायकत्व' की भावना का लोप हुआ और आकाश से जो खंड खंड गिरा, वह धरती के हर आदमी में नायक की भावना को प्रतिष्ठापित किया। यहीं से "आत्म सजगता" का भाव आरम्भ होता है।

इसके बावजूद हम इसे लोकधर्मी प्राणधारा का साहित्य नहीं मानते, क्योंकि 'लोक की चित्त भूमि पर उसका सम्पूर्ण अधिकार भी न था' (द्विवेदीजी-'उद्भव व विकास')। यूँ भी केवल ढूँढ़ने के लिए हम नहीं ढूँढ़ना चाहते, अन्यथा तो कुछ न कुछ मिलेगा ही, जैसा कि प्रयोगवादियों तक में मिलता है और देह मुक्ति में कविता की मुक्ति ढूढ़ने वाले तमाम परवर्ती कवियों में। इनके बारे में फिलहाल इतनी ही : "They are artificial to the exent of absurdity" : (निरर्थकता की हद तक बनावटी है)।

4- आधुनिक कालीन संदर्भ-

आधुनिक काल की लोकधर्मी चेतना का विश्लेषण काफी रोचक है क्योंकि भक्तिकाल के बाद यह धारा थोड़ी अवरुद्ध सी हो गई थी, यद्यपि कि कुछ रीतिमुक्त कवियों के स्वच्छन्दतावाद व प्रेम के माध्यम से यह अभी भी आगे बढ़ रही थी। आधुनिक काल के नव-जागरण के प्रभाव से भक्तिकाल की आध्यात्मिकता और रीतिकाल की शास्त्रबद्धता को झटका लगा और लोकमानस पुन: केन्द्र में आ गया। डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी ने ठीक कहा है कि 'पुनर्जागरण ने अध्यात्म को लोक से जोड़ा। फिर लोक को राष्ट्रीयता से।[43] अब 'मनुष्य' ही साहित्य चिंतन के केन्द्र में आ गया और उसके 'मुक्ति' की बात होने लगी जिससे एक 'सहजमानव' की परिकल्पना की जाने लगी। मनुष्य का यह विशेषीकरण ही लोक जीवन में व्यापक रूप से फैले सामान्य व्यक्तिगत जीवन के साहित्य में आने का कारण बना। यहाँ अब उस मनुष्य का जीवन था जिसे अपनी स्वतंत्रता, समानता, स्वच्छन्दता और व्यक्तित्व का आभास था। *आधुनिक काल़ का पूरा साहित्य इसी मनुष्य और उसके परिवेश की क्रिया-प्रतिक्रिया में विकसित होने वाला साहित्य है।*

यूँ यदि ध्यान से देखा जाय तो यह कहा जा सकता है कि आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक, साहित्य में सामान्य जीवन का चित्रण उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया है। जहाँ आदिकाल और भक्तिकाल में चरितनायकों के उदात्त जीवन की अभिव्यक्ति का रूप दिखाई पड़ता है, वही आधुनिक काल में चरित नायकों की जगह सामान्य व उपेक्षित जनता का चित्रण मिलता है और आधुनिक काल में जहाँ कहीं नायक चरित आये भी हैं, वहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से उपेक्षित नायकों को ही जगह व महत्व दिया गया है। यह बड़ा ही महत्वपूर्ण हैं कि यदि आधुनिक भारतीय साहित्य का आरम्भ माइकल मधुसूदन दत्त के बंगला उपन्यास 'मेघनाद-वध' (1861) से माने, तब यह

स्पष्ट होता है कि परम्परा से उपेक्षित चरित्रों को कैसे उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ देखा समझा जाता है। इसे हम उपेक्षित के अपेक्षित का साहित्य भी कह सकते हैं जिसके परिणामस्वरूप ही हिन्दी में कैकेई, जयद्रथ, एकलव्य आदि को जगह मिलती है।

दरअसल यह भी हमारे सोचने का विषय है कि आधुनिक काल के पहले का 'लोक', संस्कार व विश्वास पर आधारित हुआ करता था, जहाँ वह व्यवस्था के बाहरी ढाँचे से पहचाना जाता था। उसकी पहचान के लिए किसी न किसी पारंपरिक निष्ठा या गुण की जरूरत महसूस होती थी। आधुनिक काल में पहली बार ऐसा हुआ कि लोक, प्रत्यक्ष जीवन से जुड़ गया जिससे लोक वैविध्य का पता चलता है। *लोक यहाँ सामान्य आदमी के जीवन से जुड़ी गतिविधि के रूप में आता है, जबकि पहले गतिविधि से लोक की पहचान संभव होती थी।* यूँ यह लोक का जनता से निजत्व प्राप्त करने का परिणाम ही रहा है जो आधुनिक समय में बढ़ता ही गया है। इसीलिए 'संघर्ष' आधुनिक समय के मानस का एक विशेष गुण है।

इस संघर्ष के भी अपने ऐतिहासिक कारण रहे हैं क्योंकि सामान्य मनुष्य का केन्द्र में आना कोई अचानक घटित घटना नहीं रही है। *वस्तुत: यह परिस्थितियों की माँग ही रही थी कि बदली परिस्थितियों में भारतीयों के सामने सामान्य मनुष्यकी प्रतिष्ठा के अलावा कोई दूसरा विकल्प भी नहीं था, क्योंकि इसी आधार पर अंग्रेजों के उच्च मनुष्यता के भाव को चुनौती दी जा सकती थी।* यूँ कबीर के सामने यदि तत्कालीन शास्त्र था, तो आधुनिक कवियों के सामने अंग्रेजों का शास्त्र था, एक प्रकार कुलीनतावाद था जिस पर प्रहार करना जरूरी लगा। चूँकि अंग्रेजों पर सीधा आक्रमण उस परिस्थिति में संभव नहीं था, जिससे परम्परा से चले आते उपेक्षित चरित्रों को आधार बनाकर उसके महत्व की प्रतिष्ठा का कार्य संपन्न हुआ। इससे एक ओर परम्परा की रक्षा हुई,

तो दूसरी ओर नई परम्परा का सूत्रपात भी हुआ।

ठीक ऐसे ही समय पर **भारतेन्दु का उदय** होता है। हम कह सकते हैं कि रीतिकाल की सूखती जमीन पर जब नवजागरण का पहला पानी बरसा तो वह भरभरा कर उठ गई जिस पर उसके बाद के कवियों ने जोतने का कार्य किया। भारतेन्दु इस हल को पकड़ने वाले हिन्दी के पहले व्यक्ति रहे हैं जिनमें एक विद्रोही चेतना ने जन्म लिया। उनके पास पत्रकारिता, नाटक जैसे लौकिक हथियार थे, जो पूर्व के दिव्यास्त्रों से भिन्न थे। इन सबसे काव्य की एक संघर्षधर्मी चेतना का आभास मिलता है जो द्विवेदीकाल में संस्कृत निष्ठता के प्रभाव से शास्त्रबद्ध सा हो गया लगता है। ठीक जैसे कबीर से आगे तुलसी में होता है, फिर छायावाद में 'निराला' के माध्यम से उस संघर्ष का सर्वतोमुखी आभास मिलता है, जो 'प्रगतिवाद' में फिर थोड़ा ठहर सा जाता है, जो शास्त्र संवलित होकर (मार्क्सवाद के प्रभाव से) एक रीति को जन्म देता है, जहाँ व्यक्ति से अधिक व्यवस्था पर बल दिया जाता है। इसके पश्चात दो दशकों के लगभग ठहराव व बचाव से होती साठोत्तरी हिन्दी कविता जब उदित होती है तब वह कबीर की परम्परा से सीधे जुड़कर, भारतेन्दु, निराला से होते अबाध रूप से आगे बढ़ती है जो लोक जीवन के विविध प्रभावों व प्रवृत्तियों को मुखर अभिव्यक्ति देती आई है।

दरअसल रीतिकाल, जैसा कि शुक्लजी ने लिखा है, अपनी ही माटी की उपज था, जिस कारण भारतेन्दु मण्डल के लिए इससे पूरी तरह से विच्छिन्नता संभव नहीं थी। साथ ही साथ भक्तिकाल से इनके जुड़ाव की इच्छा भी रही थी। इस कारण से भक्तिकाल और रीतिकाल की मिली-जुली विशेषताएँ इस समय में देखी जा सकती हैं। ऐसी स्थिति में एक द्वन्द का होना भी स्वाभाविक ही था। एक तरफ देशभक्ति, दूसरी तरफ राजभक्ति, में फँसी इस समय की कविता का विश्लेषण बड़ा ही रोचक

है और उसमें भी रोचक है भारतेन्दु की भूमिका का मूल्यांकन। जहाँ कविता की भाषा व्रज रही, तो गद्यकी भाषा खड़ी बोली। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस प्रकार गद्य की भाषा का स्वरूप स्थिर कर गद्य साहित्य को देशकाल के अनुसार नये नये विषयों की ओर लगाया, उसी प्रकार कविता की धारा को भी नये नये क्षेत्रों की ओर मोड़ा। इस नये रंग में सवसे ऊँचा स्वर देश भक्ति की वाणी का था और उसी से लगे विषय लोकहित, समाज सुधार, मातृभाषा का उद्धार आदि थे।[44] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि नये नये विषयोन्मुखता के कारण कविता में लोक जीवन की सहज अभिव्यक्ति के विविध आयाम भी खुलने लगे। स्वयं कविता के आलंबन तक बदलने लगे थे। हास्य-व्यंग्य के आलंबन तक में इस लोक-प्रवृत्ति के लक्षण दिखायी पड़ जाते हैं और आचार्य शुक्ल ने ठ़ीक ही लिखा है कि "जहाँ रीतिकाल के कवियों की रूढ़ि में हास्य-रस के आलंबन कंजूस ही चलते आये थे, साहित्य के इस युग में आरम्भ से ही कई प्रकार के आलंबन सामने आने लगे थे जैसे पुरानी लकीर के फकीर, नए फैशन के गुलाम, अदालती अमले, मूर्ख व खुशामदी रईस, नाम या दाम के भूखे देशभक्त आदि।[45] इससे स्पष्ट है कि कविता अपनी प्रवृत्ति में जमीन से जुड़ने लगी थी। इस नवीन धारा के अंतर्गत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रताप नारायण मिश्र, अंबिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास, प्रेमधन आदि आते हैं।

खड़ी बोली के आरम्भ होने से इस समय के लेखकों ने लोक साहित्य से काफी प्रेरणा ग्रहण की। कजरी, मुकरी, लावनी, चूरन के लटके जैसे लोक प्रचलित माध्यमों को इन लेखकों ने शिष्ट साहित्य में संक्रमित कराया। बाद में पूँजीवादी व्यवस्था के बढ़ते प्रभाव के कारण सामाजिक व्यवस्था कुछ छिन्न भिन्न होती गई, जिससे लोक साहित्य की रचना कम होती गयी और वे संवेदनाएँ खड़ी बोली के साहित्य में दिखायी

देने लगी, जो आधुनिक साहित्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इस समय के लेखकों में प्राय: हर विधा में अपने लोक जीवन से जुड़े रहने की उत्कट लालसा दिखाई पड़ती है। तब डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ठीक ही लिखा है कि "यह लोक जीवन से जुड़े रहने की चिंता भारतेन्दु युगीन हिन्दी लेखकों को पश्चिमी संस्कृति के प्रवाह में बहने नहीं देती" (पृ0 108)। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसी को 'मूर्तिमान प्राणधारा का उच्छल-वेग'[47] (हिन्दी साहित्य :उद्भव व विकास : पृ0 210) कहा है जिसके फलस्वरूप उन्होंने एक तरफ तो काव्य को फिर से भक्ति की पवित्र मंदाकिनी में (भक्तिकाल का मनुष्य को देवता बनाने का भाव) स्नान कराया और दूसरी तरफ उसे दरबारीपन से निकालकर लोक जीवन के आमने-सामने खड़ा किया" (उप0) स्वयं नाटकों के माध्यम से भारतेन्दु ने जीवन की गतिहीनता और स्थूलता को तोड़ा और जीवन को गतिशील तथा नवीन की ओर बढ़ने का संकेत किया। यही गतिशीलता, परवर्ती हिन्दी कविता में लोक-सौन्दर्य का एक प्रमुख कारण भी बनती है।

हमारे लिए यह जानना बेहद महत्वपूर्ण है कि भारतेन्दु के समय से हिन्दी मानस में 'आत्म चेतना' जागृत हुई और यह ध्यान देने की बात है कि यह पहली बार घटित हुआ क्योंकि इसके पहले की लोकधर्मिता, लोक-मन में रची बसी थी। लोक चेतना का महत्व इस कारण से है कि यहाँ अब लोक-जीवन सायास रूप में उभरने लगा। (यह इस कारण से भी हुआ कि अब पूँजीवादी व्यवस्था (औद्योगिक पूँजीवाद) स्पष्ट होने लगी थी और उसमें भी पूँजीवाद व सर्वहारा के बीच का संघर्ष, जिसने जाति निर्माण की प्रक्रिया को तेज किया) यहाँ 'चेतना' शब्द अपने आप में आधुनिकता बोध का सूचक है, जहाँ आपको किसी का सायास ज्ञान करना पड़ता है लेकिन यहीं पर यह भी समझना चाहिए कि भारतीय मानस में सामंतवाद अभी भी गहरे धँसा था जिससे 'लोक-धर्मिता', लोक चेतना से ओत-प्रोत होकर आगे तो बढ़ी, किन्तु वर्गीय आधार

स्पष्ट नहीं था जिससे दुश्मनों की ठीक ठीक पहचान अभी संभव न थी। कभी सामंतवाद प्रतिरोध का विषय होता था, तो कभी ब्रिटिश पूँजीवाद। इसीलिए इनके दबाव में इस समय की लोक धर्मिता, या कि लोकभावभूमि प्रतिरोधी ही रही। अभी इसका 'रचनात्मक' होना शेष था। मतलब कि लोक-चेतना, लोक संघर्षी बनकर लोक-निर्माणकारी न बन सकी, जिससे इसे अपने *भीतरी बल* की पहचान न हो सकी। अभी तक यह दूसरे को रोकने तक (सामंतवादी पूँजीवादी) ही सीमित रही थी। अपने बल को पहचान कर गतिशील होने की प्रवृत्ति अभी दिखाई नहीं दे रही थी। आगे यह कार्य द्विवेदी युग से होता निराला में सम्पन्न होता आगे बढ़ता है, क्योंकि वहाँ लोक-चेतना का भारतेन्दु कालीन-प्रतिरोधी और रचनात्मक दोनों पक्ष मिलता है। मिथक, पुराण कथाओं का लौकिकीकरण भी आरम्भ हो गया था, यद्यपि इसकी गति अभी धीमी थी।

अत: हम यह भी कह सकते हैं किर आधुनिककाल में भारतेन्दुकाल से आरम्भ होकर हिन्दी कविता की लोकधर्मिता उत्तरोत्तर अभिकेन्द्रिक (Centripetal) होती गई है जिससे जहाँ एक ओर इसके भीतर के निर्माणकारी तत्वों की पहचान संभव हुई, वहीं दूसरी तरफ परम्परा के गतिशील तत्वों से इसका सम्बन्ध भी स्थापित हुआ। हिन्दी कविता में लोक के रचनात्मक पक्ष के उत्तरोत्तर उभरते जाने का यह एक महत्वपूर्ण कारण है और हम कह सकते हैं कि लोक जीवन का यह उभार भारतेन्दुकालीन साहित्य से शुरु हो जाता है यद्यपि कि इस समय में स्थिति बहुत स्पष्ट नहीं थी। किन्तु इसका एक ऐतिहासिक कारण है।

दरअसल जब समय बदलता है, तो पिछले संस्कार बहुत धीरे-धीरे छूटते हैं। आप देख सकते हैं कि लोक-चेतना के बढ़ने के बावजूद भारतेन्दुकाल में रूढ़िं व आधुनिकता, मिथक और लोक, संस्कार और व्यवहार के बीच यह द्वन्द बराबर मिलता है। यह दूसरी वस्तु है कि धीरे धीरे पूर्व पक्ष कम होता जाता है। द्विवेदी युग में भी यह द्वन्द

मिलता है जहाँ यह मिथकों के बीच लड़ा जाता है (भारतेन्दुकालीन संस्कार व व्यवहार के बीच था।) जहाँ महत्वपूर्ण मिथकों के समानान्तर उपेक्षित मिथकों को (जयद्रथ, कैकेई आदि) महत्ता प्रदान की जाती है। मतलब यह कि कविता सामान्योन्मुख तो हो रही थी, किन्तु धरातल अभी भी मिथकीय था। उसे जमीन पर उतरना शेष था जिससे लोक के आंतरिक तत्वों की पहचान संभव हो सके। यह कार्य निराला के द्वारा सम्पन्न होता है। **इसका एक प्रमुखकारण यह रहा है कि आधुनिक समय में निरंतर घटनाओं का विस्फोट होता जाता है, जिससे मिथकीय आधार टूटता जाता है और नायकत्व की भावना का लोप होता है। कबीर की प्रासंगिकता यूँ हमारे लिए बढ़ती जाती है।**

यहाँ पर यह भी ध्यान देने की बात है कि आधुनिक काल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' बहुत कुछ के टूटने का इतिहास रहा है। जब भाषा टूटी, छंद टूटा तो भाव भी टूटे। भाव के इन्हीं टूटने के साथ नये भाव भी फूटे और कविता व्यापक जन-जीवन से जुड़ी। इस रूप में टूटना, वस्तुत: एक वृहत्तर सन्दर्भ से जुड़ना ही है। भारतेन्दु से यह कार्य आरम्भ होता है जहाँ रूढ़ि टूटी, अंधविश्वास टूटा, तो आधुनिकता आई और लोकधर्मिता नये सन्दर्भों से जुड़ पाई।

इसी टूटने का परिणाम है कि भारतेन्दु कालीन साहित्य में लोक-देशीय भावना का प्रबल रूप से संचार होता है। राजनीति में जो स्वदेशी हैं, साहित्य में वह लोकदेशी बना और भारतेन्दु इस स्वदेशी को बड़ा महत्व देते हैं। इस स्वदेशी के बारे में डा0 रामविलास शर्मा लिखते हैं कि यह कहना अत्युक्ति न होगी कि हिन्दी प्रदेश में स्वदेशी आंदोलन के जन्मदाता और देश के लिए बलिदान का पाठ पढ़ाने वाले भारतेन्दु ही थे।[48] बलिदान की इसी भावना के कारण उनके साहित्य में भक्तिकाल का प्रभाव देखा जा सकता है क्योंकि 'भक्तों के साहित्य में जो जनवादी विचार थे उन्हें हरिश्चन्द्र

ने फिर से सँवारा और नई संस्कृति में विकसित किया। उनके समाज सुधार के मूल में अक्सर भक्त कवियों की स्थापनाएँ मिलेंगी[49]।' उनके भी लोकजीवन का आधार 'प्रेम' था, जो उन्हें कबीर से जोड़ता है। इसी को आधार बनाकर डा0 शर्मा आगे लिखते हैं कि ..... प्रेम उनकी वाणी का मूल स्वर है। इसके आधार पर उन्होंने जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छुआ-छूत, सामाजिक विषमताएँ आदि का विरोध करना सीखा। इस प्रेम से उन्होंने देश प्रेम का सम्बन्ध भी जोड़ा[50]। स्वयं 'तदीय सर्वस्व' में लिखा है कि 'बिना शुद्ध प्रेम न लोक है, न परलोक'।

यही प्रेम, जो कि शोषितों के प्रति भाव ही है, भारतेन्दु को रीतिकाल से अलग करता है और भक्तिकाल से जोड़कर आधुनिक लोक चेतना के भाव का संचार करता है। यही लोक चेतना इनके यहाँ देश-प्रेम का भी स्रोत है। स्वयं प्रकृति भी इनके यहाँ इसी लोक चेतना को गति को बढ़ती है। डा0 रामविलास शर्मा ने ठीक लिखा है कि 'भारतेन्दु सामाजिक जीवन से उदास होकर प्रकृति में राहत पाने वाले कवि नहीं है। अनेक अध्ययन का केन्द्र बिन्दु मनुष्य है और प्रकृति उसका कार्य क्षेत्र है। इस कार्यक्षेत्र के रंग-रूप, संगीत व सौन्दर्य को वे देखते सुनते हैं, लेकिन न तो उन्हें नक्षत्रों से मौन निमंत्रण मिलता है और न ही सारी प्रकृति आध्यात्मिक रंगों में डूबी दिखायी देती है[55]। यूँ वे 'नरप्रकृति के कवि थे। वाह्य प्रकृति की अनेक रूपता के साथ उनके हृदय का सामंजस्य नहीं बन पाता[52]।

'नर-प्रकृति' की इसी अनेकरूपता की पहचान का परिणाम रहा है कि भारतेन्दु मूलत: संगीतात्मक लयों के कवि थे जो लोक रस से अपनी कविता को आप्लावित करना चाहते थे। इसी कारण इन्होंने लोक चेतना युक्त काव्य के माध्यम से जन जागरण की बात उठाई। इसी कारण उनके कवि में 'लोक-निर्माण' का भाव तो नहीं था, किन्तु 'लोक-उपयोग' की भावना प्रबल थी। ऐसा इस कारण से कि इनके यहाँ लोक

जीवन संस्कारों और व्यवहारों की सफाई से जुड़ता है, जो लोक उपयोग ही है। ऐसे साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए लिखा है- "जिन लोगों को ग्रामीणों से सम्बन्ध है, वे गाँव में ऐसी पुस्तकें (जातीय संगीत की छोटी छोटी पुस्तकें) भेज दें। जहाँ कहीं भी ऐसे गीत सुने, उनका अभिनन्दन करें। इस हेतु ऐसे गीत बहुत छोटे छोटे छंदों और साधारण भाषा में हों। कजरी, ठुमरी, खेमका, कहरवा, चैती, होली, सांझी, जाँते के गीत, विरहा, गजल इत्यादि ग्राम गीतों में इसका प्रचार हो।...[53] इस रूप में भारतेन्दु की गीतात्मक चेतना, गीतों के माध्यम से भावनात्मक दूरी को कम करने का प्रयास करती रही।

दरअसल भारतेन्दु काल कई उथल-पुथल व दबावों से भरा समय था। हम देख सकते हैं कि इसी समय 1875 में आर्य-समाज का आंदोलन था जिसने इसके संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती के नेतृत्व में 'रूढ़िवादी' सनातनियों से, हिन्दू धर्म पर आक्रमण करने वाले ईसाइयों से और देश में फैल रहे अनेक धार्मिक सम्प्रदायों से एक साथ लोहा लिया। इन दिनों शास्त्रार्थों की धूम मचा गई[54] अत: इस समय के वाद विवाद हिन्दी साहित्य को समृद्ध करते देखे जा सकते हैं जिस कारण से यह भी कहा जा सकता है कि इस समय की लोक चेतना आंदोलन धर्मी होती जा रही थी जिससे लोकधर्म को रूढ़िवादियों से हटाकर उसे आधुनिक बनाने का प्रयास किया जाने लगा था। इसी से लोक के रचनात्मक पहलुओं की ओर कवियों की दृष्टि गई और 'राष्ट्रीयता' की भावना के संकेत मिलने लगे, यद्यपि कि अभी तक इसके व्यापक पहलू स्पष्ट नहीं हो सके थे।

यह गौरतलब है कि हमारे हिन्दी क्षेत्रों में राष्ट्रीयता की भावना एक प्रकार से विदेशी प्रतिक्रिया के रूप में आती है। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राष्ट्रीयता भारत के लिए एक नवीन भावना थी। अंग्रेजों के सम्पर्क के कारण ऐसा हुआ। अंग्रेज

इस बात को विश्वासपूर्वक मानते थे कि 'राष्ट्रीयता का अर्थ यह हैं कि प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र का अंश है और इस राष्ट्र की सेवा के लिए इसको धन-धान्य से समृद्ध करने के लिए, इसके प्रत्येक नागरिक को सुखी बनाने के लिए, प्रत्येक व्यक्ति को सब प्रकार से त्याग और कष्ट स्वीकार करने चाहिए।[55] डा0 द्विवेदी ने इसके खतरे की ओर संकेत किया है। इसकी सीमा व्यतिक्रम से इसका कुत्सित रूप सामने आने लगा और वह यह कि 'अपने देश को धन धान्य से समृद्ध करने के लिए दूसरे देशों का शोषण किया जा सकता है' (डा0 द्विवेदी : उप0)। इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप हमारे यहाँ भारतेन्दु काल में ही राष्ट्रीयता की भावना का उदय होता है जो कुछ और नहीं, अपनी राष्ट्रीयता को बचाने का उपक्रम मात्र था। ऐसे समय में कवियों का ध्यान पुन: मिथक-पुराणों की ओर गया जहाँ मिथकों के माध्यम से उपेक्षित चरित्रों के महत्व प्रतिपादन का कार्य आरम्भ हुआ। जाहिर बात है इसने अतीत के महिमामण्डन (glorificaiton) के द्वारा एकजुटता की भावना का संचार कराया। कोई नई राह आनी अभी शेष थी। *अत: अभी तक की राष्ट्रीयता, विदेशी राष्ट्रीयता के शोषण से मुक्ति का प्रयास भर दी। खुद की राष्ट्रीयता के लिए जिस ताकत की जरूरत थी, वह अभी तक न आई थी।* उसका उभार छायावाद से दिखायी पड़ता है जो आगे बढ़ता जाता है। **तब यह ठीक ही है कि भारतेन्दु से लेकर आगे की कविता में राष्ट्रीयता का उत्तरोत्तर होता विकास एक प्रकार से अपनी कमजोरी से मुक्ति का प्रयास भी रहा है और जैसे जैसे हम इसमें सफल होते गये हैं, वैसे वैसे हम मिथक चरित्रों के लौकिकीकरण की प्रक्रिया में सफल होते गये हैं। निराला तक आते आते यह कार्य लगभग सम्पन्न हो जाता है। आधुनिक समय की घटना बहुलता, मिथकों के लौकिकीकरण की प्रक्रिया में यूँ प्रवेश करती है।**

इसी प्रकार से लोक चेतना भी रक्षात्मक से रचनात्मक, लोकोपयोग से लोक निर्माणकारी की तरफ मुड़ती है। जाहिर बात है पहले में लोक चेतना प्रतिक्रियात्मक थी, तो दूसरे में क्रियात्मक। पहली कुछ कुछ स्थूल थी, क्योंकि बाहरी तंत्र पर हमला के लिए अतीत का सहारा लेना था, पुराण-मिथक की काव्यात्मक उड़ाने भरना पड़ता था, जबकि दूसरी गतिशील थी क्योंकि वह अपनी सार्थकता अपने समय के तत्वों में ढूढ़ती थी। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तब ठीक ही कहा है कि 19वीं शताब्दी 'भारतीय गौरव के पुनरुद्धार' का समय है जिसमें स्मृतियों के आधार पर साहित्य सृजन होने लगा था। 20वीं शताब्दी के आरम्भ तक यह चलता रहा, जो धीरे धीरे कम होता गया है। निराला के हाथों भारतीय गौरव का पुनरुद्धार स्मृति-जीवी न होकर जीवित-स्मृतियों में मिलता है। दरअसल भारतेन्दु काल से द्विवेदी व छायावाद तक भारतीय गौरव गान, एक प्रकार की 'चेतन-चेतनता' का परिणाम था, क्योंकि यह चेतन-चेतनता हिन्दी साहित्य में पहली बार घटित होती है, क्योंकि भक्तिकाल का काव्य भी लोक भावना से संपूरित होने के बावजूद किसी चेतन-चेतनता (लोक-चेतना) का परिणाम नहीं था। आधुनिक समय में धीरे धीरे यह कम होता गया और चेतनता का विशेषीकृत रूप सामान्य हो गया। इसी सामान्य होने के कारण कविता में राष्ट्रीयता की कुछ रचनात्मक गूँज भी सुनाई देने लगी और कविता पवित्र परिवार के दायरे बाहर आई। यहाँ ध्यान देने की बात है कि छायावाद के पहले तक, लोक चेतना का स्वरूप गार्हस्थिक हो रहा है। एक प्रकार से सब कुछ परिवार के भीतर ही घटित होता है। अयोध्या सिंह उपाध्याय व मैथिली शरण गुप्त तक की कविताओं में इसे देखा जा सकता है। यह जरूर है कि भक्तिकाल में जहाँ परिवार के भीतर उपेक्षित चरित्रों की ओर ध्यान नहीं था, वहाँ आधुनिक काल में इस ओर भी ध्यान दिया जाने लगा। मतलब इनकी दृष्टि परलोक निबद्ध न होकर लोक निबद्ध ही रही (डा0 द्विवेदी)। यह दूसरी बात

है कि अभी परिवार के बाहर, सामान्य के धरातल पर आदमी के जीवन को केन्द्र में लाना शेष था। यह कार्य निराला में संपन्न होता है। *यह कविता के लोकधर्मी स्वरूप का सहज और रचनात्मक पक्ष है जहाँ लोक-मानस में एक ओर राष्ट्रीयता की भावना जगाने का भाव मिलता है, तो दूसरी ओर जागृत-लोक की कायर विधियों का खुलासा भी होता है।* यही जागृत लोक, लोक चेतना की रचनात्मकता का संवाहक भी है। यहीं से लोकधर्मिता का व्यवस्थित संघर्षधर्मी पक्ष का आरम्भ भी होता है, जिसे बाद में प्रगतिवादियों ने वर्गबद्ध करके सीमित कर दिया। साठोत्तरी में यह वर्ग निबद्धता जाती रही।

यूँ तो भारतेन्दु मण्डल में भारतेन्दु के अलावा प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, चौधरी बद्रीनारायण प्रेमधन, ठाकुर जगमोहन सिंह, पं0 अंबिकादत्त व्यास, श्रीनिवास दास आदि थे, किन्तु कविता के क्षेत्र में इसके विविध विषयों की ओर उन्मुख करने में, भारतेन्दु के अलावा इन लोगोंने कोई खास रुचि नहीं दिखायी। इनके लिए कविता 'बाई प्रोडक्ट' ही रही। यूँ भी इनकी रुचि गद्य की ओर थी, क्योंकि भाषाई परिमार्जन इनके लिए मुख्य रहा। नाटकों में इन सभी ने गहरी दिलचस्पी दिखलाई, जिससे इनकी लोकोन्मुखता व गतिशीलता का प्रमाण तो अवश्य मिलता है। दरअसल इन सभी के सामने सबसे पहला सवाल हिन्दी जाति के निर्माण का सवाल ही था। पिछले समय का सारा अध्यात्म वस्तुत: इसी 'जाति' रुचि के कारण धीरे धीरे जमीन पर उतरने लगा था, क्योंकि गद्य के आगमन से जीवन के बहुतेरे पक्षों तक इनकी दृष्टि जाने लगी थी। इन 'मण्डल' के लोगों में लोक जीवन का सन्दर्भ इसी जातीय चेतना के उभार के रूप में देखा जाना चाहिए।

भारतेन्दुकाल के बाद जब **द्विवेदी काल का मूल्यांकन** होता है तो यह स्पष्ट होता है कि इसकी पृष्ठभूमि भारतेन्दुजी ने पहले ही तैयार कर दी थी। कविता को

नये विषयों की ओर भारतेन्दु जी मोड़ ही चुके थे, यह दूसरी बात है, जैसाकि आचार्य शुक्लजी ने लिखा है, कि उसके भीतर किसी नवीन विधान या प्रणाली का सूत्रपात न कर सके थे। द्विवेदी काल के कवियों ने इस कमी को भरसक पूरा करने की कोशिश की, फिर भी कविता के केन्द्र में पवित्र परिवार ही रहा, जिसपर भक्तिकाल की छाप देखी जा सकती है। ऐसा 'प्रबन्ध' की अपनी सीमाओं के कारण ही था।

दरअसल यह भी गौरतलब है कि द्विवेदीकाल में कविता अपने लोकधर्मी स्वरूप को लेकर जैसे ही किसी नवीन विधान या प्रणाली की ओर बढ़ने लगी थी, कि यह संस्कृतशास्त्रों की ओर मुड़ गई और भाषाई विधान के आग्रह में भटक गई। *इस रूप में भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग में लगभग वैसी ही समानता है, जैसी आदिकाल व भक्तिकाल में।* जैसे आदिकाल में कथ्य के आधार पर विविध काव्यरूपों की अभिव्यक्ति हो सकी, वैसे भारतेन्दुकाल में। जैसे आदिकाल के लोकधर्मी प्रवाह ने भक्तिकाल में एक ओर कबीर पैदा किया, तो दूसरी ओर तुलसी, वैसे ही भारतेन्दुकाल ने द्विवेदी काल में एक ओर श्रीधर पाठक (स्वच्छंदतावादी) को दिया तो दूसरी ओर संस्कृत शास्त्रों के प्रभाव में मैथिलीशरण गुप्त को। जैसे कबीर की विद्रोही व संघर्षधर्मी चेतना तुलसी तक आते आते समन्वयमूलक हो जाती है, वैसे श्रीधर पाठक (जन्म 1859-1928) की स्वच्छंदवादी चेतना गुप्त में (1886-1964) समन्वय को प्राप्त होती है। छायावाद के लोकधर्मी स्वरूप ने निराला के द्वारा अपना सम्बन्ध श्रीधर पाठक से जोड़ा और सामंजस्यवादी प्रवृत्ति के प्रति विद्रोह करके लोकधर्म को संघर्षमूलक बनाया।

वास्तव में द्विवेदीकाल तक आते आते 'लोक चेतना' धीरे धीरे 'रचनात्मकता' की दिशा में बढ़ती, लोक जीवन के आंतरिक व गतिशील तत्वों की पहचान करने ही लगी थी कि यह अतीत की ओर मुड़कर उद्‌बोधन परक हो गई जिससे भक्तिकाल

की परिवार प्रियता में कैद हो गई। इससे प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता भी काव्य का विषय न बन सकी। वह 'चिर-साहचर्य' के लक्षणों से युक्त न हो सकी। चूँकि वह भाषाई निर्माण का समय भी था जिससे तरह तरह के भाषार्थ प्रयोग भी होते रहे। इस समय में लिखा जाने वाला प्रिय प्रवास (1914) और साकेत (1932) इसके उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिनमें सभी कुछ परिवार के भीतर घटित होता है। हाँ, यह जरूर है पुराण-आख्यानों के भक्तिकालीन परलोकप्रियता से कविता लोकबद्धता की ओर मुड़ी और परिवार के भीतर उपेक्षित चरित्रों को महत्व दिया जाने लगा। श्रीधर पाठक के 'गुनवंत हेमंत' की धारा भी, जिसमें उन्होंने गाँव में उपजने वाले मूली, मटर को सामने लाने की कोशिश की, अवरुद्ध हो गई। इसी को छायावाद ने आगे किया।

हम यह जानते हैं कि द्विवेदी युग में दो तरह के रचनाकार थे। एक द्विवेदी मण्डल के बाहर जिनमें प्रमुख हैं श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, गंगाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', रूप नारायण पाण्डे आदि जो स्वच्छंदतावादी थे और द्विवेदी मण्डल के भीतर थे- हरिऔध, गुप्तजी आदि। द्विवेदी मण्डल के भीतर के लोगों पर संस्कृत साहित्य का गहरा असर होने से लोक चेतना के रचनात्मक पक्षों का बहुत विकास न हो सका।

वस्तुत: द्विवेदी मण्डल एक सुनिश्चित व्यवस्था पर आधारित था, जिससे तत्सम प्रधान भाषा, भाषाई शुद्धता आदि का आग्रह इसे समकालीन चुनौतियों से काट दिया। इसके बारे में आचार्य शुक्ल लिखते हैं- "उस समय पिछले संस्कृत काव्य के संस्कारों के साथ पं0 महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आये जिनका प्रभाव गद्य साहित्य और काव्य निर्माण दोनों पर पड़ा। भक्तिकाल और रीतिकाल की परिपाटी के स्थान पर पिछले संस्कृत साहित्य की पद्धति की ओर लोगों का ध्यान गया" (इतिहास : पृ0 328)। इसने इतिवृत्त matter of fact- को जन्म दिया। जाहिर बात है इसमें अधिक से अधिक लोकोपयोग ही संभव हो सकता था, लोक-निर्माण नहीं। इसी

से यह काव्य ठहर सा गया। *परिवार के भीतर सिमटने का कारण शायद यही है। कर्म से अधिक कामना का भाव ही अधिक भास्वर हुआ।*

द्विवेदी मण्डल में यूँ तो लोचन प्रसाद पाण्डे, रामचरित उपाध्याय आदि भी थे, किन्तु प्रमुख दो ही थे- हरिऔध व गुप्तजी। इन्हीं दोनों ने ही खड़ी बोली में काफी समृद्ध कविताएँ लिखी हैं। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (1865-1947) आजमगढ़ के रहने वाले थे जिन्होंने 'प्रियप्रवास' (1914) जैसा महत्वपूर्ण काव्य ग्रंथ लिखा। यह खड़ी बोली हिन्दी का पहला महाकाव्य बना। जिसमें निश्चय ही राधा व कृष्ण का एक समसामयिक बदला रूप मिलता है। स्वयं 'हरिऔध' जी ने लिखा है कि "मैंने इसमें श्रीकृष्ण को एक महापुरुष के रूप में अंकित किया है, ब्रह्म करके नहीं।" चलिए, कृष्ण कम से कम ब्रह्म से महापुरुष तक तो खिसके। फिर उसके आगे? यह उतरना अभी संभव नहीं था। राधा भी अब सामान्य नारी के रूप में ही आती है। वह भक्तिकालीन व रीतिकालीन राधा की तरह कृष्ण से मिलने को बेचैन नहीं रहती, अपितु उद्धव से कहती हैं 'प्यारे जीवे, जग-हित करें, गेह चाहे न आवे'। अत: नारी का लोक सेविका वाला रूप दिखायी तो देता है किन्तु फिर वही समस्या- 'कामना' के स्तर पर। 'राधा' क्या कोई कर्म करती है जो बाद में 'स्वप्न' की सुमना या निराला की 'वह' करती ? यह विचारणीय बात है। कुल मिलाकर परिवार प्रियता यहाँ भी चालू। हाँ। पुराणकथा के प्रति कवि की दृष्टि में यह पहला महत्वपूर्ण परिवर्तन है, जहाँ हिन्दी मानस अब विचार के साथ-साथ संस्कारों में भी आधुनिक ऐहिकता की ओर अग्रसर होता है[56]।

पर यह जरूर है कि पं0 रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्न' (1929) के बसंत व सुमना का आना अभी शेष था। मतलब लोक निर्माण की भावना की मुखर अभिव्यक्ति अभी न होने पाई थी। बावजूद इसके हरिऔध को इतना श्रेय तो जाता ही है कि जो चरित्र

अभी तक आध्यात्मिक प्रेम के बल खड़ा था, उसे थोड़ा झटका अवश्य दिया।

हरिऔध ने जहाँ आध्यात्मिक चरित्रों को झटका देकर सामान्य जीवन की ओर मोड़ने का संकेत छोड़ा, वहीं गुप्तजी ने पौराणिक कथाओं के उपेक्षित चरित्रों की ओर ध्यान दिलाया, जिससे उन्होंने भी प्रकारांतर से सामान्य मनुष्य के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की। स्वयं 'साकेत' में (1932) कवि उर्मिला और कैकेयी के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करता है, तो 'यशोधरा' (1933) में यशोधरा के साथ खड़ा होता है। यह दूसरी बात है कि ये दोनों ही अपने को लोकभावना के धरातल पर प्रिय प्रवास के 'राधा' से अधिक अपने को जोड़ नहीं सकी हैं। इनका विरही स्वरूप ही अधिक दिखलाई पड़ता है। **'रोना' भी महल के भीतर! काश, गुप्तजी इन्हें बाहर रुलाये होते, तो संभव था कि रूदन के कुछ भावों का परिष्कार हुआ होता।**

यह जरूर है कि जो आध्यात्म, पहले जाति (भारतेन्दु) फिर 'लोक' (द्विवेदीकाल) से जुड़ा, वह गुप्तजी के हाथों राष्ट्रीय भावों की अभिव्यक्ति में सहायक हुआ। जो राष्ट्रीय भावना, भारतेन्दु के समय विदेशी शोषण से मुक्ति का प्रयास भर थी, वह 'गुप्त' के हाथों (भारत भारती -1912) अपने भीतर की ताकत को भी सर्जनात्मक ढंग से चीन्हने लगी थी। यहाँ एक प्रकार से 'स्व-चेतनता' का भाव भी दिखायी पड़ता है। अध्यात्म यहाँ लोक से राष्ट्रीयता तक की यात्रा करता है क्योंकि राष्ट्रीय निर्माण में लोक मानस की ताकतवर व महत्वपूर्ण भूमिका की पहचान की जाने लगी। यहीं बाद में निराला व प्रसाद में विकसित होता है। लोक चेतना, यूँ यहाँ निर्माणकारी होने का संकेत छोड़ने लगती है। खुद 'साकेत' में लोक-कल्याण, लोक-मन, लोक मत, लोक शिक्षण आदि का प्रचुर प्रयोग मिलता है।

बावजूद इसके गुप्तजी ही नहीं, आगे छायावाद के भीतर प्रसाद तक में 'राष्ट्रीयता' की भावना को अतीत के गौरवशाली गान को आधार बनाकर ही अभिव्यक्त किया

है, जबकि एक मात्र 'निराला' ने राष्ट्रीयता को सीधे वर्तमान कालिक प्रसंगों से जोड़ा है। यदि पीछे भी गये, तो संस्कृत शास्त्रों में नहीं बल्कि तात्कालिक पृष्ठभूमि में ही। राष्ट्रीयता के लिए भावना नहीं, जिस भाव की जरूरत थी, कामना नहीं, जिस कर्म की जरूरत थी वह निराला में ही मिलता है। तब आचार्य शुक्ल की यह टिप्पणी, निराला के पहले कमोवेश सभी कवियों पर लागू होती है- "द्विवेदीकाल की देशभक्ति संबन्धी रचनाओं में शासन पद्धति के प्रति असंतोष तो व्यंजित होता था, पर कर्म में तत्पर कराने का आत्म त्याग,जोश और उत्साह न था। आंदोलन भी कड़ी याचना के आगे न बढ़े थे"[57] भारतेन्दुकालीन काव्य में, जैसाकि हम कह आये हैं, स्वदेश प्रेम व्यंजित करने वाला भाव, प्रतिक्रियात्मक ही था।

तब इस स्थिति में छायावाद का महत्व बढ़ जाता है। यहाँ आते आते शोषण से मुक्ति से अधिक स्वाधीनता और राष्ट्रीयता की बात की जाने लगी जिसमें हर आदमी का समान अधिकार हो सके। एक प्रकार से अब शोषण से मुक्ति से अधिक शोषकों से मुक्ति की बात की जाने लगी जिसके परिणामस्वरूप स्व-शासन की भावना जगी। इस स्व-शासन के परिणामस्वरूप ही स्वाधीनता की भावना 'मन और देह' दोनों से जा मिली। मन की स्वाधीनता ही *स्थानीयता, स्वाभिमान* और *स्वाभाविकता* की माँग का कारण बनी (निराला में)। देह की स्वाधीनता (मुक्ति) के लिए सत्ता के छद्म को एक तरफ उजागर किया गया तो दूसरी ओर स्व-शासन की स्थापना में कर्म की तत्परता का भाव भी प्रत्यक्ष हुआ। यह सब निराला के काव्य में सम्यक रूप से घटित होता है और 'लोकधर्म' यहाँ आते आते रक्षात्मक व रचनात्मक दोनों हो जाता है।

यहीं पर एक बात और भी महत्वपूर्ण है और यह भी निराला में ही घटित होती है। हम भारतेन्दुकाल के विश्लेषण में यह कह आये कि वहाँ नर-प्रकृत पर ही कवियों की दृष्टि अधिक रही, वाह्य प्रकृति पर कम ही। बाद में द्विवेदी युग के कवियों ने

वाह्य प्रकृति पर नजर डाली जो छायावाद तक जारी रही। यह दूसरी बात है कि 'प्रकृति' वहाँ 'स्त्री' के सौन्दर्य के आरोपण रूप में चित्रित की गयी। इस तरफ संकेत करते छायावाद के संदर्भ में शुक्लजी ने लिखा है "सौन्दर्य की भावना सर्वत्र स्त्री का चित्र चिपकाकर करना खेल सा हो जाता है। उषा सुन्दरी के कपोलों की ललाई, रजनी के रत्नजड़ित केश कलाप, दीर्घ निश्वास और अश्रु बिंदुता तो रूढ़ हो ही गये हैं, किरन, लहर, छाया, चंद्रिका, तितली सी अप्सरायें या परियाँ बनकर सामने आते हैं। इसी तरह प्रकृति के नाना व्यापार भी चुंबन, आलिंगन, मधुग्रहण, मधुदान, कामिनी की क्रीडा इत्यादि में अधिकतर परिणत होते दिखायी देते हैं।[58] इस रूप में प्रकृति के अपने नाना व्यापारों और वस्तुओं का अपना सौन्दर्य नष्ट होता जाता है। यही प्रवृत्ति गुप्त और हरिऔध में भी दिखलाई पड़ती है। किन्तु श्रीधर पाठक जैसे स्वच्छंद कवियों में ऐसा कम होता है। वहाँ प्रकृति के नाना-व्यापारों की सहज अभिव्यक्ति मिलती है। आरोपण कम ही हुआ है। निराला का विकास भी इसी दिशा में होता है जहाँ प्रकृति अपने नाना व्यापारों, कार्यकलापों में आती है। उसका उग्र व सहज दोनों ही रूप मिलता है। इस रूप में प्रकृति के जड़ जीवन को मुक्त कर उसके जीवंत तत्वों का खुलासा करके निराला ने लोक-जीवन को व्यापक सार्थकता प्रदान की है। यहाँ नर प्रकृति और वाह्य प्रकृति दोनों का गतिशील क्रियाकलाप सहज देखा जा सकता है। लोकधर्मिता की लोक चेतना निराला में यूँ अर्थ ग्रहण और अर्थ प्रसार पाती है। इसी कारण उनकी कविता में मुक्ति का संघर्ष भी दिखलाई पड़ता है। इस रूप में निराला ने प्रकृति को स्त्री-सुकुमारती से मुक्त करके उसे स्वतंत्र व गौरवपूर्ण स्थान दिया है। छायावाद के लोकधर्मी स्वरूप की यही पृष्ठभूमि रही है।

हम यह कह सकते हैं कि **छायावाद** ने कविता को पवित्र परिवार के घेरे से मुक्त करके उसे खुले मैदान में ला खड़ा किया जिससे इसके लोकधर्मी स्वरूप का

मूल्यांकन काफी रोचक होता है। कविता के लोकधर्मिता की आंतरिक यात्रा भारतेन्दु युग से आरम्भ होकर यहाँ तक अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति पा लेती है, जिससे उसका रक्षात्मक व रचनात्मक दोनों पक्ष स्पष्ट हो जाता है।

द्विवेदी काल के संदर्भ में हम यह कह आये हैं कि श्रीधरपाठक जैसे कुछ कवि ही रहे जिन्होंने खड़ी बोली में कविता करते हुए भी, कविता को द्विवेदीकालीन पवित्र परिवार के बाहर निकालकर खुली प्रकृति में ला खड़ा किया। यह एक प्रकार से उद्बोधनपरकता से मुक्ति का प्रयास है। उनकी कविता "एकांतवासी योगी" इसका प्रमाण प्रस्तुत करती है जहाँ 'सीधी सादी खड़ी बोली में अनुवाद करने के लिए ऐसी प्रेम कहानियाँ चुनना जिसकी मार्मिकता अपढ़ स्त्रियों के गीतों की मार्मिकता के मेल में हो, पंडितों की बढ़ी हुई रूढ़ि के बाहर निकलकर अनुभूति के स्वतन्त्र क्षेत्र में आने की प्रवृत्ति का द्योतक है।'[59] इस रूप में पाठक जी जैसे कवि ही छायावाद के लोकधर्मिता के प्रवर्तक माने जा सकते हैं। दरअसल इसकी प्रेरणा के पीछे परम्परा से चले आते लोकभावधारा के गीत ही माने जा सकते हैं जिनकी 'रचना' अभी गीतों में संभव न हो सकी थी। चूँकि समय बदल रहा था, अत: ये भी काव्य के आधार बनने लगे थे। भारतेन्दु में यह प्रवृत्ति प्रच्छन्न अवस्था में विद्यमान थी, किन्तु द्विवेदी युग की 'इतिवृत्तात्मकता' में यह यह दब गई, क्योंकि वहाँ 'अवधारणात्मक काव्य' (शिष्ट) का सृजन कुछ अधिक ही होने लगा। कविता एक ओर भाषा में उलझी, तो दूसरी ओर भाव के स्तर पर 'परिवार' में कैद हो गयी। यद्यपि कि विषय की लोकोन्मुखता की ओर श्रीधर पाठक जैसे लोगों ने ध्यान अवश्य दिया किन्तु मण्डली के बाहर होने से इनका बहुत महत्व न हो सका। छायावाद के निराला जैसे कवियों ने यहीं से रस ग्रहण किया। छायावाद की लोक विधायनी शक्ति का स्रोत इन्हीं स्वच्छन्दतावादी कवियों में ढूँढना चाहिए। यही आधुनिककाल के लोकधर्मी स्वरूप का संवाहक भी

है जिसमें लोक के उपयोग व निर्माण दोनों की भावना सन्निहित होती है। **अतः हम यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार से संस्कृत शास्त्रों की प्रियता ने आदिकाल की स्वच्छंद धारा को भक्तिकाल की आध्यात्मिकता प्रदान कर 'जड़' बना दिया, उसी प्रकार द्विवेदीकाल तक भारतेन्दुकालीन स्वच्छन्दधारा संस्कृतशास्त्रों के प्रभाव में परिवार में कैद हो गयी। किन्तु जिस तरह से आदिकालीन एक धारा भक्तिकाल के भीतर लगातार बहती रही और उसने भारतेन्दुकालीन लोक चेतना का निर्माण किया, उसी तरह से आधुनिककाल में भारतेन्दुकालीन एक धारा बहती रही थी जिसने छायावाद की लोक विधायी, लोक निमार्णकारी रचनात्मकता का निर्माण किया। किन्तु यहाँ यह भी कहना जरूरी है कि जिस प्रकार से उदात्तता की दृष्टि से भक्तिकालीन साहित्य का महत्व अक्षुण्ण है, उसी प्रकार से द्विवेदीकालीन साहित्य का भी।**

तब यह समझना जरूरी होता है कि द्विवेदी मण्डल के बाहर जो धारा बह रही थी, वह ही लोक-चेतना के विकास में सहायक हुई। उसमें ही जीवन की छोटी छोटी बातें और छोटे-छोटे जीवन की बड़ी-बड़ी बातों को संप्रेषित करने की संभावना शेष रही। इस धारा में श्रीधर पाठक के अलावा राय देवी प्रसाद 'पूर्ण', पं0 नाथूराम शर्मा, गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही', लाला भगवानदीन, पं0 रामनरेश त्रिपाठी, पं0 रूप नारायण पाण्डे आदि थे। इसमें पाठक और त्रिपाठी जी ही प्रमुख रहे क्योंकि इन कवियों की प्रमुख विशेषता ही यही रही कि वे किसी भी ऐतिहासिक वृत्त या पौराणिक कथानक में आबद्ध न होकर, स्वतंत्र रूप से नये-नये विषयों की ओर आकृष्ट होते थे। ये नर प्रकृति व वाह्य प्रकृति दोनों को एक साथ देखते थे। वाह्य प्रकृति में रमने के कारण कल्पना का समावेश जमकर होता था जो आगे छायावादी प्रकृति विधान का प्रेरणा स्रोत बना। पाठकजी ने यदि एकांतवासी योगी, श्रांतपथिक जैसी कविताएँ दी

तो पं0 रामनरेश त्रिपाठी ने मिलन (1918), पथिक (1921) और स्वप्न (1929) जैसे खण्ड काव्यों के माध्यम से नये नये विषयों की ओर ध्यान आकृष्ट किया। इसमें स्वप्न तो काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें ही लोक चेतना की वह विधायनी (लोक निर्माणकारी) शक्ति छिपी है, जिसपर बाद में निराला अपना भवन खड़ा करते हैं। राष्ट्रीयता का क्रियमाण पक्ष, जीवन की विविधता, लोक का रचनात्मक स्वर आदि सभी कुछ यहाँ मिल जाते हैं। इसमें एक बसंत नाम का युवक है जो अपनी प्रिया 'सुमना' के वियोग में दुखी है। वह एक ओर तो प्रकृति के साहचर्य में अपनी प्रेमिका का सानिध्य रखना चाहता है तो दूसरी ओर समाज के असंख्य प्राणियों की पीड़ा भी उसे उद्धार के लिए पुकारती है। एक अजीब सा द्वन्द्व चलता है जिसमें 'जीवन' की विजय होती है। स्वयं 'सुमना' उसे कर्मपथ पर अग्रसर होने को प्रेरित करती है- "सेवा है महिमा मनुष्य की, न कि अति उच्च विचार-द्रव्य बल"। इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य को कामना नहीं 'कर्म' चाहिए। द्विवेदी कालीन 'उद्बोधनपरकता' से यह छुटकारा कितना प्रासंगिक है। यह गौरतलब है कि इसके लिए इन कवियों को किसी ऐतिहासिक कथानकों की जरूरत न पड़ी। अपने अथानक वे अपने ही 'समाज' चुनते हैं और उन्हें नया अर्थ प्रदान करते हैं। *यहीं है चरित्रों का लौकिकीकरण।*

यद्यपि कि छायावाद के निराला में इन सबका सम्यक 'उन्मेष' देखा जा सकता है, किन्तु अन्य कवियों का संक्षेप में मूल्यांकन जरूरी होता है।

हम जानते हैं कि छायावाद में रहस्यवाद व लोक चेतना के बीच एक प्रकार गैप बना रहा (निराला को छोड़कर)। स्वयं *जयशंकर प्रसाद* इसके अपवाद न थे। नाटकों के माध्यम से तो कुछ स्वतंत्र कविताएँ लोक चेतना संपृक्त राष्ट्रीय उद्बोधन परकता से आप्लावित हैं, किन्तु काव्य में उनका ध्यान इस ओर न गया। इसमें उनकी कल्पनात्मक उठाने निश्चय ही आड़े आई जो और कुछ नहीं "जीवन के प्रेम विलासमय मधुर पक्ष

की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति" होने का परिणाम ही रहा है। प्रेम चर्चा के शारीरिक व्यापारों और चेष्टाओं (अश्रु, स्वेद, चुंबन, परिरंभण, लज्जा की दौड़ी हुई लाली), रंगरेलियाँ, अठखेलियाँ, वेदना की कसक और टीस इत्यादि की ओर इनकी दृष्टि विशेष जाती थी[60]। इन्हीं मधुचर्याओं और रहस्यवाद के अतिरेक का परिणाम रहा है कि इनके प्रमुख काव्यों आँसू, लहर, झरना और कामायनी तक में लोक चेतना के पक्षों का कोई संकेत नहीं मिलता। दरअसल व्यक्तिवाद का परिणाम यही होता है, क्योंकि यह काव्य में एक ऐसे असीम को जन्म देता है जहाँ सामान्य जनजीवन लगभग विलुप्त सा हो जाता है। कवि को लगता तो है कि उसके सामने समूचा विश्व है किन्तु वह अपने ही पिण्ड में कैद होता है। स्वयं कामायनी की दार्शनिकता में दृष्टि कहीं खो जाती है।

जहाँ तक पंत की बात है, तो इनके आरंभिक काव्यों में छायावादी कल्पना की भावनात्मक (आंतरिक) उठाने काफी मिलती हैं, जो और कुछ नहीं, छायावादी व्यक्तिवाद का प्रभाव ही ह। उच्छवास से लेकर वीणा, ग्रंथि, पल्लव (1926) और गुंजन तक में (1932) इसे देखा जा सकता है। यदि इसमें कहीं लोक मंगल के भाव हैं भी, तो वे इसी आंतरिक उठानों के शेड्स ही हैं। अपनी इसी उठान के कारण उनमें 'मूर्तिमती लाक्षणिकता' (शुक्लजी) के लक्षण भी मिलते हैं। पल्लव जो कि महत्वपूर्ण काव्यग्रंथ है, उसकी बहुतेरी कविताओं में प्रकृति के केवल सुंदर, कोमल और मधुर भावों तक ही कवि की दृष्टि जाने पाई है और इसका एक प्रमुख कारण शायद यह है कि इसमें या कि इस इस समय की बहुतेरी कविताओं में 'संबोधन' का भाव मिलता है जो 'आत्मीय संबोधन' न होकर 'आत्म संबोधन' ही है। जाहिर है, इसमें कवि प्रकृति के उसी रूप को देख सका है, जो उसे देखना है। मतलब कि एक सुन्दर स्त्री के भावों की विविधगामी प्रस्तुतियाँ। उसमें साधारण स्त्री की अनगढ़ता, उसका

कर्म-रत-मन, फटे विवाईं जैसी अभिव्यंजनाएँ लगभग अनुपस्थित रही। स्त्री की सुकुमारिता जैसी प्रकृति भी सुकुमार लगती है। प्रकृति को उस जैसे देखने के लिए जिस आत्मीय संबोधन की जरूरत थी, वह पंतजी में अभी न आई थी। बाद में युगांत के बाद कुछ जरूर मिलती है। **इस कारण से प्रकृति के गतिशील चित्रों का आप में अभाव मिलता है। जाहिर बात है ऐसे कवि से लोक चेतना के संघर्षधर्मी पक्ष की अपेक्षा करना भी व्यर्थ है। यूँ इनका काव्य कौशल प्रकृति के हाल-चाल पूछने जैसा बन पड़ा है। वह भी उसी सीमा तक, जहाँ तक ये सहन कर सकते हैं!**

हाँ, यह जरूर है कि युगांत (1937) तक आते पंत के काव्य का स्वर बदलता है, जबकि निराला में यह आरम्भ हो चुका था। यह युगांत, युगवाणी से होता ग्राम्या (1940) तक मिलता है। बाद में स्वर्ण किरण (1950), स्वर्णधूलि, अतिमा व वाणी में भी आता है। युगांत तक आते कविता 'आंतरिक उठानों' की चाहदीवारी से बाहर उठती है। यहाँ कहीं परिवर्तन की प्रबल आकांक्षा है, कहीं श्रम जीवियों की दशा की झलक है, कहीं तर्क वितर्क छोड़कर श्रद्धा विश्वास के साथ जीवन पक्ष पर साहस के साथ चलने की ललकार है।[61] इसमें पुरातन के नाश और नये के निर्माण का चित्रण एक साथ मिलता है। इसमें पंतजी स्वयं 'बौद्धिक अनास्था का अतिक्रमण' करते 'नये जीवन के मूल्यों के समोने' के प्रयास करते देखे जा सकते हैं। यह दोनों ही भाव कहीं कहीं एक ही कविता में मिल जाता है : पतझर गा कोकिल।

यूँ यह ठीक है कि 'युगांत' में कवि की लोक चेतना का भाव मुखर रूप से मिलता है किन्तु यह भी सत्य है कि 'प्रकृति' के विविधगामी मंगलमय प्रस्तुतियों के माध्यम से ही लोक भावना का संचार होता दीखता है। 'कर्म' में तत्परता के लिए जिस मानवीय आवेग और उद्रेक की जरूरत होती है, वह अभी तक न आने पाई

थी। मंगल के साथ अमंगल का संघर्ष, प्रकृति की कोख में ही घटित होता है, न कि सामान्य व्यक्ति चरित्र के भीतर। अत: वाह्य प्रकृति के विविधगामी गतिशील चित्रों की ओर ध्यान तो गया, किन्तु नर प्रकृति का संघर्षधर्मी कर्मरत रूप गौण हो गया। जहाँ कहीं नर प्रकृति के इस रूप की तरफ कवि का ध्यान गया है, वहाँ केवल 'यथा तथ्य चित्रण' ही उभरता है। कामना है तो जीर्णपत्रों के झरने की। चित्रण है तो बाँसों के झुरपुट का ही। दरअसल सच बात तो यह है कि चरित्रों के कर्मशील विकास की ओर कवि का ध्यान बहुत नहीं जाने का कारण शायद यही है कि उनकी 'गेय कविता' (निराला जैसी मुक्त नहीं) के भीतर इसकी संभावना भी नहीं थी। चरित्रों के लौकिकीकरणके लिए जिस छंदबद्धता से बाहर आने की जरूरत थी, उसका आपमें अभाव था। युगवाणी व ग्राम्या में इसकी कोशिश अवश्य ही की गयी, किन्तु 'यथातथ्यता' के वातावरण की मुखरता के कारण अधिक से अधिक लोकाभिव्यक्ति ही हो सकी, लोक-निर्माण कम ही हुआ। खुद 'ग्राम्या' में संकलित वह 'बुड्ढा' कविता (1940) में इसे देखा जा सकता है जिसमें एक 'गरीब बुड्ढे' की यथातथ्य दारुण चित्रण भर मिलता है जो निराला काफी पहले 'भिक्षुक' में व्यक्त कर आये थे। इस कविता में 'कर्म-रत-मन' की अनुपस्थिति बहुत खलती है जो 'तोड़ती पत्थर' के निराला में है। इसी प्रकार 'ग्राम्या' में और भी कविताएँ हैं- मसलन मजदूरनी के प्रति, वे आँखें आदि जिनमें 'निर्लिप्त भावुकता' ही दिखायी पड़ती है।

आगे के काव्य में पंतजी, इसमें परिमार्जन की बात कौन कहे, वे एक 'कल्पित आदर्श' की ओर मुड़ जाते हैं। यह स्वर्ण किरण, स्वर्णधूलि का स्वर है जहाँ कर्म की रचनात्मकता की बात तो नहीं, हाँ कामना का आदर्शवादी रुझान अवश्य मिलता है। अत: लोक जीवन भी कवि के भावनात्मक उठानों के अनुरूप फैल जाता है। दरअसल पंत का छायावादी व्यक्तिवाद, जब समाजोन्मुखी होता है, तो तुरंत की आदर्शात्मक

(समरसता) हो जाता है। निराला की उत्कटता, उदग्रता और उद्वेग इनमें कहीं नहीं मिलता जो उन्मेष (उठान नहीं) के लिए जरूरी होता है। इस रूप में पंतजी में आद्योपांत उठाने ही मिलती हैं। उन्मेष तो ढूँढ़ने पर ही मिलता है। लोकधर्मिता का सच्चा उन्मेष तो निराला में ही मिलता है। जहाँ लोक धर्म किसी आदर्शवादी सुखमय व्यवस्था से संचालित न होकर उपलब्ध सामर्थ्य व साधनों के बीच लोक-निर्माण के भाव को संचारित करता है।

अब जहाँ तक *महादेवी वर्मा* की बात है तो उनमें एकांतप्रियता की काल्पनिक उड़ाने ही अधिक है। अत: उनमें लोक निर्माण के स्वर को ढूँढ़ना अनावश्यक 'बुद्धि चातुर्य' दिखाना है।

छायावाद का सच्चा लोक सौन्दर्य तो *महाकवि निराला जी* में ही मिलता है जिनमें लोक चेतना एक ओर जहाँ अपने आंतरिक ताकत (संघर्ष, कर्मरत) को पहचानती है तो दूसरी ओर अपनी परम्परा से भी जुड़ती है। कविता के लोकधर्मी स्वरूप का आपमें उन्मेष दीखता है। वह लोक धर्म जो आदिकाल से होता चला आया था, निरालाजी में आधुनिक सन्दर्भों में अपनी पूर्णता को, अपनी निजता में, प्राप्त करता है। इनका काव्य लोक सौन्दर्य के विविध सन्दर्भों से परिपूर्ण है। लोक जीवन को लेकर कविता में क्रियमाणता की जितनी भी संभावनाएँ हो सकती है, निराला में मिल जाती है। निराला के हाथों ही लोकधर्म संघर्ष धर्मी बना, कर्म-रत हुआ, रक्षात्मक व रचनात्मक हुआ, परिवारवाद के घेरे से मुक्त हुआ, चरित्रों का लौकिकीकरण हुआ और प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता से संपृक्त हुआ। इसके अलावा और भी न जाने कितनी विशेषताएँ हैं जो निराला के काव्य में मिल जाती हैं।

ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि आधुनिक काल में निराला सौन्दर्य की तयशुदा निगाहों का अतिक्रमण करते हैं। उनकी सौन्दर्य दृष्टि कभी भी तैयार माल बेचकर

मुनाफा कमाने के पक्ष में न थी। इनमें धरती और उसके रूप रंग को मानवीय उपस्थिति के सन्दर्भ में समझने की लगन है। इसके चलते उनकी कविता में लोक की व्यापकता, सहजता और खुलापन तो आया ही, वस्तु धर्मिता भी बढ़ी है। प्रेमचन्द व रेणु की तरह उनकी रचनात्मक संवेदना की जड़ें उसी लोक में हैं जिस तरह अज्ञेय व जैनेन्द्र की नगरीक मध्यवर्ग में। इस रूप में निराला का सौन्दर्यबोध सम्पूर्णता का बोध है। इसी को रेखांकित करते पटना के भाषण में त्रिलोचन ने कहा था- "पेड़ के फूल की सुन्दरता जड़ सहित पेड़ में है। सौन्दर्य अखण्ड होता है। पंक्ति रेखांकित करने वाली कविता उत्तम नहीं होती। निराला में यह सौन्दर्य इसी रूप में अखण्ड है।"

निराला की कविता का लोकधर्मी स्वरूप हमारे अध्ययन का चूँकि यह एक स्वतन्त्र विषय है। अत: उसे अलग से प्रस्तुत किया जा चुका है।

दरअसल निराला तक आते आते आदिकाल से चला आता 'लोकधर्म' अपने को तात्कालिक दबावों में बदलता है और ऐसा होना बदली परिस्थितियों में लाजमी भी है। लोकधर्म अब अपने अनुष्ठान, रूढ़ि, लोकाचार आदि से मुक्त होता है क्योंकि ग्रामीण जन जीवन भी आधुनिकता के प्रभाव में बदलता जाता है। इससे लोकधर्म की पुरानी संघर्ष धर्मी चेतना तो बची रहती है, किन्तु इसके स्थूल रूप जाते रहे। उसका अभाव यहाँ तक आते आते 'प्रकृति' पूरा करने लगती है, जो लोक जीवन को गतिशील बनाने के काम आती है, जिससे प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता की बात भी दिखायी देने लगी। यहीं से लोकधर्म, लोक सौन्दर्य (लोक जीवन के विविध प्रभाव) का रूप लेता है। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि स्वतंत्र भारत की हिन्दी कविता तक आते आते लोक सौन्दर्य का यह प्रकृति पक्ष भी अपने को बदल देता है और अब प्रकृति हिन्दी कविता में कम आती है क्योंकि शहरीकरण के बढ़ते प्रभाव के कारण शहर का सामान्य व उपेक्षित जीवन अपनी पूरी विषंगतियों में उभरने लगता

है। अब का लोक सौन्दर्य जन सामान्य के जीवन की विषमताओं से गहरे संपृक्त होता है और चूँकि लोक सौन्दर्य और कुछ नहीं, लोक जीवन का विविधगामी प्रभाव ही है, अत: साठोत्तरी हिन्दी कविता में यही हमारे विश्लेषण का मुख्य विषय हो जाता है। *यहाँ तक आते आते कविता में लोक जीवन को लेकर तीखा क्षय बोध (Sense of loss) मिलता है जो लोक सौन्दर्य के एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में सामने आता है।* व्यक्ति, प्रकृति, कुल मिलाकर जीवन इसी रूप में साठोत्तरी कविता में दिखायी पड़ता है जिसका संकेत 'निराला' की एक कविता 'ठूँठ' में भी मिल जाता है।

यूँ तो छायावाद में यदि निराला को 'लोक सौन्दर्य' के महत्वपूर्ण कवि के रूप में माना जाय, तब तो *'प्रगतिवाद'* का अलग से विश्लेषण करना कठिन हो जाता है, क्योंकि 'लोकधर्म' की प्रगतिवाद कालीन विशेषताएँ निराला में अंतर्भुक्त हैं फिर भी नागार्जुन, त्रिलोचन और केदार नाथ अग्रवाल की कविताओं के सन्दर्भ में इसका मूल्यांकन जरूरी होता है।

अपने इस लेख के आरम्भ में मैनें इसका जिक्र किया है कि 'प्रगतिवाद' में निराला का सर्वतोन्मुखी संघर्ष थोड़ा ठहर जाता है, जो शास्त्र संवलित होकर (मार्क्सवाद) एक रीति को जन्म देता है, जहाँ व्यक्ति से अधिक व्यवस्था पर बल दिया जाता है, जिससे कविता में राजनैतिक आशय अधिक दीखने लगते हैं। जिस कारण से इसका लोकधर्म अपने आंतरिक गतिशील तत्वों को पकड़ने के बजाय, प्रतिक्रियाजन्य होकर, व्यवस्था विरोधी हो जाता है। मतलब यह कि केवल रक्षात्मक (इसके अपवाद भी हैं)। इसी कारण यह निराला की परम्परा को आगे बढ़ा नहीं पाता। अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में आचार्य शुक्ल ने इसी का संकेत करते लिखा है कि "हमारी भाव प्रवर्तिनी शक्ति का असली भण्डार इसी (जनता के हृदय) की स्वाभाविक भावधारा के भीतर समझना चाहिए" किन्तु आगाह करते हैं कि इस दृष्टि के आधार पर काव्य का पुनर्विधान

सामंजस्य के रूप में करना चाहिए, न कि अंध प्रतिक्रिया के रूप में, क्योंकि अंध प्रतिक्रिया के रूप में किया गया पुनर्विधान विपरीतता के हद तक जा पहुँचता है।[62] इसमें अंध प्रतिक्रिया शब्द बड़ा ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि प्रगतिवाद का सारा काव्य लोकधर्मी होने का बावजूद अंध प्रतिक्रिया जन्य है। काव्य के लिए जिस तटस्थता और तन्मयता की जरूरत थी वह इन कवियों में न आने पायी थी। (साठोत्तरी हिन्दी कविता में यह जरूर प्रतिक्रिया से मुक्त हुई और केन्द्र में आई)।

दरअसल प्रगतिवाद का आन्दोलन उत्तेजक रहा, जिसमें संयम नहीं था। इसी अधीरता का परिणाम रहा कि जटिल रूप उसकी पकड़ के बाहर हो गये (बाद में इसका अवशेष धूमिल में मिलता है) जहाँ 'सत्ता' के प्रति विद्रोही चेतना तो है, किन्तु लोक जीवन के आंतरिक शक्तियों की गहराई तक इनकी दृष्टि न जाने पायी। 'सत्ता' के भीतरी मर्म पर न तो ये प्रहार कर सके और न ही लोक सौन्दर्य के मर्म की पहचान करा सके। इसी कारण 'चरित्र' भी वर्ग बद्ध होकर आते हैं जिससे चरित्रों के लौकिकीकरण का जो कार्य निराला ने किया था, वह आगे बढ़ न सका। यह अकारण नहीं है कि धोबी, किसान, पासी, अध्यापक एक वर्ग चरित के रूप ही है। यूँ यह लोकधर्मी तो रहा, किन्तु जहाँ इसे निराला ने पहुँचाया था, कुछ एक अपवादों को छोड़कर उसे आगे बढ़ा न सका।

प्रगतिवादी कवियों में एक विचित्र बात 'स्मृति' को लेकर आती हैं, जहाँ 'गाँव', लोक जीवन एक प्रकार की 'स्मृति' के रूप में आते हैं। यूँ यह "गाँव में शहर का हस्तक्षेप या गाँव का शहर की ओर बढ़ता आवेग" दोनों का परिणाम भी हो सकता है और होना ही चाहिए। किन्तु इसके परिणाम और उसके विकल्प के भाव न आकर, सिर्फ लोक जीवन, लोक स्मृति के रूप में आता है, जिससे लोक धर्म की रचनात्मक व्याकुलता के भाव दिखाई नहीं पड़ते। चाहे वह नागार्जुन की कविता "सिंदूर तिलकित

भाल (1943) हो या 'पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने' (1964) की कविता हो, चाहे त्रिलोचन की, 'धूप सुंदर, धूप में जग रूप सुंदर', कविता हो, लोक जीवन की यादें तो बहुत आती हैं। इनमें एक प्रकार की बैचेनी भी होती है, किन्तु उन्हें पाने का उपक्रम कम ही मिलता है। दूसरी बात यह भी कि कठिन जीवन संघर्ष की यंत्रणादायी स्थितियों में संघर्ष को तीव्रता देने की बजाय, प्राय: इन कवियों को ऐसे अवसरों पर लोक संदर्भों में 'प्रिया' की याद आया करती है। इस रूप में 'प्रिया' ही उनके संबल का कारण होती है निराला वाला संदर्भ 'नयनों का नयनों से गोपन, प्रिय संभाषण"। किन्तु प्रेम का यह लोकधर्मी स्वरूप उन कवियों में किसी संघर्ष का भाव नहीं जगा पाता। यह उन्हें कर्म-पथ पर अग्रसर करते हुए, बदलते लोक जीवन के आंतरिक तत्वों को पहचानने में कोई मदद नहीं करता। स्वयं केदार बाबू की कविता जो कि 'अनहारी हरियाली' में संकलित है। "आज दिखी फिर मुझे गिलहरी' को देखा जा सकता है, जहाँ गिलहरी (प्राकृतिक कार्यव्यापारों) के उछल कूद के बीच पिया की याद आ जाती है। **दरअसल इसका एक सबल पक्ष यह तो रहा ही है कि प्राकृतिक कार्य व्यापारों के बीच प्रिया की याद आने से इन कवियों में जीने के प्रति अक्षुण्ण अनुराग बना रहा और यह कम बड़ी उपलब्धि नहीं है क्योंकि यह रीतिकालीन संस्कारों के बिल्कुल विपरीत हैं जहाँ प्रिया के कार्यव्यापारों के बीच ही प्रकृति के रूप दिखलाई पड़ते हैं।**

इन सबके बावजूद यह बात अवश्य है कि भाषाई संस्कृत निष्ठता से दूर विशुद्ध हिन्दी भाषा में लिखा जानेवाला यही काव्य है जिसने पुराने तत्सम बहुल भाव व भाषा से मुक्ति दिलाई। जन-जीवन से जुड़े कवि और काव्य सच्चे अर्थों में वही मिलता है जहाँ तात्कालिक जीवन संदर्भों को केन्द्र में रखा गया। इनमें व्यक्ति व रचना में कोई फाँक नहीं मिलती। जैसा देखा वैसा लिखा। जैसा जीया, वैसा कहा। अत:

एक प्रकार की अनगढ़ता भी इनमें मिलती है, जो लोकधर्मी कविता की अतिरिक्त विशेषता होती है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि इनके पहले की कविता में पाया जाने वाला 'लोक', अपने पारंपरिक परिवेश के साथ मिलता है, किन्तु इनके यहाँ नितांत समकालीन लोक ही मिलता है। इस रूप में परम्परा के आग्रह से लोक की मुक्ति में ही इन कवियों ने लोकधर्मी काव्य की चिंता की (ऐसा मार्क्सवाद के प्रभाव के कारण हुआ जान पड़ता है)। यह दूसरी बात है कि यही प्रवृत्ति इनके लिए घातक बनी क्योंकि 'लोक' का रूप घटना प्रधान होकर 'स्थूल' हो गया, जिसके विरुद्ध साठोत्तरी कवियों ने बाद में विद्रोह किया। 'लोक' का 'गतिशील पक्ष' इनसे छूट गया। प्रगतिवाद ने कविता की 'वस्तु' तो लोक से ही ली, किन्तु 'लोक' की अवधारणा को उस पर आरोपित करके आरम्भ में ही इसे निष्कर्षमूलक बना डाला। समूची प्रगतिवाद की कविता इसी 'निष्कर्षमूलकता' के कारण सरलीकरण का का शिकार होती दिखलाई पड़ती है। इस प्रकार से यह एक प्रकार के "आरोपित लोकवाद" का शिकार होती गयी है, जो बहुत दूरगामी न हुआ। इस समय में प्राय: ही लोक से ली गई 'वस्तु' को सर्वहारा के खाँचे में फिट किया गया जिस कारण से इस समय की अधिसंख्य कविताएँ हिन्दी कविता की लोकधर्मी परम्परा में 'मिसफिट' (ध्यान दें 'अनफिट' नहीं) सी जान पड़ती हैं।

बावजूद इनके यह तो कहा ही जा सकता है कि कमजोर जहाँ तक बौद्धिक और कलात्मक उठानों की बातें है, ये कविताएँ कमजोर कविताएँ हैं, किन्तु यह यह भी सत्य है कि ये ही वे कविताएँ हैं, जो जीवन का सच बतलाती हैं।

प्रगतिवाद से आगे बढ़कर जब हम *प्रयोगवाद व नयी कविता* में प्रवेश करते हैं, तब रचना व रचनाकार दोनों ही धरातल पर एक भिन्न परिवेश व मानसिकता को

पाते हैं। काल क्रम के अनुसार तो प्रयोगवाद अभी भी परतंत्र भारत की कविता कहा जायेगा, किन्तु थोड़ी देर के लिए यदि इसे स्वतंत्र भारत की हिन्दी कविता के रूप में देखें, तो इसका सम्बन्ध सहज ही नयी कविता से जुड़ जाता है।

दरअसल प्रगतिवाद तक तो गनीमत रही, किन्तु जब हम प्रयोगवाद में घुसते हैं, तब कवि का 'व्यक्तित्व' कविता में खुलकर सामने आता है अर्थात् कविता में व्यक्तिगत वैशिष्टय का प्रचुर समावेश होता है। इस कारण से कविता 'कला' से जुड़कर कुछ कुछ रीतिकालीन मानसिकता में अटक सी जाती है। ऐसा होता ही इसीलिए है क्योंकि इस समय के कवि एक 'खाते-पीते' घर से आते हैं जिनके लिए व्यक्तित्व का विलयन जैसा भाव अभी नहीं था। था तो 'व्यक्तित्व का प्रक्षेपण' जिसने कविता में कई प्रकार की 'कलाबाजी' दिखाई देने लगी। यह कलाबाजी, हवाबाजी के रूप में ही रही, जिससे न तो यहाँ अपनी जमीन के प्रति ही कोई आकर्षण रहा और न ही परम्परा से चली आती कविता के लोकधर्मी स्वरूप से ही। जहाँ कहीं ये कवि जमीन पर आते भी हैं, वहाँ तुरंत ही धूल झाड़कर पुन: हवा में तैरने लगते हैं। यूँ लोक सन्दर्भ इनके लिए 'उछाल' का कार्य करते हैं (अज्ञेय)। जिस कारण से यह बहुत दिन तक न चल सका और इसकी कोख से नयी कविता ने जन्म लिया। इस नयी कविता से सारे कवि प्रयोगवादी थे, जो यहाँ तक (1950) आते आते जमीन पर उतरने लगे थे। चूँकि 'व्यक्तित्व व जीवन को लेकर लिखे जाने वाला कृतित्व' के बीच सामंजस्य बैठा पाना इनके लिए भी कठिन हो रहा था, जिससे इस 'नयी कविता' में व्यक्तित्व को लेकर एक प्रकार की उहापोह दिखायी पड़ती है। आगे के कवि ने (साठोत्तरी) इसी उहापोह से मुक्ति का प्रयास किया, जिसके केन्द्र बने मुक्तिबोध। **अत: हम कह सकते हैं कि प्रयोगवाद से आरम्भ हुए स्वतन्त्र भारत की समूची हिन्दी कविता व्यक्तित्व के सरलीकरण की कविता रही है, क्योंकि व्यक्तित्व व कृतित्व के**

बीच जो फाँक नयी कविता में दिखलाई पड़ती है, 60 के बाद वह कम होती गयी है। यह भी गौरतलब है कि जैसे जैसे यह फाँक कम होती गयी है, कविता लोकधर्मी होकर लोक सौन्दर्य से संपृक्त होती गयी है।

साठोत्तरी हिन्दी कविता का मूल्यांकन हम इसी परिप्रेक्ष्य में कर सकते हैं, क्योंकि अब का कवि थोड़ा भिन्न परिवेश का कवि होता है। जरूरी नहीं कि वह लोक चेतना सम्पन्न कवि हों और लोक जीवन से गहरे सम्पृक्त भी हो। संभव है वह लोक जीवन से विस्थापित हो और ऐसा है भी। इसी कारण नयी कविता से आरम्भ हुए इस समय की कविता में लोक जीवन, एक तो स्मृति के रूप में भी आता है, *दूसरा* कि उसमें sense of loss भी होता है। *तीसरा* शहरीकरण से पैदा हुआ आंतरिक विस्थापन भी होता है। *चौथा* प्रकृति के गतिशील तत्वों की जगह कवियों की नजर व्यवस्था के नाजुक पक्षों की ओर रहती हैं। *पाँचवां* संघर्ष धर्मी चेतना का समावेश होता है। *छठवाँ* लोक चरित्रों के विविध रूप दिखलाई पड़ते हैं और सातवाँ यह भी कि कहीं कहीं अनगढ़ता के लक्षण भी मिलते हैं। इसके अलावा और भी बहुत सारी विशेषताएँ हैं, जिनसे साठोत्तरी हिन्दी कविता के रुझान का पता चलता है। यही कारण है कि निराला, इन सभी कवियों के केन्द्र में हैं, क्योंकि लोक जीवन के सौन्दर्य की जो विशेषताएँ निराला में मिलती हैं, उन्हीं सबका यहाँ पूर्ण विकास होता जान पड़ता है। साठोत्तरी कविता की इन प्रवृत्तियों का मूल्यांकन अलग से किया जा रहा है।

इस पृष्ठभूमि में यदि *'नयी कविता के लोकधर्मी स्वरूप'* का मूल्यांकन किया जाय, तो बात थोड़ी आसान हो जाती है। हम यह पहले कह आये हैं कि 'नयी कविता' एक भिन्न परिवेश व मानसिकता की उपज है। देश स्वतन्त्र हुआ था, जिससे यह भी कह सकते हैं कविता 'उत्साह व अवसाद' दोनों की कविता है। यह एक प्रकार से स्वतंत्र भारत की कविता का आदिकाल ही रहा है और इस रूप में इसमें

भारतेन्दुकाल और हिन्दी साहित्य का आदिकाल जैसी वैविध्यगामी प्रवृत्तियों का लक्षण भी मिलता है। नयी कविता की कई वैविध्यपरक प्रवृत्तियों में ही इसकी लोकधर्मी चेतना की प्रवृत्ति भी मौजूद है। इसमें राजनैतिक चेतना है, तो मध्यवर्गीय मानसिकता भी। एक ओर लोक धर्मिता है, तो दूसरी ओर आभिजात्यता भी।

नयी कविता ने अपने पूर्व की सारी प्रवृत्तियों को लगभग आत्मसात किया है। एक ओर इसने 'रूप' का रूपांतरण 'वस्तु' में करके अपने को 'प्रयोगवाद' से जोड़ा। *दूसरी* ओर 'सत्ता' का प्रतिपक्ष रचकर, सत्ता पर प्रहार करके 'प्रगतिवाद' से जोड़ा। लोकजीवन की आंतरिक शक्ति को पहचानकर उसे कर्म भाव व संघर्ष धर्मी बनाकर अपने को 'छायावाद' से जोड़ा। भाषाई शुद्धता पर बल देकर उसमें तनाव, विषंगति, विडंबना का समावेश कराकर 'द्विवेदीकाल' से अपना सम्बन्ध भी बनाये रखा और खुद लोक जीवन के तमाम पक्षों को काव्य का विषय बनाकर अपने को 'भारतेन्दुकाल' से भी जोड़ लिया। शायद यही कारण है कि रघुवीर सहाय को कहना पड़ा "हम तो सारा का सारा लेंगे जीवन। कम से कम वाली बात हमसे मत कीजिए।" (हमने यह देखा : 1952)

तब जिस काव्य में इतना सारा वैविध्य हो, उसे आगे के साहित्य को प्रभावित तो करना ही था। साठोत्तरी कविता को नयी कविता की लोकधर्मिता ने गहरे प्रभावित किया है।

संदर्भ सूची

1. डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी - 'मध्यकालीन हिन्दी काव्य भाषा' - पृ0 27।
2. डा0 सत्येन्द्र - मध्यकालीन हिन्दी कविता का लोक तात्विक अध्ययन - पृ0 50।
3. डा0 नामवर सिंह - हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान - पृ0 244।
4. उप0।
5. उप0।
6. डा0 रामचंद्र तिवारी - हिन्दी कलम - 3 में संकलित लेख 'हिन्दी साहित्य के काल विभाजन व नामकरण की समस्या'।
7. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका'।
8. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्भव व विकास।
9. डा0 सत्येन्द्र - मध्यकालीन हिन्दी कविता का लोकतात्विक अध्ययन - विनोद पुस्तक मंदिर आगरा - 1960।
10. उप0।
11. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' - पृ0 55।
12. उप0।
13. उप0।
14. उप0।
15. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी - 'हिन्दी साहित्य - उद्भव व विकास' - पृ0 63।
16. डा0 राम विलास शर्मा - लोक जागरण व हिन्दी साहित्य - पृ0 27।

17. डा0 शिव कुमार मिश्र - भक्तिकाव्य और लोक जीवन।

18. आचार्य शुक्ल - त्रिवेणी - सूरदास।

19. आचार्य शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास।

20. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास पृ0 131।

21. उप0।

22. उप0।

23. डा0 नामवर सिंह - दूसरी परम्परा की खोज।

24. आचार्य द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास।

25. आचार्य शुक्ल - रस मीमांसा - पृ0 37।

26. आचार्य द्विवेदी - हिन्दी साहित्य की भूमिका - पृ0 103।

27. डा0 नगेन्द्र -रीतिकाव्य की भूमिका।

28. आचार्य शुक्ल - 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'।

29. डा0 राम कुमार वर्मा - रीतिकाल का पुनर्मूल्यांकन - साहित्य भवन, इलाहाबाद।

30. अज्ञेय - हिन्दी काव्य - एक आधुनिक परिदृश्य।

31. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्भव व विकास।

32. उप0 - पृ 0 158।

33. उप0 - पृ0 161।

34. डा0 बच्चन सिंह - रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना।

35. आचार्य द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास।

36. उप0।

37. उप0।

38. आचार्य शुक्ल - 'इतिहास' - पृ0 139।

39. डा0 सत्य प्रकाश मिश्र - रीतिकाव्य प्रकृति एवं स्वरूप - 1973।

40. डा0 जगदीश गुप्त - रीतिकाव्य।

41. डा0 मैनेजर पाण्डे - शब्द और कर्म।

42. डा0 किशोरी लाल - 'रीतिकवियों की मौलिक देन'।

43. डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी - 'हिन्दी साहित्य व संवेदना का विकास'।

44. आचार्य शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास।

45. उप0।

46. डा0 चतुर्वेदी हिन्दी साहित्य व संवेदना का विकास - पृ0 108।

47. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्भव व विकास।

48. डा0 राम विलास शर्मा - भारतेन्दु हरिश्चन्द्र व हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ।

49. उप0 - 87।

50. उप0 - 87।

51. उप0 - 106।

52. आचार्य शुक्ल 'इतिहास' पृ0 320।

53. हेमंत शर्मा - भारतेन्दु समग्र।

54. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्भव व विकास।

55. उप0।

56. डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी - हिन्दी साहित्य व संवेदना का विकास - पृ0 113।

57. आचार्य शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ0 350।

58. आचार्य शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ0 365।

59. उप0 - 328।

60. उप0 - 367।

61. उप0 - 382।

62. उप0 - 382।

<u>अध्याय -3</u>

साठोत्तरी हिन्दी कविता का स्वरूप

1- साठोत्तरी कविता की अवधारणा-

यह महज संयोग नहीं है कि साठोत्तरी हिन्दी कविता के कवि अपना निकटतम प्रेरक 'निराला' को और उसके पहले 'कवीर' को मानते हैं। *डा0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी* ठीक लिखते हैं कि 'साठ के बाद की हिन्दी कविता नवीन अभिरुचि, सौन्दर्यवोध और नये संवेदन की कविता रही है' और आगे लिखते हैं कि 'यह आकस्मिक नहीं कि साठोत्तर कवि भी अपना सम्बन्ध निराला से और उसके पहले कवीर से जोड़ते हैं।[1] दरअसल, इस समय की कविता की मानसिकता ही कुछ ऐसी रही है कि वरिष्ठ या कनिष्ठ सभी कवियों के निराला केन्द्रीय स्रोत के रूप में काम करते हैं और इसके पीछे 1961 में उनकी मृत्यु को माना जा सकता है, क्योंकि जैसाकि हिन्दी साहित्य में होता, मृत्यु के बाद की उदासी में बड़े रचनाकारों की ध्वनियाँ सुनायी पड़ती हैं। विचित्र था यह समय जहाँ निराला के साथ 1964 में मुक्तिबोध की मृत्यु होती है और उसी समय (1964) नेहरूजी की। इस तरह से कहा जा सकता हैं कि **साठोत्तरी हिन्दी कविता का जन्म ही कुछ कुछ मृत्यु की कोख से हुआ है जिसपर बड़े रचनाकारों, बड़ी प्रतिभाओं की छाया का प्रभाव रहा है।** जिस घर में एक साथ इतने बड़े ब्यक्तियों का मातम मनाया जाता रहा हो, उसमें दो तरह की प्रवृत्तियों का उदय हो जाना स्वाभाविक ही है। एक प्रवृत्ति, जैसा कि होता है, अराजकता की होती है, जिसमें आदमी लगभग थेंथर होने की हद तक बेशर्म हो जाता है और ऐसे लोग भावुक तो होते हैं, लेकिन अत्यन्त ही कमजोर। उनकी स्थिति लगभग पागलों

जैसी होती है, जिसमें भीतर से तो भावों से भरे होते हैं लेकिन बाहर से अनियंत्रित हो जाते हैं। यह एक प्रकार के 'नियतिवाद' की दिशा होनी है। जिसमें आदमी अपना कार्य जहाँ एक ओर बंद कर देता है वहीं दूसरी ओर औरों को कार्य करते देख उनका मजाक भी उड़ाता चलता है और 'उपहास' करना एक प्रकार की 'प्रवृत्ति' बन जाती है, जिसमें सोचता तो वस्तुत: यह है कि वह औरों का मजाक उड़ा रहा है, जबकि वह निरंतर इस वृत्ति का शिकार होता रहता है और इसका अंत बहुत शीघ्र होता है जो नशे में चूर आदमी की तरह लड़खड़ाता हुआ एक दिन गिर पड़ता है और धराशायी होता है। कहना न होगा कि 'अकविता' इसकी ही उपज रही है।

दूसरी प्रवृत्ति संयम व धीरज की होती है, जिसमें मृत्यु भयकारी न होकर प्रेरक होती है। एक प्रकार से वह गुजरे व्यक्तियों के मूल्यों का मंथन करती है और यह देखने की कोशिश करती है कि उन्हें कैसे जिलाया जाय। ऐसे लोग बच्चों को उस दिशा में तैयार करते हैं और स्वयं प्रेरक होकर महान विभूतियों के विचार प्रवाह का माध्यम बनते हैं। कहना न होगा कि यह साठोत्तरी हिन्दी कविता की लोकधर्मी चेतना रही है जिसमें बड़े व्यक्तियों की भूमिका प्रगतिशील आंदोलन के दौर के कवि नागार्जुन, त्रिलोचन व केदार नाथ अग्रवाल निभा रहे थे, जिन्होंने रोने, बिलखने की जगह नयी पीढ़ी के बच्चों को (जिसमें केदारनाथ सिंह प्रमुख हैं) (जी हाँ, तब ये बच्चे ही थे) उन मूल्यों को प्राप्त करने का रास्ता दिखाया जिनका खालीपन स्पष्ट दीख रहा था। इसके लिए इन लोगों ने जहाँ स्वयं उस ढंग की कविताएँ लिखी, वहीं नये लोगों को इस ओर प्रेरित भी किया। शायद यही कारण है कि साठोत्तरी हिन्दी कविता के माध्यम से ये पुन: पहचाने गये, क्योंकि ये निराला, मुक्तिबोध व नयी पीढ़ी के बीच एक पुल का कार्य कर रहे थे। (पिछले अध्याय में हमने प्रगतिशील तीनों कवियों में लोक सौन्दर्य का विश्लेषण किया है)

इस तरह हम देखते हैं कि साठोत्तरी हिन्दी कविता मृत्यु की इन्हीं परिस्थितियों की उपज रही है। स्वयं भारत भूषण अग्रवाल ने लिखा है कि 'हिन्दी कविता की वह धारा जो निराला की बाद की कविताओं में स्पष्ट हुई और जिसने 'तार सप्तक' के माध्यम से अपनी स्पष्ट छाप छोड़ी, पिछले दो दशकों से क्रमश: प्रबल व्यक्तिवाद और मधुर लयात्मकता को समर्पित होती चली गई[2] और ऐसे समय में मुक्तिबोध ने कविता में हस्तक्षेप किया था। स्वयं उनकी कवितायें इसका प्रमाण हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि साठ के दशक का समय इस प्रकार की मृत्यु परक स्थितियों से एक प्रकार का बदला हुआ समय रहा है। जहाँ यह समय राजनैतिक व आर्थिक ढाँचे के चरमराने, नई सामाजिक व्यवस्था की अपेक्षाओं, विखण्डित मूल्य दृष्टि से जुड़ा हुआ है, वहीं साहित्य में सर्वथा एक नयी पीढ़ी का आविर्भाव भी हुआ है जिससे नये भावबोध का पता चलता है। यहाँ से हिन्दी कविता अपनी जड़ों की तलाश करने लगी, क्योंकि उसके सामने समूचा हिन्दी साहित्य था। इस तरह से यह कविता एक प्रकार के समूचेपन (और समूहबोध) के अतिशय आत्मविश्वास को भी प्रतिफलित करती है, जिस कारण से कहीं कहीं उत्साह का अतिरेक भी दिखायी पड़ता है।

अब यदि साठोत्तरी कविता का विश्लेषण हम समग्रता से करें, तो यह लक्षित कर सकते हैं कि **साठोत्तरी शब्द की अवधारणा सन साठ के बाद के समय में 'वस्तु' में हो रहे परिवर्तनों से गहरे जुड़ी हुई है।** यह कहना अन्यथा न होगा कि स्वतंत्रता के बाद से ही कविता की 'वस्तु' तत्व में परिवर्तन होते रहे थे और इन परिवर्तनों को नयी कविता की मध्यवर्गीय मानसिकता 'वस्तु और रूप' के परस्पर सामंजस्य में देखने की कोशिश कर रही थी, जिसके लिए उसने नये नये शब्द ईजाद किये। वस्तुओं के भीतर उत्पन्न हो रहे तनाव व अंतर्विरोध को ये उनके सापेक्ष न देखकर

अपने अनुभवों से अर्जित वस्तु तत्व के स्वरूप के भीतर सम्मिलित करना चाह रहे थे और इसी कारण नया कवि किसी विषय पर कविता नहीं लिखना, उसका अनुभव की कविता का विषय होता है[3]। इस प्रकार वस्तु के सच्चे स्वरूप को न पकड़ पाने की कमजोरी को वे विम्बों व प्रतीकों के माध्यम से छिपाना चाहते थे, जिस कारण से इस समय की कविता में नये उपमान, स्मृति चित्र, विम्ब व प्रतीक आदि का प्रचुर समावेश दिखायी पड़ता है। दरअसल ऐसा इनकी अपनी सौन्दर्य रुचि के कारण था, जिसे ये बाल्यकाल से अपने भीतर संजोकर रखते आये थे। जाहिर बात है इससे मुक्ति पाना इनके वश की बात न थी। इस कारण नयी कविता का कवि वस्तु तत्व के एक सीमित भाग को ही प्रमुखता से व्यक्त कर पाता था। वह विराट परिवर्तित होता समाज उसके अनुभवों से छूट रहा था, क्योंकि वह उसकी सौन्दर्य रुचि से मेल नहीं खाता था। इसी कारण से नयी कविता में 'क्रियात्मकता' के लक्षण कम ही मिलते हैं, क्योंकि 'वस्तु' का सच्चा (अपना) स्वरूप न उभरकर केवल कवि के अनुभवों में उभर रहे वस्तु का स्वरूप ही अभिव्यक्त होता था। जाहिर बात है, ऐसी स्थिति में अभिव्यक्त वस्तु में गत्यात्मकता का नितांत अभाव था। इस गति की कमी को नयी कविता ने शब्दों के माध्यम से भरने की कोशिश की, जिससे कविता शाब्दिक कोश बनकर रह गई। 'शब्द' भी अपनी व्यापकता में अर्थ का संधान न करके सीमित जीवनानुभवों का ही विधान करते रहे, जिस कारण से लोक जीवन के बहुत सारे शब्द भी छूटते चले गये या कि टूटते हुए व्यक्त हुए, जिससे वास्तविक जीवन में गतिमान शक्तियों का पता न चल सकता था। **इस तरह यह कविता वस्तुतः उस आदमी के उछलने जैसी बन पड़ी है, जो कसरत के नाम पर कमरे के भीतर की फर्श पर उछलता रहता है और महसूस करता है कि सुबह के 'मार्निंग वाक' पर निकला है। वह यह नहीं समझ पाता कि सुबह की सैर के समय जो गतिशील प्रकृति**

व व्यक्ति चित्र मानस पटल पर अंकित होते हैं, वह उनसे सर्वथा वंचित है।

और तब ऐसी स्थिति में, वस्तु में उत्पन्न हो रहे तनाव को न पकड़ पाने के स्थिति में, साठोत्तरी कविता ने विद्रोह किया। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि वस्तु स्वभावत: गतिशील हैं, क्योंकि वह वाह्य जीवन जगत से जुड़ी हुई हैं। ऐसे समय में परिस्थितियाँ स्वभावत: विस्फोटक हो जाती हैं और इसका स्वरूप 'अकविता' में दिखायी पड़ता है। हाँ, गतिशीलता का आग्रह इतना जबरदस्त रहा कि इन्होंने भाषा को संस्कारच्युत, लगभग नंगी कर दिया, जिससे कविता की अपनी परम्परा व परिवेश से कट गई। इस प्रकार नयी कविता जैसी इनकी भी दुर्गति हुई, क्योंकि नयी कविता, जिस वस्तु के भीतरी तनाव को ढँकने के लिए एक गूढ़ भाषा का इस्तेमाल करती थी, अकविता ने उसे उघाड़कर फेंक दिया। ये कविताएँ, अब निरर्थकतावोध, घृणा, निराशा, कुण्ठा आदि का शिकार रही हैं जो नयी कविता की छद्मता के विरुद्ध चिग्घाड़ करता है और वस्तु तत्वों के भीतरी तनाव को कम करने की कोशिश में किसी भाषा की परवाह नहीं करता।

ठीक इसी के समानांतर नयी कविता के निषेध में प्रतिबद्ध कविता का समय भी आरम्भ होता है, जिससे लोक जीवन के वस्तु तत्वों के भीतर उपज रहे तनाव की पहचान होती है। ये वे कवि हैं जो समय के दबाव को महसूस करते जहाँ एक ओर अपने लोक जीवनगत संस्कारों से प्राप्त करते लोक वस्तु के भीतर हो रहे परिवर्तनों को भी लक्षित करते हैं। नयी कविता का कवि अपने अनुभवों को समय के प्रवाह में मूल्यांकित नहीं किया, जबकि प्रतिबद्ध कविता ने इसको मूल्यांकित किया है। इसमें स्थूल और गति दोनों रूप विद्यमान हैं और यही लोक सौन्दर्य का कारण बनता है। आशय यह है कि 'वस्तु' तत्वों की गतिशीलता को रेखांकित करना इनका लक्ष्य था और इसके लिए इन्होंने अपनी संवेदना को भी गतिशील बनाये रखा। चूंकि इसके

कवियों का गहरा लोक संस्कार रहा है, इस कारण से इनमें व्यक्तिन्व के विघटन जैसा कुछ भी नहीं मिलता। 'वस्तु के अनुभव व वस्तु का वर्तमान स्वरूप' दोनों ही की क्रिया-प्रतिक्रिया से लिखा गया इनका साहित्य लोक जीवन के गतिशील तत्वों को अभिव्यक्त करने में पर्याप्त समर्थ रहा है।

साठोत्तरी कविता को **पूर्णत: मोहभंग की कविता** के रूप में भी समझा जाता है, जिसमें *तीव्र अस्वीकार* की भावना है। भारत भूषण अग्रवाल स्वयं ऐसा मानते हैं और इनके अनुसार, 'मोहभंग का यह काव्य, जो क्रमश: आगे चलकर विरोध, फिर क्रांतिकारी परिवर्तन का काव्य बना, सबसे पहले 1963 में प्रकाशित चौदह कवियों के काव्य संकलन 'प्रारंभ' में स्पष्ट होता है[1]। इसमें जगदीश चतुर्वेदी के सम्पादन में प्रकाशित 14 कवियों की कविताएँ इस घोषणा के साथ दी गई है कि 'इधर के कवि उस मैनरिज्म से मुक्ति पाते जा रहे हैं, जो पिछल वर्षों में प्रकाशित तमाम नयी कविताओं (तीसरा सप्तक के अधिकांश कवि में) में दिखायी देती है।' इन कवियों में कमोवेश एक महानगरीय जीवन की ऊब, निरर्थकता, विद्रूपता, घुटन, बेबसी व आत्म ग्लानि का भाव है। इसमें राजकमल चौधरी, श्याम परमार, जगदीश चतुर्बेदी, कैलाश बाजपेयी, मनमोहिनी प्रमुख है।

लेकिन अस्वीकार की यह भावना बहुत ही आक्रामक थी। इसके अलावा भी जो काव्य प्रवृत्तियाँ दिखलाई दी थीं, उनमें भी यह अस्वीकार भावना है। इस तरह से देखने पर इसके *तीन रूप* प्रकट होते हैं-

1. पहला अस्वीकार आत्म-लिप्त होकर तीव्र रूप से निषेधात्मक हो गया, जिसकी परिणति *अकविता* में होती है। एक प्रकार से यह अंतर्मुखी हो गई।

2. दूसरा अस्वीकार सामाजिक राजनैतिक होकर व्यवस्था के विरोध में खड़ा हो गया और सत्ता का प्रतिपक्ष रचने लगा। रघुवीर सहाय की कविता इसका उदाहरण है।

यह बहिर्मुखी तो थी, किन्तु निरा तात्कालिक थी।

3. तीसरा अस्वीकार अपने वर्तमान से असंतुष्ट होकर ग्रामीण यथार्थ की ओर मुड़ा और लोक संवेदनाओं से सम्पृक्त होकर अपने को प्रगतिवाद के साथ अपनी शर्तों पर जोड़ा। यह सत्ता का न तो पक्ष था, न ही प्रति-पक्ष, बल्कि हिन्दी कविता की लोकधर्मी प्राणधारा थी। इसने मध्यवर्गीय संवेदनाओं के बीच विलुप्त होती लोकधारा को बचाया, जिसमें स्वयं मुक्तिबोध ने बड़ा सहयोग दिया था। यह प्राणधारा प्रगतिवाद के पारम्परिक ढाँचे से भिन्न थी, क्योंकि इसके कवि आलोचकीय कविताएँ नहीं लिखते थे। इनमें संवेदन को अनुभव में बदलकर बड़ी कविताएँ लिखने का धैर्य था। इसने उपेक्षित लोक चरित्रों को भी उभारने की कोशिश की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साठोत्तरी हिन्दी की कविता-

(क) का जन्म मृत्यु की कोख से हुआ, जिसपर बड़ी प्रतिभावों की छाया मंडराती रही था।

(ख) यह सन् 60 के बाद 'वस्तु' में हो रहे परिवर्तनों से गहरे जुड़ी है,

(ग) और पूर्णत: मोहभंग की कविता है।

अब जहाँ तक 'नाम' की बात है, तो इसको किसी निश्चित तिथि में नहीं बाँधा जा सकता। इसके लिए समग्र मूड को समझने की जरूरत है। डा0 नामवर सिंह लिखते हैं कि 'साठ की जगह बासठ, तिरसठ, चौसठ, चाहे जो कह लीजिए, क्योंकि यह कोई पत्र का मुहूर्त नहीं है। राजनैतिक स्तर पर इसे चीनी या पाकिस्तानी हमले से भी जोड़ने में ज्यादा बहस नहीं है और न ही नेहरू की मृत्यु से तालमेल बिठाने को लेकर इसकी बहस है। विभाजन का आधार कोई भी घटना मानी जाय। तथ्य यही है कि छठें दशक के साथ एक युगांत की धारणा प्राप्त होती है, जिसे सुविधा के लिए राजनीतिक भाषा में नेहरू युग का अंत कह सकते हैं[5]। डा0 परमानंद श्रीवास्तव

लिखते हैं- 'सन् 60 को रेखांकित करने का मतलब है, उन बहुत से कारणों को रेखांकित करना, जिन्होंने सूक्ष्म सौन्दर्यवादी रुझान को सबसे अधिक नुकसान पहुँचाया। सन् 60 के बाद की कविता नयी कविता के महत्वपूर्ण दौर के बाद की कविता है, जो 1950 से 1960 के बीच सूक्ष्म मानसिक व रागात्मक स्थितियों के चित्रण के उद्देश्य से लिखी जा रही थी।[6] डा0 केदारनाथ सिंह के अनुसार- '1964 में अज्ञेय की कृति 'आँगन के पार द्वार' को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिलने के साथ ही नयी कविता का एक दौर पूरा हो जाता है। उनके अनुसार ये दोनों ही कृतियाँ (हिन्दी में 'आँगन के पार द्वार' और बाँग्ला में 'येतो पुरेई जाई') भारतीय कविता की उस आधुनिक धारा का प्रतिनिधित्व करती है, जिसने स्वच्छन्दतावाद का विरोध किया औ उसकी जगह पर व्यक्ति के निजी व प्रामाणिक अनुभव को प्रतिष्ठा दी थी। आरम्भ में इस धारा में विद्रोह के तत्व स्वभावत: अधिक थे, पर धीरे धीरे कलात्मक प्रौढ़ता के साथ कम होते गये। सन् 60 तक आते आते उसकी भाषा व अनुभववादी दर्शन में स्थिरता आने लगी। जीवन की सारी समस्याएँ सिमटकर कवि अथवा कलाकार की सृजन प्रक्रिया की समस्यायें बन गईं। संभवत: नवलेखन के क्षेत्र में सौन्दर्य का यह रुझान कुछ दिन तक और चलता, यदि अकस्मात् सन् 1962 के राष्ट्रीय संकट ने साहित्य तथा राजनीति में एक साथ बहुत से मोहक आदर्शों और खोखले काव्यात्मक शब्दों के प्रति हमारे मन में एक विराट शंका न भर दी होती। परिणाम यह हुआ कि कछ आधुनिक विचारकों और विशेष रूप से नयी पीढ़ी के रचनाकारों के भीतर नवलेखन के इस सौन्दर्यवादी रुझान के विरुद्ध सीधे प्रतिक्रिया हुई।[7]

इस प्रकार हम देखते हैं कि साठोत्तरी कविता एक प्रकार के समग्रता के मूड की कविता है जो परिवर्तन पर बल देती है। यह एक प्रकार की प्रवृत्ति है, जो न केवल नयी कविता से अलग है, बल्कि हिन्दी कविता के लोकधर्मी चेतना की परम्परा

में होकर, उसमें बहुत कुछ समकालीन जीवनानुभवों को भी जोड़ती चलती हैं।

2. परिवेश और विचारधारा

साठोत्तरी हिन्दी कविता को जब हम नेहरू युग के अवसान व मुक्तिबोध की मृत्यु, एक प्रकार के बहुत सारे 'क्षय' के साथ जोड़ते हैं, तव हमारे लिए यह बेहद जरूरी हो जाता है कि इस समय के सामाजिक राजनीतिक परिवेश को समझें, क्योंकि किसी भी समय का साहित्य उस परिवेश व विचारधारा से प्रभावित होता है। इस संदर्भ में हमें सबसे पहले *निर्मल वर्मा* का एक लेख[8] याद आता है, जिसमें वे आज के भारतीय परिवेश में एक लेखक के केन्द्रीय संकट का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं कि 'आज हम जिस शासन व्यवस्था में रह रहे हैं मुश्किल से वह डेढ़-दो सौ वर्ष पुरानी है। अंग्रेजों ने अपनी जरूरतों के मुताबिक उसका ढाँचा तैयार किया था। हम एक तरफ उससे अनुशासित होते थे, आतंकित होते थे, दूसरी तरफ हमारे जीवन का एक बड़ा सूखा प्रान्तर था, हमारे धार्मिक विश्वास व अंध विश्वास, हमारे दैनिक जीवन का मान मर्यादाएँ, हमारी खामोश संस्कृति के खिड़की चौखटे थे, जो उस अनुशासन से बाहर थे। इतिहास की धारा के बीच 'नो मेन्स लैण्ड' की तरह जिसे न अंग्रेज शासन छू पाता था और न राजा राममोहन राय की पीढ़ी के भद्र शिक्षित, हिन्दुस्तानी ही, जो विक्टोरिया युग के आदेशों को भारतीय संस्कृति का अंतिम लक्ष्य मान बैठे थे। इस तरह हमारा जीवन दो निर्जीव कठघरों में विभाजित था। एक का सम्बन्ध ऐसे शासन तंत्र से था, जो अपने ढाँचे में स्वतन्त्र, अपनी आवश्यकताओं पर आत्म-निर्भर था। जन जीवन से अलग और ऊपर। दूसरे सीमांत पर हमारे विश्वासों व संस्कारों का मिथक था, जो हमारे जीवन के दूसरे हिस्से को उसी तरह अनुशासित व आतंकित करता था। दोनों के बीच एक गूँगे किस्म का तनाव था।... अंग्रेज

नहीं रहे, गांधी नहीं रहे, किन्तु शासन तंत्र व उसके आस पास फैला सन्नाटा आज भी कायम है।' आगे इसी लेख में निर्मल वर्मा इस भयावह स्थिति को हमारे यहाँ के बुद्धिजीवी की संस्कृति से जोड़ते हुए लिखते हैं कि 'हमारे राजतंत्र व उससे सम्बद्ध बुद्धिजीवियों ने पिछले वर्षों में एक ऐसी आभिजात्य संस्कृति को जन्म दिया है, जो ऊपर से चाहे जितनी मानवतावादी लोकतांत्रिक दीखती हो, अपने आवरण व स्वभाव में उसके जीवन का सम्बन्ध हमारी व्यापक सांस्कृतिक भूख और आकांक्षाओं से दूर का भी नहीं है। उसे तृप्त कर पाना तो अलग बात है।'

निर्मल वर्मा के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि स्वतंत्रता के तुरंत बाद, हमारे यहाँ के बुद्धिजीवी व औपनिवेशिक तंत्र में कोई विरोध नहीं था। 'परिवेश' की यह स्थिति किसी भी टकराहट की संभावना का निषेध कर रही थी। किन्तु धीरे धीरे इस व्यवस्था में उत्पन्न हो रही विचौलिया संस्कृति ने इस बुद्धिजीवी को अप्रासंगिक बना डाला, जिससे बुद्धिजीवी की अपनी स्थिति जनसाधारण की स्थिति से बहुत अलग न रही। इस कारण से उसकी संवेदना जो अब तक किसी विचारधारा से अनुस्यूत होती थी, सीधे एकदम समसामयिक अनुभव से जुड़ गयी। यह ही साठोत्तरी का परिवेश रहा है। वास्तव में स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज मिथ्या संतोष, आशा व अपेक्षाओं का समाज रहा है जहाँ नीति विहीन राजनीति एवं न्यायहीन न्याय व्यवस्था ने समाज में पाखंडा, धूर्तता, छल और अनैतिकता को बढ़ावा दिया है। इस कारण से आजादी क़े बाद का भारतीय समाज उच्छृंखल खोखलेपन से गुजरता है। यहाँ आर्थिक दबावों के तले जहाँ संवेदनात्मक क्षरण होता है, वहीं मानवीय उदारता का अंत भी होता है, जिस कारण से निम्न व मध्यवर्गीय मनुष्य के लिए सम्मानपूर्ण जीवन यापन सपना बन जाता है। यहाँ पर पश्चिमी संस्कृति के सानिध्य से भारतीय संस्कृति प्रभावित होकर नये प्रकार के मानसिक संघर्षों को जन्म देती है। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ठीक

लिखते हैं कि 'भारत माता की ऊपरी बेड़ियाँ कट गयी हैं, लेकिन भीतर की जर्जर अवस्था ज्यों की त्यों बनी हुई है।.... रोग, अशिक्षा, कुरीति, अविश्वास से इस देश की कोटि-कोटि जनता आज भी जर्जर व पीड़ित है।

इस तरह से हम देखते हैं कि साठोत्तरी हिन्दी कविता में परिवेश के स्तर पर राजनैतिक परिस्थितियाँ सक्रिय रही हैं और यह वह राजनीति नहीं है जो सामान्यतया समझी जाती हैं, बल्कि वह राजनीति है जिसका साहित्यिक स्वरूप होता है। जो राजनीतिक विचारधारा देश में चलती है उसका एक सांस्कृतिक पक्ष होता है जो साहित्य में निखरता है[9]। इसी सांस्कृतिक पक्ष को निखारते जाने का नाम साहित्य है। स्वयं साठोत्तरी कविता का परिवेश नयी कविता की सीमायें व सम्भावनाएँ रही हैं। यह नयी कविता स्वतंत्र भारत की कविता है, जहाँ देश को स्वतंत्र हुए कुछ ही समय हुआ था। इस नयी कविता का मूल स्वर इसी कारण एवं राजनैतिक रहा है क्योंकि राजनीति से अलगाव इस समय के कवियों के लिए संभव नहीं था।

यह समय, जैसा कि होता है, नये मूल्यों के सृजन व संघर्ष का भी समय रहा है। इस नये मूल्यों व पुराने मूल्यों के संघर्ष में एक कठिन रचनाकार कहाँ तक सफल होता है, वह उसकी प्रतिभा पर निर्भर करता है। मुक्तिबोध[10] ने 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' में ठीक लिखा है कि 'नये मूल्यों का जन्म नयी परिस्थितियों की सार्वजनिकता से होता है। मूल्य मूर्त होते हैं, जो केवल भावुक व वैचारिक धरातल पर 'मूल्य' कहलाकर वस्तुतः व्यक्तित्व का गुण (वर्च्यू) बनने का प्रयास करते रहते हैं। नयी परिस्थितियाँ जब व्यक्तित्व को इष्ट दिशा में सम्पूर्ण रूप से मोड़ देती है- अपने तकाजों की पूर्ति के लिए आवश्यक कार्यों की शक्ति जब व्यक्तित्व में पैदा कर देती हैं, यानी उस परिस्थिति के लिए आवश्यक गुणों का जन्म और विकास जब उस व्यक्तित्व में हो जाता है, तब वे मूल्य साकार हो उठते हैं। मूल्यों को जन्म देने वाली ये परिस्थितियाँ

अपनी सार्वजनिकता में ऐतिहासिक होती हैं।'

ये मूल्य वस्तुत: छद्म व्यक्तित्व का निर्माण भी करते हैं जिसे पचास के दशक के मध्यवर्गीय रुझान वाली नयी कविता में देखा जा सकता है। इसका परिणाम बड़ा भयंकर होता है, क्योंकि यह छद्म वंचनाओं और झूठे वायदों का सृजन करता है। ऐसा कैसे होता है, इसका रोचक विश्लेषण मुक्तिबोध[11] के यहाँ मिलता है- 'मध्यवर्गीय परिवारों के क्षेत्र में, पारिवारिक उत्तरदायित्व की सुधर सामाजिकता और शिष्ट समाज में अपने यश को सुघर वैयक्तिकता महत्वपूर्ण होती है। फलत: पारिवारिक उत्तरदायित्व के सुधर निर्वाह का संघर्ष और शिष्ट समाज में यश प्राप्त करने का संघर्ष महत्वपूर्ण हो उठता है। इस उत्तरदायित्व का सुधर निर्वाह किस ढंग से, किस प्रणाली और किस रीति से हो रहा है, यह महत्वपूर्ण नहीं होता, जितनी कि यह बात कि ख्याति मिल रही है, कि यह उत्तरदायित्व पारिवारिकों को उत्तम रीति का जीवन प्रदान कर रहा है और यह कि अपने सुधर सुन्दर जीवन द्वारा वह शिष्ट समाज का यशोभागी है। नतीजा यह होता है कि मध्यवर्ग की केवल आत्म-प्रवंचनाओं का ही सृजन नहीं होता, वरन् उस तथाकथित यश और उत्तरदायित्व की पूर्ति के मार्ग में व्यक्ति को अनेकों झूठे समझौते करने पड़ते हैं।'

नयी कविता के दौर के कवि इस मनोवृत्ति के प्राय: ही शिकार होते गये हैं, जिसमें वास्तविक जीवन में उद्देश्य की अनापूर्ति को वे सपनों के माध्यम से पूरा करने की प्रवृत्ति के शिकार हैं। यह वास्तव में कितनी बड़ी विडम्बना होती है कि जो व्यक्ति यथार्थ में असफल रहता है, वह कल्पना के यथार्थ में उसे पाने की कोशिश करता है और प्रफुल्लित रहता है। जाहिर बात है, ऐसी मनोवृत्ति का देर तक जिन्दा रहना सम्भव न था और जल्दी ही साठोत्तरी ने इसके विरुद्ध विद्रोह किया। साठोत्तरी के परिवेश की यह जटिलता भी महत्वपूर्ण है।

जो कवि इन प्रवृत्तियों से मुक्त रहें हैं और स्वयं नयी कविता के भीतर ऐसे कवि थे, उनका विकास सार्थक सृजन की दिशा में होता गया है और यही आगे साठोत्तरी का मार्ग भी प्रशस्त करता है। इसके लिए मुक्तिबोध[12] ने *तीन बातों* का जिक्र किया है -

1- व्यक्तिगत संघर्ष को सामाजिक संघर्ष में बदलने की प्रक्रिया और सामाजिक संघर्ष में व्यक्तिगत संघर्ष का महत्व।

2- नये मानवतावादी मूल्यों के लिए किए जाने वाले संघर्ष में *चरित्र का महत्व*...। इस चरित्र में मानवीय सुकुमार गुणों का समन्वय तो हो ही, साथ ही उसमें समाज के अन्दर दुष्प्रभावों से उत्पन्न धारणाओं के विरुद्ध अपनी सत्ता स्थापित करने की प्रवृत्ति भी हो।

(यहाँ कहना न होगा, कि साठोत्तरी हिन्दी कविता में यह चरित्र बेहद महत्वपूर्ण हो उठा है और लोक सौन्दर्य का वास्तविक स्वरूप इन्हीं चरित्रों में दिखायी पड़ता है)

3- अनुभवजन्य और विचारजन्य ज्ञान की प्राप्ति का अनुरोध होता है कि ज्ञान प्राप्तिकर्त्ता का चरित्र भी उस ज्ञान द्वारा निश्चित किये गये मानदण्डों और कार्यों की पूर्ति करे।

सारांशत: व्यक्तित्व को अब ऐसे गुणों की आवश्यकता होती है, जो नये मानवीय मूल्यों की नयी नयी मंजिलों तक पहुँचने के संघर्ष में टिकने के लिए उसे सक्रिय सहायता कर सके, उसे जीवन ज्ञान की गहराई दे सके और उस ज्ञान के कार्यात्मक तकाजों की पूर्ति हेतु आवश्यक हार्दिक, बौद्धिक और कार्यात्मक क्षमता प्रदान कर सकें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नयी कविता का जन्म, संघर्षों व तनावों से उत्पन्न विभिन्न भाव स्थितियों से हुआ है। ये संघर्ष और तनाव उस समय के पूरे परिवेश

व वस्तु की उपज रहे हैं जिस कारण इनका ऐतिहासिक आधार है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि साठोत्तरी कविता का परिवेश जहाँ एक ओर नयी कविता की अपनी परिस्थितियों से बनता है वहीं इससे मुक्ति के प्रयास से भी। इस आधार पर हम उस सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितियों का मूल्यांकन कर सकते हैं और नयी कविता भी उस काल की आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक चेतना से, उससे अनेक प्रकार के उतार चढ़ावों से प्रभावित हुए बिना नहीं रही है। राजनैतिक स्तर पर हम जानते हैं कि यह समय कांग्रेस के वर्चस्व का समय था, जिसमें एक पार्टी का नियंत्रण था। स्वाधीनता के पहले यह नियंत्रण स्वाभाविक था, क्योंकि वहाँ पर हमारे दुश्मनों का ठीक ठीक पता था, जिनसे लड़ने के लिए एक जुटता का होना बेहद जरूरी था। लेकिन इस एक जुटता के पीछे जो व्यक्तियों का समुदाय था जाहिर बात है, उसकी अपनी चिंतायें थीं, जो स्वाधीनता प्राप्ति की आवेगमयता में दबी दबी रही थी। लेकिन जैसे ही देश आजाद हुआ, उनकी आकांक्षायें टूट टूट कर बाहर आने लगी और जैसा कि होता है, मोनार्की के बाद एनार्की आती है। यहाँ भी ऐसा ही हुआ। कांग्रेस के अंतर्विरोध उसके भीतर से ही प्रस्फुटित होने लगे थे। यह समय इस प्रकार 'केन्द्रीयता' के टूटने का समय था और जब यह केन्द्रीयता कमजोर होती गयी, तब उसी कांग्रेस के भीतर से बहुत सारी असंगत विचारधाराओं ने अपना स्वतंत्र रास्ता अपनाया, क्योंकि कांग्रेस पहले से ही भिन्न भिन्न विचारधाराओं का मिला जुला रूप थी। चार्ल्स बीतलहाम[13] ने ठीक लिखा है 'कांग्रेस एक ऐसा बरगद का पेड़ था जिसके नीचे धूप से बचने के लिए कोई भी राजनीतिक मुसाफिर शरण ले सकता था।'

स्वयं इस 'केन्द्रीयता' का टूटना तत्कालीन साहित्य में भी दिखायी देता है। यूँ भी जब राजनीति और साहित्य एक दूसरे को गहरे प्रभावित करते हैं, तब यह देखना

गौरतलब है कि साठोत्तरी कविता के मोहभंग की स्थिति व राजनैतिक मोहभंग की स्थिति स्वतंत्र भारत में लगभग एक ही समय में घटित हुई। आजादी मिली और नेहरू इसके कर्णदार बने जो अपनी विचारधारात्मक तेवर और चमत्कारी व्यक्तित्व के बल पर अपनी मृत्यु तक (64) राजनीति में छाये रहे। इसी के आसपास अज्ञेय भी अपने तार सप्तक (1943) के प्रकाशन से 1959 (तीसरा सप्तक) तक साहित्य में छाये रहे। यह नयी कविता (1950-59) का दौर था। यहाँ यह देखना रोचक है कि अज्ञेय और नेहरू में कितनी समानताएँ हैं। दोनों में व्यक्तित्व का विभाजन कितना खटकता है। इसी को लेकर दोनों का बड़ा ही रोचक विश्लेषण मलयज ने किया है। वे लिखते हैं- "दोनों की जगहों पर कोई बुनियादी चीज छूट गयी थी। शायद यह कि वह 'साई' बाहर ही बसता था। वह वर्ग पोषित नर, जिसकी आँखों में नारायण की व्यथा भरी रहती थी। अत: नेहरू के स्वप्न दर्शन के अंत ने स्वप्नभंग से उत्पन्न स्थितियाँ दी- अनस्थिरता व विघटन, जिसमें तमाम सारी शक्तियाँ जूझकर समाज के एक गतिशील यथार्थ को प्रकाशित कर रही है, असंतोष एवं आक्रामकता, जिसमें नई युग पहचान की संभावनाएँ टूट बन रही हैं; एक प्रजातंत्र जो तपने के लिए आग में जल रहा है। 'अज्ञेय' के स्वप्नदर्शन के अंत ने हमें हमें आज की युवा कविता दी। आशंका व संभावना के ध्रुव बिन्दुओं पर झूलती एक काव्य पीढ़ी, एक दु:स्वप्न जो कविता के भविष्य से ज्यादा मनुष्य के भविष्य को लेकर है, एक वर्ग चेतना जो राजनीति, कली और फूल के भेद को पहचानती है।' इस लम्बे उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि राजनीति और साहित्य में मोहभंग के दौर लगभग समान रहे हैं। नेहरू की कमजोरी यह थी कि वे सामंतवादी ढाँचे को तोड़े बगैर औद्योगिक पूँजीवाद को लाना चाहते थे और अज्ञेय भारतीय संस्कृति के दार्शनिक भाववाद से लड़े बिना आधुनिकताबोध, व्यक्ति स्वातंत्र्य और बुद्धिवाद को स्थापित करना चाहते थे। (विजय कुमार : कविता

की संगत, पृ0 39)। तब यह स्पष्ट है कि राजनीति में जहाँ यह विरोध कम्यूनिस्ट पार्टी के आंदोलन के रूप में उभरा, साहित्य में यह अस्वीकार प्रतिबद्ध कविता की लोकधर्मी चेतना के रूप में प्रतिफलित हुआ। अज्ञेय और उनके साथी धर्मवीर भारती, विजय देव नारायण साही, गिरिजा कुमार माथुर, जगदीश गुप्त आदि जब मिथकों को आधार बनाकर सनातन किस्म की तनावहीन शुद्धतावादी कविता लिख रहे थे, वहीं साठ के बाद के कवियों की कविता में एक 'तनाव' आद्योपांत विद्यमान रहता है। ठीक राजनीति की तरह ही, साहित्य को भी बाहरी खतरों से बचाने का प्रयास होने लगा और साहित्य में भी एक प्रकार की Self reliance वाली नीति अपनाई गयी। यहीं से 'घरेलू' उत्पादों पर जोर पकड़ा। कवियों को अंतर्राष्ट्रीय बाजार में टिकने के लिए इसी स्थानीयता का आधार उपयोगी लगा और यह उचित था। ऐसे ही समय में 'मुक्तिबोध' केन्द्र में आते हैं, जिनकी काव्यभाषा का खुरदुरापन भद्रलोक की नपी तुली और संयमित अभिव्यक्ति के खिलाफ जाता था (विजय कुमार : कविता की संगत)। अपनी इसी स्थानीयता के कारण हमने कहा है कि पहले ये **कवि लोक जीवन की ओर इसलिए मुड़े ताकि बाहरी प्रभावों से बचा जा सके। इस रूप में साठोत्तरी कविता की आरंभिक लोक धर्मिता, लोक जीवन के प्रति सम्पृक्तता से अधिक परायेपन के बोध की उपज थी जो धीरे धीरे कम होती गयी। यह लोक जीवन की सम्बद्धता का ही सूचक है।** दूसरी तरफ इसी राजनैतिक परिवेश में 'विचारधारा' का समावेश भी हो जाता है क्योंकि कांग्रेस से मोहभंग की स्थिति में वामपंथी विचारधारा ने जोर पकड़ा था, जिसका परिणाम कम्यूनिस्ट पार्टी में विभाजन रहा है। नेहरू ने इसे कम करने की कोशिश अवश्य की, जिसके कारण उन्होंने 'समाजवाद' का नारा दिया, लेकिन 'कांग्रेस पूँजीपतियों की पार्टी है', यह विचार इतना गहरे धँस चुका था कि उससे निजात पाना मुश्किल लग रहा था। कांग्रेस ने समस्याओं के प्रति, एक

प्रकार का ढुलमुल रवैया अपनाये रखा, जिसका परिणाम यह हुआ कि किसी भी समस्या का स्थायी समाधान ढूढ़ने के बजाय वे तात्कालिकता से ही संतुष्ट रहने लगे। इसके साथ और इसके बावजूद वे केन्द्रीय शासन की बागडोर भी अपने पास रखना चाहते थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनकी लोकप्रियता दिनों दिन कम होती गयी। जब तक नेहरू थे (1964), तब तक तो कुछ गनीमत ती किन्तु उनके बाद तो इस पूरी व्यवस्था के प्रति विद्रोह हुआ, जिसको हम साहित्य (अकविता) व राजनीति (वामपंथी मोर्चे का उदय) में देख सकते हैं।

इसी बीच कम्यूनिस्ट पार्टी में विभाजन 1962 से आरम्भ हो गया था, जो 1964 में घटित हो गया। 1964 में सी0पी0आई0 और सी0पी0एम0 दो पार्टियाँ बन गईं। 1969 में तीसरा विभाजन हुआ, जब पश्चिम बंगाल के उग्रवादी किसानों ने नक्सलवाड़ी विद्रोह की सफलता से उत्साहित होकर सशस्त्र संघर्ष का रास्ता अपनाया। यह C.P.(ML) थी। इसी के समानांतर 'जनसंघ' का उदय भी हो रहा था। 1962 के भारत चीन युद्ध से यह जोर पकड़ा, क्योंकि चीन के हमले से आहत भारतीय मानस को इसने राष्ट्रीयता, अखण्डता, देश प्रेम, गौरवमय अतीत का पाठ पढ़ाया।

लेकिन इन सब विचारधाराओं के होते हुए परिवेश की स्थिति कुछ ऐसी थी कि हर जगह छद्मता का प्रभाव था। स्वयं गरीबों व शोषितों के नेता कहलाने वाले कम्यूनिस्ट आपस में अंतर्कलह के शिकार थे जिसको आधार बनाकर डा0 राम मनोहर लोहिया ने लगभग झुँझलाते हुए कहा था कि 'जिंदा कौमे पाँच साल तक इंतजार नहीं कर सकती।' डा0 लोहिया चाहते थे कि मजदूर वर्ग संगठित हो और पूँजीपतियों का आधिपत्य समाप्त हो। ऐसे ही समय में मुक्तिबोध ने लिखा है-

तुम्हारी मुक्ति उनके प्रेम से होगी

कि तद्‌गत लक्ष्य में से ही

हृदय के नेत्र जागेंगे

वह जीवन लक्ष्य उनके

प्राप्त करने की क्रिया में से

उभर ऊपर

विकसते जायेंगे निज के

तुम्हारे गुण

कि अपनी मुक्ति के रास्ते

अकेले में नहीं मिलते। (चकमक की चिनगारियाँ)

अब जहाँ तक *आर्थिक परिवेश* की बात है तो स्वतंत्रता के बाद कांग्रेस ने 'पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से देश की आर्थिक उन्नति करने की दिशा में कदम बढ़ाया। यह भीषण आर्थिक संकट से उबरने का प्रयास था, क्योंकि देश का विभाजन, देश को काफी कमजोर कर चुका था और अंग्रेजों ने तो इस ओर प्रयास ही किया था। इसके लिए 'राष्ट्रीयकरण' की नीति अपनाई गई, जबकि यह बात भुला दी गयी कि इस 'राष्ट्रीयकरण' का व्यापक सामाजिक आधार भी होना चाहिए। इस कारण से पूँजीवादी शोषण बढ़ा, क्योंकि जो गरीब थे, वे गरीब होते चले गये और धनी और भी सम्पन्न होते गये। अफसरसाही ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। सार्वजनिक क्षेत्रों पर बल दिया जाने लगा, किन्तु उसमें पनप रहे भ्रष्टाचार को नियंत्रित करने की कोशिशें न की गयीं। इस प्रकार राजनीति का यह 'विकेन्द्रीकरण' एक प्रकार से छलावा मात्र ही रह गया किन्तु साहित्य के क्षेत्र में यह सफल रहा। **यहाँ यह गौरतलब है कि केन्द्रीयता के टूटने व विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया जहाँ राजनैतिक संदर्भ से लगातार असफल होती गयी है वहीं साहित्यिक संदर्भ से सफल होती गयी है क्योंकि**

साठोत्तरी हिन्दी कविता में लोक संदर्भों की जोरदार अभिव्यक्ति 'विकेन्द्रीकरण' नहीं तो और क्या है? यही साठोत्तरी हिन्दी कविता का परिवेश है और विचारधारा है।

3- विखण्डित मूल्य दृष्टि

यह बात गौरतलब है कि 1947 के बाद 1960 तक के बीच का समय हिन्दी कविता में शीतयुद्ध से प्रभावित था, जो पूर्ववर्ती प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया में आया था जिसके बारे में मुक्तिबोध[14] ने कहा है, नयी कविता के बुर्ज से शीतयुद्ध की गोलंदाजी की गयी थी। इन डेढ़ दशकों में नयी कविता समूचे परिदृश्य पर प्रधान हो गयी थी, क्योंकि प्रगतिवाद के विघटनकारी तत्व उसकी अपनी आंतरिकता में ही विद्यमान थे और जन आंदोलन के संघटन को लेकर तमाम प्रकार के विवाद भी उत्पन्न होने लगे थे। नयी कविता ने अपने मध्यवर्गीय संस्कारों की अभिव्यक्ति प्रचुर मात्रा में दी और जैसा कि कहा जा चुका है, इसमें वस्तु के परिवर्तनकारी तत्वों के अपने अनुभवों पर अधिक बल दिया गया। यह गैर-राजनैतिक परक कविताओं का भी समय था, जिनसे 'आत्म सत्य' को पाने की भरपूर कोशिश की जाने लगी। यह आत्म-सत्य, वस्तुत: आत्मीय सत्य से नहीं जुड़ पाया और खुद नयी कविता आंतरिक विघटन का शिकार होती चली गयी। इस कविता में व्यक्ति स्वातंत्र्य खूब था, किन्तु व्यक्ति को उसकी गतिशीलता में समझ पाने का न तो अवसर था, न ही इच्छा। वे अपनी पुरानी समझ से ही काम चलाना चाहते थे। व्यक्ति स्वातंत्र्य की बात करते हुए भी वे राजनैतिक आर्थिक मसलों पर प्राय: चुप ही रहते थे, क्योंकि इससे पूँजीवादी व्यवस्था के प्रतिगामी शक्तियों के विरुद्ध जाने का खतरा बना था और वे इस खतरे को उठाना नहीं चाहते थे, क्योंकि इससे उनको अपने व्यक्तित्व का संकट उत्पन्न हो रहा था। एक प्रकार

से वे सामंतवादी ढाँचे पर आरोपित किये गये पूँजीवादी ढाँचे को अपनी शरणस्थली के रूप में देखते रहे थे। इस प्रकार एक ओर वे प्रगतिवाद से वचना चाह रहे थे और दूसरी ओर सत्ताओं से सुरक्षित महसूस कर रहे थे।

इस प्रकार हम यह भी समझ सकते हैं कि नयी कविता जनसमुदाय से सत्ताओं के संघर्ष की पक्षधर न ती, क्योंकि इससे उसका अपना हित टकराता था। कुछ कवि मसलन श्रीकांत वर्मा व रघुवीर सहाय (1955 के बाद) को छोड़ दिया जाय तो नयी कविता के बहुत सारे कवि उसी राजनीतिक सत्ताओं के अंग रहे थे। इनके पास विचारधारा की कमी ही इनको भोगे हुए विशिष्ट सत्य तक सीमित करती है। इस कारण से जहाँ इनसे अनुभवगत विस्फोट की संभावना थी, उसमें इनका अनुभव जगत संकुचित हो गया। इनकी वस्तु निष्ठता अपने अनुभवों पर आश्रित थी, न कि 'वस्तु' के बदल रहे स्वरूप पर। इस कारण से नयी कविता का अनुभववाद, आत्मरत हो गया और आत्म प्रकटीकरण को ही उन्होंने सौन्दर्यानुभूति मान लिया। इससे बड़ी भारी क्षति हुई क्योंकि व्यापक जीवन सत्य जो निरंतर गतिशील है, इनसे छूट गया। मुक्तिबोध ने ठीक लिखा है[15]- 'व्यक्ति समस्या को मानव समस्या बनाकर तभी प्रस्तुत किया जा सकता है, जब हम उस समस्या के लिए पूर्णत: तटस्थ हों और फिर उसमें भीगें, रमें। इस प्रकार उस सारे ताने बाने को देखें, जिसमें मानव जीवन बुना हुआ है। अपनी स्थिति में और विकास में, हमें तथाकथित सौन्दर्यानुभूति के क्षणों से बाहर जाना होगा और भाव का आधार बनने वाले ज्ञान का विस्तार करना होगा। केवल एक क्षण के उत्कर्ष का चित्रण करने के बजाय, हमें लम्बी नजर फेंकनी होगी और वह सारा ताना-बाना अंकित करना होगा जिससे वह समस्या एक विशेष काल और परिस्थिति में विशेष रूप और रंग में विकसित और ग्रंथिल हुई हो। यह सब कार्य तथाकथित सौन्दर्यानुभूति के बाहर का कार्य है, इसलिए यह समझा जाता है कि वह सौन्दर्यानुभूति

के क्षणों के लिए या कलात्मक चेतना का परिवृद्धि व विकास के लिए महत्वपूर्ण नहीं हैं।'

दरअसल 'नयी'कविता' जीवन की समग्रता को लेकर नहीं चल पाती। वह खण्डों में उलझकर 'क्षण चित्रों' को ही प्रतिबिम्वित करती है। मुक्तिबोध लिखते हैं[16]- 'लेखक की मूल प्रवृत्ति यह हो गयी है कि किसी भी जीव खण्ड में प्रकट एक स्थिति, एक प्रसंग के अंतर्गत एक विशेष भाव को पकड़ ले और उसे शब्दबद्ध कर ले। वह उस भाव से सम्बद्ध अन्य सूत्रों को पकड़कर उन्हें प्रस्तुत नहीं कर पाता। वह बाह्य के प्रति संवेदनाघात करके, संवेदनात्मक प्रतिक्रिया करके, उसे शब्दों में बाँध देता है।' इससे स्पष्ट है कि रचनाकार प्रतिक्रिया के स्तर पर जीता है न कि क्रिया के स्तर पर और ऐसा 'वस्तु' के नये स्वरूप से उसकी कम सम्पृक्ति ही है। वे वास्तविक जीवन विश्लेषण को उसकी पूरी गहरायी में आत्मसात नहीं करना चाहते। इस कारण से जहाँ उसमें विषयगत वैविध्य के दर्शन होते हैं, वहीं उसमें वस्तुगत गहराई नहीं मिलती। आशय यह कि बहुत सारे विषयों पर लिखने के चक्कर में नयी कविता में अपेक्षित गहराई का अभाव दिखायी देता है।

इस प्रकार नयी कविता का कवि अपनी स्थितियों के आत्म-प्रकटीकरण तक ही सीमित रहा है। इसने इसका अतिक्रमण करना उचित न समझा। इस कारण नयी कविता में अनुभव की एक रूढ़ि सी स्थापित हो जाती है, जिसकी निष्पत्ति जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि में होती है। स्वयं मुक्तिबोध को इस खतरे का अहसास था जिस कारण से वे लिखते हैं[17]- 'अभिव्यक्ति के प्रयत्न-कलाकर्म- बहुत कुछ अभ्यास में निहित हैं। लेखक को, अभिव्यक्ति साधना में, काव्याभास में, न केवल विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति का अभ्यास हो जाता है, बल्कि विशेष प्रकार की भाव संवेदनाओं का भी अभ्यास हो जाता है। क्रमशः दोनों तरह के अभ्यास, भाव संवेदनाओं की अभ्यासात्मकता

और तत्सम्बन्धी अभिव्यक्ति की अभ्यासात्मकता, ये दोनों ही मिलकर लेखक की जिस प्रकार क्षमता बन जाते हैं, उसी प्रकार वे उसकी कठोर सीमा भी वन जाने हैं। यदि लेखक इनके विरुद्ध अनवरत संघर्ष नहीं करता, तो वह अन्य भाव क्षेत्रों का प्रभावोत्पादक ढंग से वर्णन नहीं कर सकता, क्योंकि उसने उन भाव क्षेत्रों को पूर्णत: और सारत: व्यक्त करने वाले कलात्मक उपादानों का (कलात्मक भाषा का भी) विकास नहीं किया है। इसका परिणाम यह होता है कि निविड़ से निविड़, गहन से गहन, उसके जो अत्यंत ही आत्मीय क्षण रहे हैं, उनको भी लेखक (उपर्युक्त अर्थ में) सीमाबद्ध काव्याभ्यासात्मक जड़ता के कारण कलात्मक वाणी नहीं दे पाता।'

नयी कविता के कवियों के साथ यह हुआ है। उनकी सौन्दर्याभिरुचि तक जड़ीभूत हो गयी है और यह मात्र संयोग नहीं है कि सन 60 के बाद हिन्दी कविना में एक बदलाव को लक्षित किया जा सकता है जिसमें *केदार नाथ सिंह* प्रमुख हैं। इनके पहले व इनके साथ रघुवीर सहाय व सर्वेश्वर दयाल सक्सेना को भी लिया जा सकता है। इनमें जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि व वस्तु तत्व की सीमा दोनों का अतिक्रमण दिखायी देता है जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे। स्वयं मुक्तिबोध में इसके लक्षण मिलते हैं, जिनकी कविताओं का विश्लेषण इस पुस्तक के अंत में किया गया है। इन लोगों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से मध्यवर्गीय सौन्दर्यबोध की भीतरी विसंगतियों को उघाड़ने का कार्य किया है और जैसे जैसे वस्तु में हो रहे लगातार परिवर्तनों व अंतर्विरोधों की पहचान संभव होने लगी, वैसे वैसे मुक्तिबोध, त्रिलोचन, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल आदि की कविताएँ प्रासंगिक होती गयीं। स्वयं लोक संदर्भों से जुड़ी कविताओं में इसे देखा जा सकता है, जहाँ 'लोक' वह नहीं है जिसे वे अपने परिवेश व परिस्थिति से लाते हैं, बल्कि वह है जिसमें एक सामान्य मनुष्य जीता है। ये रचनाकार, अपनी संवेदना के विस्तार के लिए सौन्दर्याभिरुचि के किसी विशिष्ट क्षण द्वारा उपस्थित अन्तर्तत्वों

का अतिक्रमण करते हुए, अपनी आत्मवद्धता से मुक्ति का प्रयास भी कर रहे थे और **साठोत्तरी हिन्दी कविता का लोक सौन्दर्य इसी 'आत्म वद्धता' से मुक्ति के प्रयास में देखा जा सकता है।**

यदि साठोत्तरी के समग्र मूड की बात की जाय, तो **तीन प्रवृत्तियों** का पता चलता है-

1- चूँकि इसकी प्रवृत्ति तीव्र अस्वीकार व असंतोष की रही है, अत: एक अस्वीकार आत्म लिप्त होकर निषेधात्मक हो गया है। यही विखण्डित मूल्य दृष्टि का कारण बना जिसे अकविता कहा गया।

2- दूसरा सामाजिक समस्याओं से जुड़कर सत्ता का प्रतिपक्ष रचने लगा, जिसके प्रतिनिधि मुक्तिबोध, शमशेर, रघुवीर सहाय आदि को माना जा सकता है।

3- तीसरा लोक धर्मी चेतना से मिलकर लोक जीवन में हो रहे परिवर्तनों को लक्षित करने लगा।

इस प्रकार विखण्डित मूल्य दृष्टि को आधार बनाकर आगे आने वाली अकविता वस्तुत: तीव्र गुस्सैल कविता रही है क्योंकि उसने नयी कविता की जड़ीभूत सौन्र्याभिरुचि के विरुद्ध विद्रोह किया। उसकी अशांत और उग्र मन:स्थितिपूर्ण नकारात्मकता व विक्षोभपूर्ण अनुभव एक ऐसी आक्रामक भाषा को जन्म लेती है, जो नयी कविता से सीधे मुठभेड़ करती है। विजय कुमार[18] ठीक लिखते हैं कि 'नयी कविता वस्तु तत्व में पनप रहे जिस तनाव को अपनी मध्यवर्गीय खोखले आभिजात्य से ढकना चाहती थी, साठोत्तरी उसे उतारकर फेंक देना चाहती थी। यहाँ आकर भाषा बिना बिम्ब व प्रतीक के सीधी व सपाट होती है।'

यह गौरतलब है कि डा0 जगदीश गुप्त व डा0 विजयदेव नारायण साही के सम्पादन में 'नयी कविता' का छठाँ अंक 1966-67 में प्रकाशित हुआ और उसी समय 'अकविता'

का पहल संकलन भी आया। उसमें स्पष्ट संकेत है कि 'आज का कवि परम्परगत रूढ़ियों तथा संस्कारों से विक्षुब्ध है और उनका काव्यात्मक संवेदन भी उसी अनुपात में परम्परा से मुक्त है। परिवर्तित सौन्दर्यबोध के कारण आज का कवि पिछली परम्पराओं को नकार कर अपना सम्पूर्णतया पृथक मार्ग भी खोजने में रत है।'[19] इस तरह अकविता के माध्यम से एक अलग मंच बना जिसका काम परम्परा भंजन और पृथक मार्ग की खोज थी। परम्परा का विरोध वास्तव में देशी विदेशी प्रभावों का परिणाम ही था। इसको बताते डा0 ललित शुक्ल लिखते हैं कि 'देश में भ्रष्ट राजनीति के कारण युवा वर्ग में अनास्था, कुंठा, संत्रास आदि प्रवृत्तियों का बोलवाला था और पैसे से ऊबे विदेशी किशोर किशोरियाँ शांति की खोज में भारत आकर यहाँ के युवा वर्ग में चमत्कार का अगिया बैताल दिखाते थे[20]। इस तरह देश के राजनैतिक तंत्र भी संड़ाँध और विदेशी सम्पन्नता दोनों ने इस प्रवृत्ति को हवा दी। फिर क्या था, भूखी पीढ़ी, नाराज पीढ़ी, क्रुद्ध पीढ़ी, युयुत्स पीढ़ी आदि शब्द चल पड़े। इसी के साथ अगली कविता, सहज कविता, ताजी कविता, साठोत्तरी कविता, बीट कविता जैसे अनेक नाम भी चल पड़े। इसमें से 'अकविता' विशेष तौर पर राजनीति से असम्बद्ध थी क्योंकि वह इसके भ्रष्ट तंत्र को जान चुकी थी। इस भ्रष्ट तंत्र का हवाला देते डा0 ललित शुक्ल लिखते हैं कि 'चीन का आक्रमण, पाकिस्तन का आक्रमण, जवाहरलाल नेहरू व शास्त्रीजी की मृत्यु ने देश को प्रभावित तो किया था, किन्तु राजनीति के क्षेत्र में किसी व्यापक परिवर्तन के लिए कोई स्थान न था। आर्थिक विषमता की व्याप्ति से मध्यम वर्ग ही नहीं, निम्न वर्ग भी पिस रहा था। राजनीति में परिवर्तन लाने की आशा धूमिल इसलिए थी, क्योंकि कांग्रेस का भ्रष्ट तंत्र चतुर्दिक फैला हुआ था। कोई विरोधी पार्टी इतनी सक्रिय न थी कि कांग्रेस से टक्कर ले सके। कांग्रेस के साथ पूँजीपति, राजे महाराजे, साहूकार, दलाल, सूदखोर, तस्कर, गुंडे, बदमाश सभी थे। जनता पर काबू पाने के लिए उनके पास न तो पैसे की कमी थी न ही साधन की। कम्युनिस्ट पार्टी

ने बंगाल व केरल में जनवादी दृष्टिकोण को जमीन देने का जो प्रयास किया, वह कांग्रेस द्वारा भ्रष्ट राजनीति के दाँव-पेंच को हथियार बनाकर खत्म कर दिया गया।[21] तब जाहिर बात है कि ऐसे भ्रष्ट तंत्र के प्रति विद्रोह होना ही था और दूसरी ओर बाह्य प्रभाव ने अनुकूल हवा दी, जिससे अकविता ने सामाजिक रूढ़ियों को उखाड़कर फेंक देना चाहा। अकविता युवा पीढ़ी के इसी परिवेश की उपज है।

स्वयं 'अकविता' नाम संकलन से भी इसका पता चलता है। यह 1965 के आसपास छपा है, क्योंकि इसमें सन का ठीक नाम नहीं है। इसमें जगदीश चतुर्वेदी, मुद्राराक्षस-रवीन्द्रनाथ त्यागी व श्याम परमार के नाम है। यह 'विघटन' शीर्षक के साथ छपा है। 'अकविता-दो' में 'शरीर' (पैशन) शीर्षक से कविताएँ छपी हैं। 'अकविता-तीन' में 'मृत्यु' शीर्षक से कविताएँ छपी हैं। इसके 'संकेत' में लिखा गया है- 'हमने वही काव्य मन: स्थितियाँ अपने विभिन्न अंकों के लिए चुनी हैं, जो आज के काव्य सृजन के लिए मूल आधार रही हैं और जिनकी अनिवार्यता रचनाओं के प्ररिप्रेक्ष्य में सिद्ध हो चुकी है।[22] अंक-4 की रचनाओं का संकलन 'नगर' शीर्षक से किया गया है और अंक 5 का 'व्यक्ति' के नाम से। विघटन, शरीर, मृत्यु, नगर व व्यक्ति जैसे शीर्षकों को यदि हम प्रतीक मान लें, तब हम अकविता को आसानी से समझ सकते हैं। यूँ 1973 में 'निषेध' पत्रिका के प्रकाशन के साथ मेला उठ गया।

यदि हम स्वयं अकवितावादियों के वक्तव्यों पर ध्यान दें जो इसकी प्रवृत्ति का पता चल जाता है। जगदीश चतुर्वेदी[23] के लिए 'पिछले खेमे का सारा काव्य' उगला हुआ है। वह संदेहास्पद व निरर्थक है। सामाजिक संस्कारों में घिनौनापन है। प्रेमिकाओं की घनिष्ठता में जीना इनके लिए संभव नहीं है। प्रतिबद्धता के लिए इनके यहाँ कोई जगह नहीं है। इनके लिए रोटी, हड़ताल और राजनीति मोटे विषय हैं। इनके जीवन व काव्य की रचना के मूल में 'विसंगति' है। सौमित्र मोहन कहते हैं कि 'वे प्रत्येक

चीज व सम्वन्ध को झटके के साथ छोड़ सकने हैं।' श्याम परमार व गंगा प्रसाद विमल ने भी कुछ ऐसा ही कहा है, हालाँकि ये सुलझे हैं और 'छापामार' जैसी दृष्टि नहीं रखते। इसमें मणिका मोहिनी व मोना गुलाटी जैसी कवियित्रयाँ भी हैं। इन सभी कवियों के केन्द्र में वस्तुत: नारी का विकृत रूप ही है, जो 'सेक्स सम्बन्धी हारर का चित्र उपस्थित करता है'[24]। कुछ चित्र द्रष्टव्य हैं-

1. रात का उजड़ा हुआ निश्वास/ सो गया है/ मैथुनों में रत/ भग्न आँखों में उलूकों के/ (जगदीश चतुर्वेदी)

2. स्त्री कभी नग्न नहीं होती/ अपनी त्वचा में ढकी/ उजाले में सोती है/ (राजकमल चौधरी)

3. औरत के पेट की सीवन उधेड़कर उसने गर्भजल से अपना शिश्न धोया/ और बंद कमरे में घुटती साँस से कुछ मंत्र पढ़ने लगा/ या कोई वसीयत किसी की संतुष्टि के लिए।

4. सुबह होने से लेकर दिन डूबने तक/ मैं इंतजार करती हूँ रात का/ जब हम दोनों एक ही कोने में सिमटकर/ एक दूसरे को/ कुत्तों की तरह चाटेंगे/ विवाह के बाद जिंदा रहने के लिए/ जानवर बनना बहुत जरूरी है। (मणिका मोहिनी)

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'अकविता' में नारी खिलौना बन गयी। *यह एक प्रकार का नारी का रीतिकालीन विस्फोट था।*

अब जहाँ तक अकविता के अर्थ की बात है तो इसका अर्थ कविता हीनता से न होकर 'नयी कविता' के उस स्वरूप को खारिज करने से था, जो विखण्डित मूल्य दृष्टि, निराशा, असंतोष और अव्यवस्था को बदले हुए सामाजिक संदर्भों में पकड़ पाने में असमर्थ थी। यह उन कवियों द्वारा रचित हुई, जो स्वतंत्रता के बाद पैदा हुए थे जिसमें अनुभव की प्रामाणिकता की चिंता न होकर उन प्रामाणिक अनुभवों की तीव्रतम

अभिव्यक्ति दिखलाई पड़नी है। यह एक प्रकार से जड़ीभूत सौन्दर्य का विखण्डन था, जिसमें बहुत सारे सत्यों को उजागर करने का एक दम्भ भरा विश्वास था। ये बहुत ढकी चीजों को उधारकर रखना चाहते थे। इनकी प्रारंभिक प्रतिक्रिया सामाजिक व्यवस्था को उधारने से होती है, जिसकी परिणति, शारीरिक व्यवस्था को उघारने में होती है। यूँ नग्नता एक प्रकार मनोवृत्ति बन जाती है। ये हर वस्तु की जड़ों में जाने की कोशिश करते हैं, लेकिन इसके लिए 'जड़बुद्धि' का ही इस्तेमाल भी करते हैं जिससे 'नारी' को उघाड़ने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। इनका प्रत्यक्ष (लोक) जगत नारी के चमड़े के इर्द गिर्द घूमता रहता था। इस प्रकार यह विखण्डन एक प्रकार से अराजकतावाद की हद तक जाता है। लक्ष्मीकांत वर्मा ने लिखा है- 'यह पूरा साहित्य उस पीढ़ी का है जो एक अपराजेय विवशता में जन्मी है और उसी विवशता को भोग रही है। उसके लिए विवशता, विसंगति, विघटन या आतंक अनुभव नहीं, जीवित संस्कार है। वे इतिहास के किसी खण्ड से विद्रोह करने के बजाय, पूरे इतिहास से ही विरोध करते हैं।[25]

इस तरह अकविता का विरोध एक प्रकार से समग्रता का विरोध था। उनका यह भाव बाहरी प्रभाव से पुष्ट हुआ और इन रचनाकारों ने उन सभी कला आंदोलनों को मुक्त रूप से ग्रहण किया जो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यूरोप व अमेरिका के घोर निराशावादी परिवेश में उपजे थे। इसे ही फ्रांस में युद्ध के बाद समकालीन पीढ़ी माना गया था जिसने तथाकथित पाप व अनैतिक अनाचार को साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की। दरअसल पश्चिम में जिन लेखकों का जीवन द्वितीय युद्ध की विभीषिका में बीता उन्होंने युद्ध के बाद जमकर आक्रोश व्यक्त किया। वे सारे मूल्यों को छिन्न-भिन्न करना चाहते थे और अकविता के लोगों को यह स्थायी निधि के रूप में मिला। फ्रांस में जिसे 'आउट साइडर' कहा गय, अमेरिका में यही पीढ़ी

बीट जनरेशन के नाम से जानी गयी क्योंकि इसमें भी प्रचलित के विरुद्ध तीव्र असन्तोष था। इनके समानानंतर इंग्लैण्ड में Angry young man की पीढ़ी आई। इन सभी में व्यवस्था के प्रति इतना तीव्र असंतोष है कि वे स्वयं को किसी भी नैतिक उत्तरदायित्व से च्युत मानकर घुमक्कड़ और आवारा हो गये। ये समाज की स्थापित व्यवस्था से बुरी तरह ऊवे हुए थे, जिसे उखाड़ फेंकना चाहते थे। इन सभी ने 'अकविता' को प्रभावित किया। सन् 1963 में जगदीश चतुर्वेदी ने 'प्रारंभ' नाम से एक काव्य संकलन प्रकाशित किया, जिसमें नयी कविता से अलग्योझे की भूमिका बनी थी। यह पुस्तक चार भागों में विभक्त थी- नस्लहीन नगर और अंधे लोग, कमजोर आवाजों और छटपटाते हाथ, आकाश के बाजुओं में, सिलहुटी रूपाभास और अनजान रागनियाँ। यहाँ कवियों में राजकमल चौधरी, जगदीश चतुर्वेदी, कैलाश बाजपेयी, नरेन्द्र धीर, केशु ममता अग्रवाल, श्याम परमार, विष्णुचन्द्र शर्मा, श्याम मोहन, मनमोहिनी, रमेश गौड़, राजीव सक्सेना, स्नेहमयी चौधरी व नर्मदा प्रसाद त्रिपाठी हैं। इसकी अनेक कविताएँ प्रयोग की दृष्टि से ताजा हैं। उनका कंटेन्ट आत्मोन्मुख यौन भावना से अधिक सम्बन्धित है।

दरअसल, सच बात तो यह है कि जो आदमी बहुत बोलता है, उसकी जड़े गहरी नहीं होती और वह कहीं से अपने आप को छिपा भी रहा होता है। 'अकविता' का पूरा ढाँचा ही अपने आप को छिपाने से लेकर जुड़ा हुआ है। 60 के दशक तक जो पीढ़ी जवान हुई, उसने एक ओर नगर के वैभव से चकाचौंध महसूस किया तो दूसरी ओर अपनी घुटन को भी समझा। उन्हें वास्तव में उनकी महत्वाकांक्षा और यथास्थिति में एक गहरी फाँक महसूस हुई जिसे वे पूरा करने की स्थिति में न थे जिससे इस भावना को छिपाने के लिए उनके मन में एक गहरी प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। उन्होंने अपनी स्थिति का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन न करके आत्मनिष्ठ मूल्यांकन ही किया और

जैसा कि होता है, उनके मन के भीतर जिननी भी विकृतियाँ पैदा हो सकती थीं, हुईं, जिसने कविता के ढाँचे को ही तोड़ दिया। नयी कविता में भी रचनाकारों का अपना अनुभव ही व्यक्त हुआ और अकविता में भी। फर्क यह रहा कि नयी कविता तक काव्य के बारे में एक गहरी रुचि थी जिसे कवि लोग वस्तु तत्व के तनाव को भाषा के माध्यम से छिपाना चाहते थे, किन्तु अकविता में 'वस्तु' इतनी नग्न हो गई कि इसे छिपाना संभव न था। अकविता ने छिपाया भी नहीं किन्तु वस्तु का यह तनाव वास्तव में रचनाकारों का अपना तनाव ही था। यह वह तनाव था जो वाह्य वास्तविकता और भीतरी यथार्थ के बीच के सम्वन्ध सूत्र के खो जाने के बाद पैदा होता है और इस स्थिति में यह नकारात्मक तेवर का शिकार होता है। केदारनाथ सिंह लिखते हैं 'सच्चाई हमेशा विधेयात्मक ढंग से ही व्यक्त नहीं होती। प्रतिक्रियात्मक आवेग के कारण वह एक नकारात्मक तेवर की भंगिमा धारण कर लेती है।[26] और यह नकारात्मक तेवर ही इन कवियों की सबसे बड़ी कमजोरी बन जाती है, क्योंकि यह इन्हें जीवन में तनाव की रचनात्मकता को सही ढंग से देखने नहीं देता। इसके वृहत्तर सामाजिक संदर्भ नहीं उभर पाते और यह एक प्रकार के मैनरिज्म का शिकार हो जाती है। इन कवियों के पढ़ने से ऐसा लगता है कि जीवन ठहर सा गया है, अब उसमें कोई संभावना नहीं है, जबकि जीवन तो सम्भावनाओं से युक्त है। यह अनुभव, वस्तुत: उनका अपना भावबोध है लेकिन वह इतना मजबूत है कि वे दूसरे के भावबोध को अपने से अलग मानते ही नहीं। इस कारण से जहाँ इन कविताओं में अपनी स्थिति का तीव्र अहसास है, वहाँ इस अहसास का अहसास नहीं है कि यह सिर्फ उनका ही हो सकता है। इस प्रकार से वे अपने भावों को अंतिम मानकर चलते हैं-

याद करता हूँ बचपन तो एक बूढ़े गीध का चेहरा याद आता है

भूल गया हूँ शिवपुरी के खण्डहर, मालवे के मैदान

उज्जैन के कापालिक और नागपुर के संतरों के बाग

मैं सब कुछ भूल गया हूँ

मेरे चेहरे पर रह गयी है धूल और तपिश

और झाइयाँ और नीले आसमान..... (जगदीश चतुर्वेदी)

जाहिर बात है ये कवि इस भूलने में परिस्थिति को ही जिम्मेदार मानते हैं। वे अतीत की रक्षा नहीं कर पाने से बेहद क्षुब्ध हैं। इसके लिए अब उन्हें कोई उपमान नहीं सूझता और वे सारी नैतिकता को ही त्याग देते हैं। उनका पूरा जीवन भोग, मदिरा, आहार, मैथुन में सिमटकर रह जाता है। इस स्थिति में वे उस आदमी की तरह है जो परिस्थिति से ऊबकर अपने कमरे में कैद हो गया और समझ बैठा कि बाहर कुछ भी नहीं है। वह न तो बार निकलकर परिस्थितियों से मुठभेड़ करने की स्थिति में है और न ही भीतर रहकर सभी कुछ को स्वीकार कर ले। यही आत्महीनता की स्थिति में धकेलता है-

मेरे शरीर का कोई अंश निरंतर सुनता रहता है

यह भी होता है कि हाथों की अनाम उँगलियाँ

जाने कहाँ से निकलकर काली सुर्खियों में घुस जाती हैं

और अर्थ की अँतड़ियों में जमे हुए जहर को

उनके पोर कुरेद कर ऊपर ले आते हैं

मस्तिष्क की दबी हुई गठानों पर तब

आग के शोले टकराते हैं

जिनकी आँच में तुम्हारी ओढ़ी हुई चाल को

बहुत आसानी से पहचान लेता हूँ।

सौमित्र मोहन की 'गर्भपुरा कथा' का प्रारंभ इस प्रकार है-

औरत के पेट की सीवन उधेड़कर/ उसने गर्भजल से अपना शिश्न धोया/ और बंद कमरे में घुटती साँस से कुछ मंत्र पढ़ने लगा/ या कोई वसीयत किसी की संतुष्टि के लिए।

तब यह अकारण नहीं है कि राजकमल चौधरी की मृत्यु पर (1966) शोक गीत लिखने वाले नागार्जुन व धूमिल भी रहे हैं। नागार्जुन ने तो लिखा है 'अच्छा किया उठ गये हो दुष्ट'। धूमिल ने लिखा-

'छत्तीस सालों तक गुप्त रोगों के इलाज की जड़ी ढूँढता रहा

वेश्याओं व गँजेड़ियों के नींद भरे जंगल में

वह खोया हुआ देश था।

इस प्रकार की आत्महीनता की एक प्रमुख विशेषता यह होती है कि उसका रंग इतना प्रभावी हो जाता है कि दूसरे उसे निरर्थक लगने लगते हैं और दूसरों की निरर्थकता में अपनी सार्थकता को तलाशता हुआ वह और भी निरर्थक होता जाता है, क्योंकि उसका सम्बन्ध अपने परिवेश से नहीं रहता। ऐसी प्रवृत्ति मनुष्य के लिए भयकारी होती है कि एक पत्ता खड़का नहीं कि वे चौंक जाते हैं, जैसे कि वे किसी अवैध प्रेम में लिप्त हों और भागने की जल्दी हो। **अकविता का पूरा साहित्य इसी अवैध प्रेम की जल्दबाजी में लिखा गया साहित्य लगता है।** इनके लिए-

पूरी की पूरी सृष्टि

बीमार योनि की तरह है

जिस पर पेड़ पौधे और हम सब

फुंसियों की तरह उग आये हैं। (श्रीरामशुक्ल)

बावजूद इसके अकविता के साहित्यिक महत्व को नकारा नहीं जा सकता क्योंकि ये वही कविताएँ हैं जिन्होंने रूढ़ होनी नयी कविता के भीतर विक्षोभ पैदा किया। इन कवियों ने समय के दवाव को गहरे महसूस किया और वस्तु के प्रत्यक्ष को सामने लाने की कोशिश की (हालाँकि अतिवादी हो गये)। यही प्रत्यक्ष जव व्यापक लोक संदर्भों से जुड़ा, तो साठोत्तरी कविता में लोक सौन्दर्य की उपस्थिति का कारण बना। अकविता बहुत दिनों तक नहीं टिक सकी और इसे टिकना भी नहीं था। इसको प्रतिद्वन्दिता मिली लोक धर्मी कविता से जो जीवन की समग्रता को लेकर बढ़ी थी। इस कारण अकविता जितनी जल्दी आई उतनी जल्दी चली भी गई। यह ध्यान देने की बात है कि साठोत्तरी हिन्दी कविता में अकविता बहुत जल्दी आई और उतनी ही तेजी से गई, जबकि प्रतिबद्ध कविता का विकास धीरे धीरे होता है और देर तक चलता है।

4- प्रतिबद्धता बनाम सम्बद्धता : लोक तत्वों का रचनात्मक उपयोग

हमारे लिए यह महत्वपूर्ण है कि स्वाधीनता के बाद साठोत्तरी अराजकतावाद तक के इस काल में प्रगतिविरोधी चेतना की अवस्थिति के बावजूद लोक चेतना की अंत: सलिला लगातार प्रवाहित होती रही है। नागार्जुन, त्रिलोचन, केदार नाथ अग्रवाल, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, केदारनाथ सिंह और स्वयं मुक्तिबोध इस दौर में कविताएँ लिख रहे थे और प्रयोगवाद तथा नयी कविता तक जो कविता जीवन के संकीर्ण घेरे में सिमटकर रह गयी थी, वह 1965 से विशाल ग्रामीण जीवन की ओर मुड़ी। यूँ नयी कविता के दौर में भी लोक चेतना प्रसूत कविताएँ लिखी जाती रही थीं और 'अज्ञेय' की कुछ कविताओं में इसके लक्षण भी मिलते हैं, किन्तु यह लोक, बाहर से देखा गया भी था। उसके मर्म तक पहुँचने की बेचैनी और इच्छा अभी उदय नहीं हुई थी, जबकि इसी के समानांतर कुछ खास कवि निश्चय ही उसकी

मशाल जगाये हुए थे, जैसा कि हमने ऊपर कहा है। यह बात और है कि इनके ओर ध्यान ही 1964 के बाद गया। फिर क्या था, गाँव की कटु सच्चाइयों के आलोक में एक एक कर आजादी, संविधान, संसद, चुनाव, लोकतंत्र, समाजवाद, अहिंसा आदि तमाम प्रतीकों व आदर्शों पर सवाल उठने लगे। ये कविताएँ जहाँ एक ओर सवाल उठाती है, वहीं दूसरी ओर सवालों का समाधान भी प्रस्तुत करती है। यह लोक रचनात्मक व रक्षात्मक दोनों हैं और यही कविताएँ ठीक ठीक साठोत्तरी के लोक सौन्दर्य की पृष्ठभूमि भी तैयार करती है। यह प्रगतिवादी प्रतिबद्धता नहीं है, जो बाह्य संचालित है, बल्कि साठोत्तरी सम्बन्धता है जो स्वत: स्फूर्त है और यह 1965 के एक दशक पहले से होता आया था। ये कविताएँ लोक तत्वों का रचनात्मक उपयोग करती हैं और मुक्तिबोध तथा रघुवीर सहाय इसमें प्रमुख हैं।

दरअसल इस समय की कविता को कुछ लोगों ने 'प्रतिबद्ध कविता' तो कुछ लोगों ने 'वाम कविता' कहा है। कहीं पर इसे 'चौथे दशक' की कविता से जोड़कर 'नव प्रगतिवाद' भी कहा गया। इस समय में 'वाम' और 'ओर' जैसी पत्रिकायें निकलीं, जिनमें 'युवा लेखन में वाम' तथा 'समकालीन वाम लेखन' जैसे लेख भी प्रकाशित हुए। कुछ लोगों ने इसे जनवादी काव्य धारा भी कहा। लेकिन यह बात गौरतलब है कि इस समय की कविता केवल व्यवस्था विरोध की ही कविता नहीं है। उनमें व्यवस्था के परिवर्तन की समझ भी मिलती है और इसी कारण इन्हें हम पारम्परिक अर्थ में वाम कविता या प्रतिबद्ध कविता नहीं कह सकते, क्योंकि जैसा डा0 मैनेजर पाण्डे लिखते हैं कि 'शासक व्यवस्था को आधार मानकर धारणा बनाने का एक परिणाम तो यह हुआ कि अधिकांश रचनायें केवल व्यवस्था विरोध तक ही सीमित हैं। उनमें नकारात्मक प्रवृत्ति की प्रधानता ही दिखायी देती है।" जबकि सच तो यह है कि व्यवस्था के गतिशील तत्वों की गहरी समझ भी इन कविताओं की विशेषता रही है। इनमें

गहरी लोकोन्मुखता के दर्शन होते है और लोक का संघर्षधर्मी स्वरूप भी दिखायी देता है। इस कारण से ये कवितायें 'लोकोन्मुखी' कवितायें कही जानी चाहिए, क्योंकि इसमें लोक जीवन से एक प्रकार की गहरी सम्बद्धता भी है। इन कविताओं में लोक के संदर्भ में अपने समय को अभिव्यक्त करने की बेचैनी भी दिखायी देती है, जिस कारण से इनमें 'कथातत्व' का प्रचुर समावेश भी दिखलायी पड़ता है। यह ध्यान देने की बात है कि इसमें अधिकांश वे कवि हैं जो आते तो ग्रामीण जीवन से हैं, लेकिन शहरी जीवन से बखूबी परिचित हैं। यानी इनकी लोकोन्मुखता शहरी जीवन से होकर जाती हैं और ऐसी स्थिति में इनमें थोड़ी 'तटस्थता' भी दिखायी देती है। इनका **लोकोपयोग इसमें नहीं है कि ये लोक जीवन से जुड़े सभी मनुष्यों के समझ में आने वाली हैं, बल्कि उन तथ्यों को स्पष्ट करने में है जो लोक मानस के समझ से परे हैं। अर्थात् ग्रामीण जीवन में हो रहे जटिल बदलाव को पकड़ती हुई उसे अपने समय के सापेक्ष्य में देखती है।** इसी कारण इसमें लोक संदर्भ भी नये अर्थ लेकर आते हैं जिनसे कविता में लोक सौन्दर्य का संचार होता है।

दरअसल ये कवि लोक वस्तु का एक गहरा संस्कार लेकर आये थे। उनमें ग्रामीण जीवन की एक गहरी समझ थी लेकिन उनका लोक जगत केवल ग्रामीण परिवेश से बना था। शहर को देखने के पश्चात इनके इस लोक जगत में विस्तार होना है और 'लोक' थोड़ा बृहत्तर संदर्भ से जुड़ता शहर में रहने वाले marginalized लोगों से भी जुड़ता है। पहले जिस लोक यथार्थ को **उसके परिवेश से जाना समझा जाता था, यहाँ पर परिवेश को लोक यथार्थ से जानने समझने का कार्य आरम्भ हुआ और तब इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि लोक रूढ़ियों का क्षय हुआ और लोक मन व्यापक अर्थ ग्रहण करने में समर्थ हुआ।** परिणाम यह हुआ कि लोक का गतिशीलपक्ष कविता के केन्द्र में आ गया और ऐसे भी कवि इसमें शामिल हुए

जो न तो मार्क्सवादी थे और न ही किसी लेखक संघ से जुड़े थे। कमोवेश यह बदलाव 1967 के बाद से देखा जा सकता है जिसमें राजनीति की एक केन्द्रीयता वाली धारणा चरमरा गयी थी जब विपक्षी सरकारों का उदय हो चुका था। हालाँकि इसका उदय हम साहित्य में मुक्तिबोध की मृत्यु (1964) से ही मानते हैं, जहाँ से लोक जीवन की यथास्थितिवादी प्रवृत्ति से संघर्ष की चेतना जागृत होती है। शायद यही कारण है कि नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध अचानक प्रासंगिक हो उठते हैं।

इस समय के कवि का लक्ष्य सबसे पहले अपनी मध्यवर्गीय कमजोरियों से मुक्ति के प्रयास में दिखायी पड़ता है जो व्यापक लोक संदर्भों से जुड़ने के लिए जरूरी थी। ग्रामीण जीवन में फैले जब वह विशाल जन समुदाय की ओर दृष्टि डालता है और शहरीकरण के दबाव में जनता को कुचक्र में फँसते देखता है तब उसे इस बात का स्वाभाविक अहसास होता है, कि ग्रामीण यथार्थ वह नहीं जिसे उसने समझा है। उसमें तो सत्ताधारी वर्ग की गहरी पैठ है जिसके कारण उन्हें अभाव, निर्धनता, महामारी आदि का शिकार होना पड़ता है। ऐसी स्थिति में लोक धर्मा कवि को महसूस होता है कि समय आ गया है जब यह कार्य दो स्तरों पर दिया जाना चाहिए- एक तो उस शोषक वर्ग की अमानवीयता का पर्दाफाश करने में जो ग्रामीण जीवन में अपनी घुसपैठ बनाकर जनता को बेवकूफ बना रहा है और दूसरी ओर ग्रामीण जगत के लोगों को संगठित करने में, जिस कारण से शोषण से मुक्ति मिल सके। एक कवि कहता है-

"मगर वे हैं कि असलियत नहीं समझते

अनाज में छिपे उस आदमी की नीयत

नहीं समझते

जो पूरे समुदाय से

अपनी गिजा वसूल करता है

कभी गाय से

और कभी हाय से।"

इस प्रकार ग्रामीण जीवन के यथार्थ में विचौलिया वर्ग कैसे घुसता है और कैसे उनका नेता होने का दम्भ भरता है, यह इस समय की कविता का विषय है। गरीबी क्या चीज है, वह कितनी अकरुण है, कि उससे बच्चे तक मुक्त नहीं हैं- यह 'ऋतुराज' की "कोयला बीनने वाली लड़की की प्रेम कविता" में देखा जा सकता है।

जड़ के अपने इतिहास में

अँधेरे को लपेटने की कोशिश हैं

एक नन्हीं बच्ची

जो पटरी पर नजर गड़ाये चली जाती है

इन बच्चों की जड़ें जले हुए कोयलों में हैं

बिखरी गिट्टियों में

और लोहे के पत्तरों में'

इस या इस तरह की कविताओं में कवि अपने आत्मपरक सौन्दर्यबोध से मुक्त होकर अपने लोकोन्मुखी सौन्दर्य मूल्यों को नयी परिस्थितियों में नये पात्रों के सहारे पहचानता है और इस पहचानने के क्रम में वह वर्तमान व्यवस्था की विषम परिस्थितियों को अपने पात्रों के माध्यम से व्यक्त भी करता चलता है। यही सौन्दर्य बोध, दरअसल, लोक के बदले सौन्दर्य को उसके वृहत्तर संदर्भ में देखता है। इस आशय की कुछ कविताएँ 'लोकवार्ता' (श्रीराम तिवारी), 'जनशक्ति' (विजेन्द्र), रोटी (कुमारेन्द्र पारस नाथ सिंह), वंशज (ज्ञानेन्द्रपति) आदि प्रमुख हैं। इसी पहचानने के बाद कवियों ने व्यवस्था

से संघर्ष करने का आह्वान किया है जिसमें 'धूमिल' प्रमुख हैं। उनमें अद्भुत आह्वान परकता है-

'यह दीवार अब तुम्हारी आदत का हिस्सा बन गयी है
इसे झटक कर अलग कर दो
अपनी आदतों में पुलों की जगह पत्थर भर दो
मासूमियत के हर तकाजे को ठोकर मार दो
अब वक्त आ गया है कि तुम उठो
और अपनी ऊब को आकार कर दो।'

ऐसी कविताओं में संघर्ष के नारों से मुक्ति का प्रयास है। इसमें संघर्ष नारों को लेकर नहीं आया है, बल्कि नारों को छोड़कर आया है। ऐसे ही समय में 'आलोकधन्वा' लिखते हैं-

'यह कविता नहीं
यह गोली दागने की समझ है
जो तमाम कलम चलाने वालों को
तमाम हल चलाने वालों से मिल रही हैं'-गोली दागो पोस्टर

यह ही इस समय का सौन्दर्यबोध है जिसमें हल चलाने वाले अब कलम चलाने वालों के निकट आ रहे हैं। इस पर नक्सलबाड़ी आन्दोलन का प्रभाव तो अवश्य है, किन्तु यह कविता प्रचलित अर्थो में राजनैतिक नहीं है बल्कि राजनैतिक मुहावरों का प्रयोग करती बदली मानसिकता को व्यक्त करती है। दरअसल यहाँ का कवि कविता में वक्तव्य देता है, तो इसका कारण सिर्फ इतना ही है कि वह 'वक्त' के लिए ऐसा जरूरी समझता है क्योंकि घुमा फिराकर बात करना उसे बुद्धिजीवियों का छद्म

आभिजात्य ही लगता है जो जनता को बेवकूफ बनाने का कार्य करते हैं।

लेकिन असल में बात इतनी ही नहीं है कि बहुत बोलकर इन कवियों ने समाज को बहुत दिया। निश्चय ही बहुत बोलने का परिणाम यह हुआ कि ये कवि अकवियों की तरह ही 'वस्तु' के बाहरी स्वरूप तक सीमित रह गये। उसके भीतरी मर्म को समझने के लिए जिस धैर्य की जरूरत थी, वह इनमें न थी। इसी कारण प्रवृत्ति बहुत जोर न पकड़ सकी। उसी समय में और इन्हीं कवियों में स्वयं, ऐसे पर्याप्त संकेत मौजूद है, जो चीजों के भीतर रहते हुए, उसके समस्त तनावों और अनगढ़ता को पहचानते हुए पूरे धैर्य से काम करते हैं और लोक मन में आ रहे परिवर्तनों को लक्षित करते हैं। इनमें समय की जटिलता में जाने की सामर्थ्य है जिसके लक्षण केदारनाथ सिंह, विजेन्द्र-धूमिल, की कुछ कविताएँ, ऋतुराज, जगूड़ी, ज्ञानेन्द्रपति, श्रीराम तिवारी आदि की कविताओं में मिल जाते हैं। इन कवियों में लोक चरित्र जमकर आते हैं जैसे ज्ञानेन्द्र पति की अपना बुधवा, श्रीराम तिवारी की 'लोक वार्त्ता', जगूड़ी की बलदेव खटिक, धूमिल की 'मोचीराम' आदि जिनकेमाध्यम से समय को समझने की गहरी ललक है और इसी कारण इनकी कविताओं में लोक सौन्दर्य है।

इस लोक सौन्दर्य की भी अपनी खास वजह है। असल में साठोत्तरी कवि और प्रगतिशील कवि की लोकधर्मिता का फर्क बेहद महत्वपूर्ण है। जहाँ पर प्रगतिशील कवि उत्तेजित होकर विचार (अनुभव) को तुरंत ही क्रियात्मकता में बदल देते हैं (जो मार्क्सवाद के सीधे दर्शन पर आधारित होता है) वहीं पर साठोत्तरी के लोकोन्मुखी कवि विचारों (अनुभवों)) को पहले संवेदनाओं में और संवेदनाओं को क्रियात्मक आकृतियों में बदलने की कोशिश करते हैं जिससे उनके भीतर का वस्तु जगत व तात्कालिक वस्तु जगत दोनों एक साथ स्पंदित होते हैं।

साठोत्तरी हिन्दी कविता की इन विशेषताओं को समेटते और इसके मुहाने पर

स्थित कुछ कवि बेहद महत्वपूर्ण हैं जिनमें 'मुक्तिवोध' व 'रघुवीर सहाय' जैसे कवियों को लिया जा सकता है। इसमें मुक्तिबोध तो साठोत्तरी हिन्दी कविता के प्रेरणास्त्रोत ही हैं और 'रघुवीर सहाय, हालाँकि बाद तक लिखते रहे, लेकिन अपनी लोकतंत्रात्मक जनपक्षधरता के कारण बेहद महत्वपूर्ण हैं जिनमें लोक के आधुनिक स्वरूप लोक तंत्र की आंतरिक विषंगतियों को वड़े ही तल्ख ढंग से उभारा गया है। इस कारण से इन कवियों का थोड़ा विस्तार में विश्लेषण भी अपेक्षित है।

मुक्तिबोध जो 1917 मे पैदा होते हैं और जिनकी मृत्यु 1964 में होती है, रचनावली के प्रकाशन के पूर्व अपने दो संकलनों 'भूरी भूरी खाक धूल' और 'चांद का मुँह टेढ़ा है' से हिन्दी कविता में जाने पहचाने जाते हैं। इन सबमें उनकी 'अँधेरे में' कविता श्रेष्ठ मानी जाती है और जिसके पढ़ने के बाद मुक्तिबोध की कविता के अंतिम काल (1956-1964) की कविताओं को पढ़ने की जरूरत नहीं रह जाती। ऐसा शायद इसलिए कि इस दौर में लिखी बहुतेरी लम्बी कविताओं की परिणति ही "अँधेरे में' कविता है जिसका स्वर अचानक नहीं आया है जब मुक्तिबोध लिखते हैं- 'वह रहस्यमय अभिव्यक्ति अब तक न पाई गई अभिव्यक्ति है।'

इनकी कविता का मूलाधार ही 'अँधेरे में' कविता की इन पंक्तियों में मिलता है- 'लोक हित पिता को कर दिया वंचित....'। यह उन्हें भारतीय परम्परा की उस कविता से जोड़ता है, जो बाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, कबीर, सूर, तुलसी आदि की रही है। यही मुक्तिबोध का वास्तविक काव्यबोध है, जिसे वे बहुत बाद में पहचान पाये थे, जब वे 1956 के आसपास से लम्बी कविताएँ लिखने लगे थे। यूँ कविताएँ तो वे 1935 से ही लिख रहे थे लेकिन जैसा कि श्री नेमिचंद्र जैन ने लिखा है- '1935 से 1956 तक का काल कवि रूप में मुक्तिबोध की तैयारी का काल रहा है, जिसमें वे अपना निजी मुहाविरा खोज रहे थे, बना रहे थे और माँज रहे थे[27]। पूरी कविताओं

को पढ़ने के बाद पता भी चलता है कि जिस लोक चिंता को मुक्तिबोध तलाश रहे थे, उसकी वास्तविक दिशा का पता अंतिम दशक में ही चलता है।

इस प्रकार मुक्तिबोध का केन्द्र में आना ही वस्तुत: नयी कविता से मोहभंग बतलाता है या यह भी कह सकते हैं कि नयी कविता से मोहभंग के साथ ही लोगों का ध्यान मुक्तिबोध की ओर गया। इसमें भी उनकी लम्बी कविताओं की "कथात्मक स्पंदनात्मकता" ही महत्वपूर्ण रही। विजय कुमार ठीक लिखते हैं कि 'इन्होंने वर्ग विभक्त समाज में मध्यमवर्गीय बौद्धिक दोगलेपन और आत्ममुग्धता के खिलाफ जमकर सघर्ष किया। इनकी काव्य भाषा का खुरदुरापन भद्रलोक की नपी तुली और संयमित अभिव्यक्ति के खिलाफ जाता था।[28] इसी लेख में वे आगे लिखते हैं कि 'साठ के आसपास मुक्तिबोध की तनाव भरी कविता सुगढ़ता, संयम और परिष्कार के प्रचलित काव्य प्रतिमानों को धकियाते हुए केन्द्र में आयी थी। इसमें भीनी भीनी व्यथा में सिक्त नीम उजास नहीं, सिर चकरा देने वाला घना अँधेरा, बावड़ियों की गहराई और खण्डहरों की सुनसान भयावहता थी। अज्ञेय व उनके सेनापति भाषा में सचाई को ढूँढते थे, जबकि मुक्तिवोध भाषा के द्वारा सचाई को ढूँढते थे" (उप0)। तब आशय स्पष्ट है कि 'मुक्तिवोध' भाषा में रूढ़ियों को न तोड़कर भाषा के द्वारा रूढ़ियों को तोड़ रहे थे और यहीं लोक का रचनात्मक संदर्भ है क्योंकि लोक का बदला संदर्भ, उसका खुरदुरापन, उसकी अनगढ़ता बगैर मुक्तिबोध के संभव न थी। इस प्रकार मुक्तिबोध के द्वारा लोक जीवन भाषा के बाहर आया जिसकी शुरुवात निराला ने पहले ही कर दी थी। बीच के दो दशकों में लोक मन लगभग भाषा में कैद हो गया था जिसका परिणाम यह रहा कि अज्ञेय जैसे कवि भी इस आशय कि कविताएँ लिख रहे थे जिसका प्रमाण है- 'हरी घास पर क्षण भर'। मुक्तिबोध 55 के आसपास जो कविताएँ लिख रहे थे, उससे यह सिलसिला टूटा और 64 तक आते आते साठोत्तरी हिन्दी कविता के केन्द्र में आ

गये।

केवल इस प्रसंग को यदि उठाया जाय, तब पता चल जाता है कि क्यों मुक्तिबोध की कविताएँ एक झटके से आरम्भ होती है, झटके देती आगे बढ़ती है और झटके के साथ समाप्त होती हैं। वास्तव में मुक्तिबोध, उस जीवन को व्यक्त करने के लिए व्यग्र थे, जो छूट रहा था और कोशिश करते रहे कि पूरा कह सकें, लेकिन हमेशा ही उन्हें अपनी अपर्याप्तता का बोध रहा। कभी कभी यह बोध खीझ के रूप में भी दिखायी देता है और आह्वान के रूप में भी। यहाँ पर उनकी यह कविता दृष्टव्य है-

'मेरे साथ

खंडहर में दबी हुई अन्य धुकधुकियों

सोच तो

कि स्पंद अब..।

पीड़ा भरा उत्तरदायित्व भार हो चला,

कोशिश करो,

कोशिश करो,

जीने की,

जमीन में गड़कर भी।'[29]

इस कविता में यह सम्बद्धता ही है, जिससे गुजरे हुए चेहरों की सार्थकता का पता चलता है और यह 'क्षय बोध' के रूप में उभरता है किन्तु इस वस्तुगत क्षयबोध में मुक्तिबोध को अपनी अभिव्यक्ति की अपर्याप्तता का भी बोध छिपा हुआ है जो दिखाता है कि वे हमेशा भाव को अभिव्यक्त कर भी असंतुष्ट ही रहे हैं। इस कारण

से बहुत कुछ को कहने के चक्कर में वे कविनाओं की एक बुनियादी कमजोरी में फँसते चले जाते हैं, जिससे बाद की प्राय: सभी लम्बी कविताएँ एक मार्ग से गुजरती प्रतीत होती है। यह दूसरी बात है कि वह मार्ग की भीषड़ और भयावह है। इस सीमा से वे स्वयं भी अवगत थे, जो कि उनके आलोचनात्मक लेखों से पता चलता है। वे लिखते हैं- 'लेखक को काव्य साधना में काव्याभास में- न केवल विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति का अभ्यास हो जाता है, बल्कि विशेष प्रकार की भाव संवेदनाओं का भी अभ्यास हो जाता है। क्रमश: दोनों तरह के अभ्यास-भाव संवेदनाओं की अभ्यासात्मकता और अभिव्यक्ति की अभ्यासात्मकता- ये दोनों ही मिलकर लेखक की जिस प्रकार क्षमता बन जाते हैं, उसी प्रकार वे कठोर सीमा भी बन जाते हैं।'[30] कहना न होगा कि यह बात वे दूसरों की रचनाओं के सन्दर्भ में उठाते हैं लेकिन इसका अहसास जैसा कि कभी कभी होता है, अपनी स्वयं की रचनाओं से ही हुआ होगा। मुक्तिबोध इससे परिचित थे, हालाँकि इसके विरुद्ध उन्होंने जमकर संघर्ष किया। यह संघर्ष जितना भाषा के भीतर है, उतना ही भाषा के बाहर भी है। यहीं बाद वाला संघर्ष कवियों द्वारा आत्म सात कर लोकबद्ध कवियों को संघर्षशील बनाता है। वास्तव में 1956 तक मुक्तिबोध 'वस्तु की पहचान और संकल्पों के कवि लगते हैं जिसमें साधन जुटाते एक आदमी की कोशिश का आभास होता है।' वे कहते हैं 'जड़ीभूत ढाँचों से जरूर लड़ेंगे हम/ चाहे प्रतिनिधि तुम/ चाहे प्रतिनिधि मैं/ वैचारिक डीजल के इंजनों को तोड़ेंगे/ उड़न्त घोड़ों से जरूर हम लड़ेंगे/ चाहे प्रतिनिधि तुम/ चाहे प्रतिनिधि मैं।'[31]

दूसरी कविता भी कुछ ऐसी ही है- 'यहाँ चरित्र विकास दृष्टि की संगति से है। असंग निज वेदना/ सृष्टि की संगति से है'[32]। यहाँ प्रकृति के भूरेपन को मानवीकृत व संघर्ष युक्त किया गया है। 'जिन्दगी का रास्ता' (1952) लम्बी कविता भी इन्हीं संकल्पों की कविता है जिसमें 'रामू' के माध्यम से 'संघर्ष' का ओजस्वी स्वर है।' बीसवीं

सदी के इस पचासवें चरण के प्रयास में/ दमन के घनघोर तुमुल अंधकार बीच/ गगन में उठते गरीबों के हाहाकार बीच/ रामू के सोये हृदय को/ किसी ने सत्य की शक्ति दी और 'हिम्मत की राह दी/ पूँजीवादी झूठ के विराट अत्याचार बीच'।" 'सूखे कठोर नंगे पहाड़' (1/247 : रचनाकाल 1949-52) लम्बी कविता भी इसी विलुप्त की पहचान कराती है जिसमें नई लोक शक्ति की बड़ी उर्वर कल्पना है- 'कर अपने प्राणों में अनुभव नव लोक शक्ति'। यहाँ भी 'भूरी भूरी खाक धूल' की तरह 'भूरा पदार्थ 'नव जाग्रत प्रतीक' के रूप में आता है। यह एक प्रकार का क्षयबोध है जो निराला से लेकर अरुण कमल (सुख) तक की कविता में मिलता है।

1956 के बाद की लिखी कविताओं में मुक्तिबोध इन संकल्पों को क्रियान्वित करने की चेष्टा करते हैं, जिसके लिए लम्बी कविताओं का शिल्प साधते हैं। लेकिन यहाँ भी कठिनाई में उलझ जाते हैं। ऐसा दर्शन व मिथक में फँसने के कारण होता है। ये दर्शन व मिथक समकालीन जीवन संदर्भों में हस्तक्षेप करते हैं, लेकिन वे समकालीन जीवन संदर्भों को इस तरह बुनते हैं कि अंदर ही अंदर घूमते रहते हैं। वस्तु के भीतर चलते ही जाते हैं। बाहर भी एक दुनिया है जो उनकी प्रतीक्षा कर रही है, यह वे भूल जाते हैं। दर्शन के इस प्रभाव व फैंटेसी की अपनी रचना के कारण उनका मुक्त होना संभव न हो सका। इस समय की कविताओं जैसे 'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन' (1959), 'अंत:करण का आयतन' (1959) 'एक टीले और डाकू की कहानी' (1960), 'अंधेरे में' (1964) आदि में इसे देखा जा सकता है। इन सारी कविताओं की यात्रा लोक मन की बीहड़ यात्रा है किन्तु दर्शनीकृत करने के कारण अंदाज लगभग सबका एक सा है। 'अंत:करण का आयतन' में 'सत् चित् वेदना' का फूल है, जो 'अंधेरे में' के 'सत् चित् वेदना' का मार्ग प्रशस्त करता है। इसमें लोक मन के प्रश्नों का जवाब देते देते मुक्तिबोध 'प्रश्न लोक' की भव्य इमारत

बना डालते हैं। 'एक टीले व डाकू की कहानी' (1960) तो जैसे 'अंधेरे में' के गुहान्धकार की यात्रा की कहानी है जिसमें कण कण है, 'चमक चमक उठते हैं' 'अंधेरा हैं', 'संवेदन इलेक्ट्रान', 'इतने में' जैसे शब्द हैं। 'अकस्मात' जैसे चौंकाने वाले शब्द भी हैं। चकमक की चिनगारी (1961) में 'ख्याली सीढ़ियाँ हैं, हालाँकि जन संग उष्मा के स्तर पर 'मानव पुण्य धारा है, जो कुछ और नहीं 'लोक धारा' ही है। यहाँ शर्त है ही कि तय करो/ किस ओर हो तुम/ अब सुनहले उर्ध्व आसन के/ निपीड़क पक्ष में/ अथवा कहीं उससे लुटी टूटी/ अँधेरी निम्न कक्षा में तुम्हारा मन/ इसकी निष्पत्ति होती है ब्रह्मराक्षस (1962) और अंधेरे में (1964) जैसी कविताओं में। 'ब्रह्म राक्षस' के साथ कवि होना चाहता है और 'अंधेरे में' का वह भी यही ब्रह्म राक्षस है जो कुछ और नहीं जीता जागता गरीब इंसान ही है। लेकिन संकट फिर वही है कि इसे पाने के लिए कवि उतरता गुहान्धकार में ही है जहाँ उतरते हुए उसे लगता है कि यह सपने में घटित हो रहा है। *यानी सपने में यथार्थ और यथार्थ में सपना।* बच रहती है समय में सपने की ध्वनियाँ, जिसे आगे के कवियों ने पकड़ा है। ये ध्वनियाँ ही कवि की सबसे बड़ी देन हैं और इसी मात्र से वे लोकबद्ध कवियों की कड़ी में महत्वपूर्ण हैं। **सपना, यानी आशा यानी उम्मीद का बने रहना लोक मन की सबसे बड़ी ताकत है और मुक्तिबोध का कवि यहाँ हमें आश्वस्त करता है-**

नहीं होती कहीं भी खतम कविता नहीं होती

कि वह आवेग त्वरित काल यात्री है।

व मैं उसका नहीं कर्ता

पिता धाता

कि वह कभी दुहिता नहीं होती

परम स्वाधीन है वह विश्व शास्त्री है।

गहन गम्भीर छाया आगमिष्यति की लिये

वह जन-चरित्री है।[33]

लोकमन की रचनात्मक अभिव्यक्ति से जुड़े दूसरे महत्वपूर्ण कवि **रघुवीर सहाय** (1929-1990) हैं, जिनमें 'लोक' का राजनैतिक पक्ष उभरता है। ये कविताएँ तो बाद तक लिखते रहे, किन्तु साठोत्तरी कविता की पृष्ठभूमि में ये महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इनमें सत्ता का प्रतिपक्ष उभरकर सामने आता है। इनके संकलन हैं- दूसरा सप्तक (1957), सीढ़ियों पर धूप में (1960), आत्महत्या के विरुद्ध (1967), हँसो हँसो जल्दी हँसो (1975), लोग भूल गये हैं (1982), कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ (1989), एक समय था (1990)। इनकी प्रारम्भिक रचनाओं में व्यवस्था की भीतरी विषंगतियों को उघारने की एक चेष्टा दिखलाई पड़ती है और लोकतंत्र के प्राय: हर रूप का वे मजाक उड़ाते हैं। सत्ता या राजनीति के प्रतिपक्ष में खड़े होकर व्यवस्थागत असंगति को पकड़ते हैं। एक तरह का रक्षात्मक भाव उनकी कविताओं में आद्योपांत मिलता है। चीजों को समझने की बेचैनी और छटपटाहट कवि को लोक रूढ़ियों की तोड़ने की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करती है, लेकिन यह प्रेरणा सामान्य मनुष्य का व्यवस्था के सापेक्ष (युक्त) ही मूल्यांकन करने को विवश करती है। *व्यवस्था से मुक्त सामान्य आदमी का रूप क्या होगा, यह रघुवीर सहाय नहीं समझ सके थे। ऐसा कविता को एक खबर की तरह इस्तेमाल करने के कारण ही हुआ।* 'वस्तु' की भीतरी व्यवस्था को को न पकड़कर 'व्यवस्था' में विद्यमान 'वस्तु' को उन्होंने पकड़ने की कोशिश की। मुक्तिबोध अवश्य 'वस्तु' के भीतर घुसते हैं और उसकी आंतरिक व्यवस्था को पकड़ने की कोशिश करते हैं लेकिन वे घुसते हुए घुसते चले जाते हैं और उसी के चक्कर लगाते रहते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि उन्हें बाहर भी आना है और जब कभी बाहर आते भी हैं, तो ऐसा दिखलाते हैं जैसे अभी तक वे स्वप्न में चल रहे थे अर्थात्

भीतरी विषंगति को बताने के लिए उन्हें स्वप्न या फैंटेसी का सहारा लेना पड़ता हैं। जाहिर बात है मुक्तिबोध 'वस्तु' की व्यवस्था के कवि हैं, तो रघुवीर सहाय 'व्यवस्था' की वस्तु के कवि हैं। *वस्तु की व्यवस्था और व्यवस्था की वस्तु की सांगोपांग मीनांसा अभी शेष थी जिसे बाद के कवियों ने किया है।* ऐसा लोक जीवन के मार्मिक प्रसंगों की उद्भावना के कारण हुआ है।

अब यदि *रघुवीर सहाय* की कविताओं के क्रमिक विकास को देखें, तो पता चलता है कि 'पहला पानी' (1948 दूसरा सप्तक में संकलित कविता) लोक सौन्दर्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, लेकिन बाद में यह क्रम छूट जाता है। इस कविता का मूल स्वर ही यही है-

फिर मिट्टी में जीवन की आशा जागी है
गलते हैं दकियानूसी मिट्टी के ढेले
पिछली फसलों की गिरी पड़ रही है मेड़ें
सारे अनबोये खेतों की उजली धरती
अब एक हुई, स्वीकार कर रही है जब तक
गुरु आज्ञा सा।
जितनी बूँदें
उतने जौ के दानो होंगे
इस आशा में चुपचाप गाँव यह भींग रहा है
खड़े-खड़े
चौपालों बँगलों में बैठे
जन देख रहे हैं जल का गिरना

चिड़िया चुनगुन से टुकुर-टुकुर'

यह कविता जन मानस के सामान्य क्रिया व्यापारों को बखूबी उकेरती है, लेकिन बाद में राजनीतिक व्यवस्था इन पर भारी पड़ने लगती है और कविता राजनीति के इर्द-गिर्द घूमने लगती है। शायद स्वतंत्र भारत में राजनीति के बढ़ते प्रभाव के कारण ही ऐसा हुआ हो। इसका उदाहरण 1950 में लिखी कविता 'इतने में किसी ने' देती है, जिसमें नवयुग की आजादी की अवस्थाओं पर खीझ भरा व्यंग्य किया गया है। इसमें तीव्र अस्वीकार है-

मेरी प्रतिभा का कहीं मान नहीं, छि: छि: यह

नवयुग आजादी का, नवयुग की आजादी!

इसमें सहाय जी ने 'पीढ़ियों के अंतराल' को पकड़ा है, जो मूलत: उपन्यासों का विषय होता है। कहाँ 16 सेर वाले दादी का दिन और कहाँ यह आजादी का नयापन! यह खीझ, व्यंग्य और समयान्तराल बाद ही बाद की कविता में प्रधान होता गया। मोह भंग की भावना ने शिकंजा कसा। इस प्रकार ये नयी कविता के दौर के महत्वपूर्ण कवि बने रहे, हालाँकि लोकतंत्र की गहरी समझ रखने के कारण लोकजीवन के अवसादों को पकड़ने की कोशिश हमेशा ही करते रहे। 'सीढ़ियों पर धूप में'' की अन्य कविताओं में 'पढ़िए गीता' 'हमने यह देखा', 'नारी', 'धूप' आदि कविताएँ महत्वपूर्ण हैं। अगले संकलन 'आत्महत्या के विरुद्ध' (1967) में भी यही विषंगति उभार पाती हैं जिसकी 'अधिनायक' कविता महत्वपूर्ण हैं जिसमें 'हरचना' के माध्यम से मनुष्य की निरीहता पर व्यंग्य किया गया है। इसमें 'लोक में राजनीति और लोक की राजनीति' को प्रश्न के माध्यम से उभारा गया है जिसमें सत्ता पक्ष की समूची मानसिकता का पता चलता है। यह भी संकेत किया गया है कि भूखा आदमी नारा नहीं चाहता। भोजन चाहता है। इस प्रसंग में वे ऐतिहासिक मान्यताओं को ही चुनौती देते हैं **'राष्ट्रगीत में भला**

कौन वह/ भारत-भाग्य-विधाता है/ फटा सुथन्ना पहने जिसका/ गुन हरचरना गाता है.../' यहाँ सब कुछ तद्भव में है जिसके माध्यम से तत्सम के स्वरूप को पहचाना गया है। इसी संदर्भ से वे 'आत्महत्या के विरुद्ध' कविता में लोक का रचनात्मक पक्ष उभारते हैं- 'कुछ होगा कुछ होगा अगर मैं बोलूँगा...'। 'हरचरना' की जगह 'रामलाल' आ जाता है। यह क्रम आगे बढ़ता है और 'हँसो हँसो जल्दी हँसो' (1975) में यह पहचान और भी तीव्र हो जाती है, जहाँ 'रामदास' आता है जिसकी 'हत्या' एक खबर बनती है। यहाँ भी बड़ी सधी भाषा में 'लोक की राजनीति' को पकड़ा गया है-

'चौड़ी सड़क गली पतली थी
दिन का समय घनी बदली थी
रामदास उस दिन उदास था
अंत समय आ गया पास था
उसे बता यह दिया गया था उसकी हत्या होगी'[34]

'लोग भूल गये हैं' (1982) में यह पहचान और व्यंग्य और भी तीव्र होता है जिसमें 'स्त्री' जीवन की विषंगतियों को महत्व दिया गया है (स्त्री, लोग भूल गये हैं आदि कविताएँ) यहाँ भी 'दयाशंकर' आता है जिसके माध्यम से गरीबी की सीमाओं का संकेत किया गया है। अपने अंतिम दो संकलनों 'कुछ पते कुछ चिट्ठियां' (1989), 'एक समय था' (1990), तक आते आते रघुवीर सहाय यह बतलाने की कोशिश में सफल होते हैं कि आज की राजनीति सच्चाई को कैसे देखती है। इस दृष्टि से 'ठंढ़ से मृत्यु' कविता बेहद महत्वपूर्ण हैं जो बहुत पहले 1972 में लिखी गयी है, किन्तु जो संकलन में 1990 में छपा है-

'फिर जाड़ा आया, फिर गर्मी आई

फिर आदमियों के पाले से लू से मरने की खबर आई

न जाड़ा ज्यादा था न लू ज्यादा

तब कैसे मरे आदमी

वे खड़े रहते हैं तब नहीं दीखते

मर जाते हैं तब लोग जाड़े और लू की मौते बतलाते हैं।[35]

तब सुरेश शर्मा ठीक लिखते हैं कि स्थूल घटनाओं के बीच अनुभव के नये रूप को उद्घाटित करने की यह चेष्टा है,[36] और ये अनुभव ही इनकी काव्य संवेदना है।

इस प्रकार हम देखते हैं रघुवीर सहाय में लोक व जनता का एकीकृत रूप मिलता है, क्योंकि उनकी दृष्टि 'व्यवस्था' से होती हुई व्यक्ति तक जाती है। राजनीति की छद्मता को जब जब पकड़ने की कोशिश की जायेगी, तब तब रघुवीर सहाय की कविता हमें याद आयेगी।

संदर्भ सूची

1. डा0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - साठोत्तर हिन्दी साहित्य का परिप्रेक्ष्य - पृ0 2।
2. भारत भूषण अग्रवाल - 'कवि की दृष्टि' - पृ0 122।
3. डा0 जगदीश गुप्त - नयी कविता : स्वरूप व समस्याएँ।
4. भारत भूषण अग्रवाल - मुक्तिबोध और उनकी कविता।
5. डा0 नामवर सिंह - 'कविता के नये प्रतिमान'।
6. डा0 परमानन्द श्रीवास्तव - 'नयी कविता का परिप्रेक्ष्य'
7. डा0 केदार नाथ सिंह - धर्मयुग 4 जुलाई 1969।
8. निर्मल वर्मा - भारतीय लेखक और शासन तंत्र - देवेन्द्र इस्सर द्वारा संपादित 'विद्रोह व साहित्य' में संकलित।
9. मुक्तिबोध रचनावली - 5/426, रथ के दो पहिये - 'साहित्य व राजनीति'
10. मुक्तिबोध रचनावली 5/298 - 'नयी कविता - एक दायित्व'
11. उप0।
12. उप0।
13. विजय कुमार -साठोत्तरी हिन्दी कविता - परिवर्तित दिशाएँ - पृ0 17 प्रकाशन संस्थान, दिल्ली।
14. मुक्तिबोध नये साहित्य सा सौन्दर्यशास्त्र।
15. मुक्तिबोध - रचनावली 5/164, 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र'।
16. मुक्तिबोध -रचनावली 5/309, छायावाद व नयी कविता - 2।
17. मुक्तिबोध - समीक्षा की समस्यायें - नयी कविता का आत्म संघर्ष।

18. विजय कुमार -साठोत्तरी हिन्दी कविता - परिवर्तिन दिशाएँ।

19. अकविता - 1।

20. डा0 ललित शुक्ल - नया काव्य, नये मूल्य - पृ0 247, मैकमिलन कम्पनी, नई दिल्ली 1975।

21. वही।

22. अकविता - 3, 'संकेत'।

23. अकवितांक - पृ0 11।

24. ललित शुक्ल, वही।

25. आलोचना - जन-मार्च 1968।

26. वही।

27. नेमिचंद जैन - रचनावली भाग - 1, भूमिका।

28. विजय कुमार कविता की संगत - पृ0 39।

29. मुक्तिबोध - एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्म कंथन - 1939।

30. मुक्तिबोध - समीक्षा की समस्यायें, नयी कविता का आत्म संघर्ष।

31. मुक्तिबोध - 'जड़ीभूत ढाँचों से लड़ेंगे' - रचनावली 1/393 - नागपुर - अप्रकाशित कविता।

32. मुक्तिबोध - 'भूरी भूरी खाक धूल' - 1955-56।

33. मुक्तिबोध - चकमक की चिनगारी - 1961।

34. रघुवीर सहाय - 'रामदास' 'हँसो हँसो जल्दी हँसो' में संकलित कविता - 1975।

35. रघुवीर सहाय - 'एक समय था' में संकलित कविता।

36. सुरेश शर्मा - भूमिका - 'रघुवीर सहाय - प्रतिनिधि कविताएँ'।

अध्याय -4

साठोत्तरी हिन्दी कविता में लोक सौन्दर्य

(क) प्रवृत्तिगत विशेषताएँ-

पिछले अध्ययन में हमने देखा कि स्वतंत्र भारत में कविता और राजनीति के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया के बीच अटूट रिश्ता बनता है और **जैसे जैसे लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण (Democratic decentralization)** ***की प्रक्रिया को बल मिलता है, वैसे वैसे हिन्दी कविता में लोक जीवन की अभिव्यक्ति का भाव प्रबल होता जाता है।*** यह दूसरी बात है कि राजनैतिक संरचनाओं व संस्थाओं के संदर्भ में यह प्रक्रिया बहुत हद तक सफल नहीं मानी जा सकती किन्तु कविता में निश्चय ही यह उभार तेजी से बढ़ता है और यह साठोत्तरी हिन्दी कविता (1964) में बढ़ता ही जाता है। यह भी महज संयोग ही है कि 1959 में बलवंत राय मेहता समिति की रिपोर्ट के साथ 'लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण' की प्रक्रिया आरम्भ होती है जिसे तब सबसे पहले राजस्थान ने लागू किया था और 1968 तक करीब सभी राज्यों ने इसे मान लिया था। यह भी महज संयोग ही है कि यह प्रक्रिया भारत के उस पश्चिमी राज्य (राजस्थान) से आरम्भ होती है, जहाँ साहित्य के लोकधर्मी प्रवृत्ति की समृद्ध परम्परा रही है। यही समय (1959-68) साठोत्तरी हिन्दी कविता के विकास का भी है, जिसने अपने को जहाँ एक ओर नयी कविता की राजनीति से अलग किया, वही लोक जीवन को अभिव्यक्ति भी दी।

इस प्रकार राजनीति का 'लोक' की ओर झुकना वस्तुत: जन मानस की भावनाओं के बढ़ते दबाव का परिणाम रहा है और इसने साठोत्तरी कवियों को भी प्रेरित किया।

जो कवि अभी तक लोकतंत्र की राजनीनि के विविध पहलुओं की काव्यगन मीमांसा कर रहे थे, उसकी आंतरिक विसंगतियों को उभारने की कोशिश कर रहे थे, वे भी अब राजनीति के लोकतंत्र की ओर मुड़े और लोक जीवन के रचनात्मक पक्ष को अभिव्यक्त करते हुए जनता के संघर्ष व जीवन को अपने काव्य का विषय बनाये। इस समय न केवल नयी कविता के दौर के कवियों ने ऐसी रचनायें लिखी, वल्कि प्रगतिवाद के दौर के कवि भी इन नये कवियों व युवतर कवियों का साथ दिये और कवियों के बीच पीढ़ियों का अंतराल लगभग पटता सा नजर आता है जो लोक मन की अभिव्यक्ति का सबसे बड़ा कारण है और प्रमाण भी। इन कवियों की कविता में वस्तु 'लोक' की व्यवस्था व व्यवस्था (राजनीति) की वस्तु, दोनों पक्षों का उभार एक साथ मिलता है। जाहिर बात है पहले में लोक जीवन कैसा चल रहा है, उसकी अभिव्यक्ति है और दूसरे में लोकतंत्र में लोक जीवन कितनी सहभागिता कर पा रहा है, यह उभर रहा होता है। अर्थात् लोक का स्थूल और गतिशील दोनों पक्ष। इन्हीं कारण से 'लोक सौन्दर्य' भी इस समय की कविता में उपस्थित होता है क्योंकि इस समय का लोक रक्षात्मक के साथ रचनात्मक भी है। यानी स्थिति और आकांक्षा के द्वन्द्व से एक प्रकार का संघर्ष सदैव उपस्थित रहता है।

लेकिन ऐसा नहीं है कि 70 के बाद आने वाले सारे कवियों में लोक धर्मी चेतना ही मिलती है, राजनीति की उधेड़बुन नहीं। कुछ कवि अपनी परम्परा में राजनैतिक सत्ता को ही अभी भी अपने काव्य के केन्द्र में रखे थे और यह अंतर नयी कविता में और उसके समानांतर लिखने वाले कवि रघुवीर सहाय की परम्परा में देखा जा सकता है। नयी कविता में 'सत्ता' की विरूपताओं को पकड़ने वाले रघुवीर सहाय की परम्परा में धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, विष्णु खरे से लेकर 90 के दशक के कवि विमल कुमार संजय चतुर्वेदी और देवी प्रसाद मिश्र तक आते हैं, जबकि 'सत्ता' के

समानांतर 'लोक' मन की भावनाओं व उसके संघर्षमय जीवन को अभिव्यक्ति देने वाले साठोत्तरी हिन्दी कविता के महत्वपूर्ण कवि केदारनाथ सिंह की परम्परा में विजेन्द्र, ऋतुराज, ज्ञानेन्द्र पति, अरुण कमल, आलोक धन्वा, गोरखपाण्डे, से लेकर 90 के दशक के निलय उपाध्याय व एकांत श्रीवास्तव तक आते हैं। इस प्रकार साठोत्तरी हिन्दी कविता में यह **दो धारायें** एक साथ दिखायी देती है जिनमें दूसरी धारा ने अंतत: पहली को अपने में समा लिया और प्रवृत्तियों की यह निकटता ही अंतिम दशक की उपलब्धि रही है। अत: नवोत्तरी काव्य परिदृश्य 1947 से चली आ रही 'फाँक' को पाटने की कोशिश में देखा जाना चाहिए जिसके उदाहरण में हम कुमार अंबुज व निलय उपाध्याय को रख सकते हैं। इसके पहले यह कोशिश ज्ञानेन्द्र पति व राजेश जोशी में मिलती है और इसके पहले निराला में।

इस पृष्ठभूमि में साठोत्तरी हिन्दी कविता का मूल्यांकन सहज हो जाता है। इस अध्ययन में हम पहले साठोत्तरी हिन्दी कविता की लोकधर्मिता का आरम्भ व विकास दिखायेंगे, फिर लोक सौन्दर्य के कारक तत्वों की पड़ताल करेंगे और फिर कुछ विशिष्ट कवियों का मूल्यांकन।

वास्तव में यदि प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता के क्रमिक विकास को देखा जाय, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि प्रयोगवाद का जन्म, प्रगतिवाद की तुलना में एक प्रकार से 'प्रतिरक्षा' के भाव से हुआ है। 'प्रतिरक्षा' से आशय यह है कि प्रगतिवाद पर मार्क्सवाद का जो स्थूल सिद्धान्त लागू कर दिया गया था, उससे कविता का मूल भाव खण्डित होने लगा। देश परतंत्र था, फिर भी स्वतंत्रता की आग तो धड़क ही रही थी। इसी 'बाह्य-प्रभाव' की प्रतिरक्षा में प्रयोगवाद आया, जिसमें व्यक्ति अपने भीतर झाँकना आरम्भ कर दिया। 'सिद्धांत' के विरुद्ध 'व्यक्ति' की निजता की पहचान की जाने लगी। यह निजता, जितनी व्यक्ति के निजीपन से सम्बद्ध थी, उतनी

ही अपने निकट के भाव से, अर्थात् वही अनुभूनि प्रामाणिक थी, जो उसकी अपनी थी और इसीलिए 'अनुभूतियों की वैविधता' का भाव उछालें मारने लगा। यह व्यक्ति मानस का प्रवेश जैसे ही गहरा होता जा रहा था कि देश आजाद हो गया और तव यह लगने लगा कि व्यक्ति की इतनी निजता स्वयं के लिए घानक होगी। यूँ भी देश आजाद हो गया, अत: 'प्रतिरक्षा' का भाव भी जाता रहा। अब कवि की चिंता का कारण समूचा राष्ट्र था। मध्यवर्गीय जीवन की विषंगतियों की तरफ कवियों का ध्यान गया। कुछ आदर्श कल्पनायें की जाने लगीं। यही मध्यवर्गीय जीवन अनुभूतियाँ धीरे धीरे devolve होती गई और 60 के बाद कविता के 'ग्रामीणी यथार्थ' की अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त की। अब कवि राष्ट्र को अपनी चिंता के केन्द्र में लाने के पहले अपने 'लोक जीवन' को कविता के केन्द्र में पहले लाये जो 70 के बाद तेज होता गया। तब जैसा कि भक्तिकाल के आरम्भ में होता है, वही यहाँ भी हुआ। भक्तिकाल में 'राष्ट्र (मुस्लिम) के स्थिर बन जाने से कविता में (हिन्दू) में शौर्य व वीरता के गुण की संभावना न बची, और कवि का ध्यान भगवान की शक्ति व करुणा की ओर गया। यहाँ 70 तक आते आते 'राष्ट्र' की स्थिरता के बाद कवियों का ध्यान लोक जीवन की ओर गया क्योंकि भगवान में विश्वास करना अब संभव नहीं था। लोक मनुष्य ही अब भगवान हो गये। कवियों को शहरी जीवन में काव्य की संभावना क्षीण लगी और वे लोक जीवन की ओर मुड़े। **यूँ भक्तिकाल का भक्तिवादी लोक जीवन 70 के आस पास के लोकवादी भक्ति जीवन में परिणत हो गया। यह स्वाधीन भारत की हिन्दी कविता काल में एक प्रकार का 'लोक जागरण' ही है।**

यूँ तो साठोत्तरी कविता की **पृष्ठभूमि** का मूल्यांकन हम कर चुके हैं, लेकिन यहाँ पर कुछ रचनाओं के सन्दर्भ से इसका उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। इस

रूप में 1959 का वर्ष महत्वपूर्ण है। इसमें **श्रीकांत वर्मा** की एक कविता लिखी गयी है- 'घर-धाम' जिसमें कवि आरम्भ में ही कहता है- "मैं घर जाना चाहता हूँ।" इसमें तत्कालीन युवा मानस का विक्षोभ सहज ही लक्षित किया जा सकता है और 1962 के बाद हिन्दी कविता में जिस मोहभंग की बात कही जाती है, उसकी एक झलक इसमें मिलती है। इस कविता में कहा जाता है- "मैं घर जाना चाहता हूँ/ ... मैं जीना चाहता हूँ/ मैं जीवन को भासमान करता चाहता हूँ/ मैं कपास चुनना चाहता हूँ/ या फावड़ा उठाना चाहता हूँ/... मैं अपने पास/ अपना एक लोक रखना चाहता हूँ।" इसमें घर की याद से अधिक नागरिक जीवन के बढ़ते हुए परायेपन की चीख है। यहाँ कवि जड़ों को पाना चाहता है। इन्हीं जड़ों को उसकी कविता 'भटका मेघ' (1957) में भी देखा जा सकता है, जिसकी कविताएँ धरती के प्रति एक खास ललक दर्शाती हैं। 'मैं अषाढ़ का पहला बादल/ शताब्दियों के अंतराल में घूम रहा हूँ/ बार बार सूखी धरती का सूखा मस्तक चूम रहा हूँ।'

इन्हीं जड़ों की ललक *'तीसरा सप्तक'* (1959) में भी दिखायी पड़ती है। इसका प्रकाशन एक महत्वपूर्ण मोड़ कहा जा सकता है क्योंकि इसका पूरा ढाँचा ही अपनी जातीय चेतना के लक्षण से युक्त है। लोक भाषा और लोकप्रिय भाषा, दोनों का प्रचुर प्रयोग इसमें मिलता है। नयी कविता और प्रतिबद्ध कविता के मिले जुले रूपों के बीच प्रतिबद्ध कविता ही आगे बढ़ती है जिसमें लोक धर्मिता का प्रभाव लगातार बढ़ता जाता है। अकविता के प्रभाव से इस लोकधर्मिता का प्रभाव थोड़ा आक्रामक होता है, जिससे संघर्ष पक्ष का उदय होता है।

वास्तव में 'तीसरा सप्तक' के बहुत सारे कवि, जो बिल्कुल नये थे, अपनी इन्हीं जड़ों की तलाश में निकलते हैं। इसकी कुछ विशेषताएँ निम्नवत हैं-

(क) पहली यह कि अज्ञेय की 'हरी घास पर क्षण भर' के लोक मन का प्रभाव

यहाँ पर है। प्रयाग नारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी व मदन वात्स्यायन में उनके शिष्यों जैसा है, साही व कुँवर नारायण में मिथकों में घुला मिला है, केदार नाथ सिंह व सर्वेश्वर में लोक मन की ओर झुकाव है। कहना न होगा, कि केदार जी बरावर व बरबस इसी ओर झुकते चले जाते हैं, जवकि शेष या तो मिथकों से चिपके रहते हैं या फिर लिखना बंद कर देते हैं (प्रयाग, कीर्ति, मदन) या फिर क्रांतिकारी तो जाते हैं (सर्वेश्वर), क्योंकि उनकी भावगत अभिव्यक्ति के लिए लोक की चेतना अपर्याप्त लगती है।

(ख) दूसरी बात यह कि ऊपर के सारे कवियों में (केदार जी को छोड़कर) लोक मन की प्रस्तुतियाँ तो हैं, किन्तु लोक अंदाज गायब है। लोक अंदाज, यानी कहन की शैली, लगभग नदारद है। ये, अज्ञेय की तरह ही, चिंतित होने से अधिक चिंतन करने वाले कवि लगते हैं। 'मनन' अधिक करते हैं। 'लगन' कम है।

(ग) तीसरा यह कि लोक शब्दों की नक्शासी की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। **ऐसा उनकी लोक संस्कार से विच्युति का कारण ही है। ऐसा लगता है कि सहसा विपत्ति में पड़ने पर या याद आने पर कोई लड़का जैसे 'माई-माई' चिल्लाने लगता है, वैसे ही ये कवि भी कविता के संकट को समझकर 'गाँव-गाँव' चिल्लाने लगते हैं।** यदि इससे कोई मुक्त था, तो निश्चय ही केदार व उनकी कविताएँ। सर्वेश्वर तो थे ही।

कुँवर नारायण की पहली कविता ही 'ये पंक्तियाँ मेरे निकट' लोक संदर्भों को लेकर आगे बढ़ती है जिसमें कवि कहता है कि कविता पंक्तियों के लिए वे स्वयं उनके पास गया था। जहाँ गया था वह क्या था-

'कुछ दूर उड़ते बादलों की बेसँवारी रेख

या खोते, निकलते, डूबते, तिरते

गगन में पक्षियों की पाँत लहराती...

कभी भी पास मेरे नहीं आये

मैं गया उनके निकट उनको बुलाने।[1]

किन्तु इसके बाद वह इनको दर्शनीकृत कर देता है, यह कहना हुआ कि- 'क्योंकि मुझमें पिण्डवासी/ है कहीं कोई अकेली सी उदासी.../ 'ऐसे ही संकेत इनकी अन्य कविताओं में मिलते हैं जैसे- शाहजादें की कहानी, 'घर रहेंगे'।

साही की कविता में भी लोक संदर्भों को दर्शनीकृत या मिथकों तक उठाने का लक्षण मिलता है। रात में गाँव, इस घर का यह सूना आँगन, माघ 10 बजे दिन, नये शिखरों से, कविताएँ इनकी 'तार सप्तक' में संकलित अच्छी कविताएँ हैं। इन सभी में लोक संदर्भों का प्रचुर समावेश है किन्तु कहीं कहीं दर्शन या अमूर्तन की झलक मिलती रहती है और यही आगे की कविताओं में विकास पाती है। यह 'टीम-मेट' का शायद प्रभाव ही था, हालाँकि साही विचारधारा के स्तर पर समाजवादी लोहियावादी है।

सर्वेश्वर की कविता में लोक रूढ़ियों से मुक्ति का प्रयास है और लोक जीवन की रचनात्मकता को पकड़ने की समझ है, किन्तु आक्रोश का धधकता गोला भी है जो संयमित नहीं होने देता। रातभर, सौन्दर्यबोध, चुपाई मारो दुलहिन, एक हल्का सा मेघ, सुहागिन का गीत, 'तीसरा सप्तक' में संकलित इनकी महत्वपूर्ण कविताएँ हैं। दूसरी ओर *केदार नाथ सिंह* में लोक जीवन की समझ और उसकी संयमभरी रचनात्मक अभिव्यक्ति के लक्षण मिलते हैं जो इनकी बाद की कविताओं में बढ़ते ही गये हैं। इनमें 'विषय की मूर्तता व रूप की संक्षिप्तता' के लक्षण विद्यमान हैं जो इनकी कविता में विम्बों के प्रतिफलन ही हैं। 'धुँए' को भी गदराया हुआ कहना और फिर उसके घने होते जाने का संकेत करना, (आँखें खुली, दिखा आगे पथ मुड़ता मुड़ता/ पार

क्षितिज के चला गया था, ज्यों गदराया/ धुआँ हो चले घना... 'पथ' कविता) कवि के अपने रास्ते का संकेन देता है। इस रास्ते पर सुहावने दिन भी है (धानों का गीत, फागुन का गीत) तो दर्दीले दिन भी हैं (दुपहरिया, रात)। कहीं ये स्मृति से काम लेते हैं, कहीं प्रत्यक्ष से। आँगन का महत्व इनमें बढ़ना है (दीपदान) इसी आँगन में ये दीया जलाते हैं और इसी दीये को जलाना इनकी वास्तविक चिंता है। वह दीया, जो काजल पारता है। **वह काजल जो बुरी नजरों से बचाता है। वास्तव में रोशनी की चकाचौंध में दीये को देखना और उसमें भी उसकी टिमटिमाहट को, एक बड़ी बात है। यह ही इनकी लोकधर्मिता का केन्द्रीय सम्वेदन है।**

इस प्रकार हम देखते हैं कि 1959 स्वयं में आगामी हिन्दी कविता के लोकधर्मी स्वरूप का संकेत देता है। यह क्रम आगे बढ़ता जाता है और इतिहास की घटनाएँ भी इसका साथ देती हैं मसलन 'तार सप्तक का पुनर्मुद्रण' (1963), भारत-चीन युद्ध (1962), मुक्तिबोध की मृत्यु (1964), नेहरू की मृत्यु (1964) आदि। यह लोकधर्मी स्वरूप, अपनी पूर्ववर्ती प्रगतिवादी अवधारणा से भिन्न भी होता है जिसका मूल्यांकन थोड़ा अपेक्षित होगा।

प्रगतिवादी और साठोत्तरी हिन्दी कविता की लोकधर्मिता

हम यह कह आये हैं कि साठोत्तरी हिन्दी कविता की यह एक निजी विशेषता है कि लोक चेतना के कवि पश्चिम की प्रतिरोधी संस्कृति के रूप में कवि कर्म में तत्पर रहते आते हैं जिस कारण देशज-ठेठ अनुभव इनकी निजी विशेषता रही है। अपनी स्थानीय रंगत के लिए ये कवि जितना ही अपने परिवेश का चित्रण, वर्णन या विवरण प्रस्तुत करते हैं आरम्भ में उससे कहीं अधिक बाहरी प्रभावों से बचने की कोशिश करते हैं। इस रूप में इनकी आरम्भिक लोक सम्पृक्तता परायेपन के बोध

की प्रतिफल थी जिसमें एक लाचारी भरी उत्फुल्लन थी परन्तु यह धीरे धीरे कम होता गया है, जिससे कह सकते हैं कि साठोत्तरी हिन्दी कविता लोक जीवन में बढ़ने आत्म विश्वास की प्रतिफल है। जड़ों के प्रति इसकी ललक ने इसको जीने के लायक बनाया या कि जीने की चाह पैदा की। इसी चाह के बीच इसने अपना मार्ग तलाशा, जिसका प्रभूत विकास आगे की कविता में होता है। यह वही कविता है जिसमें अपने मिट्टी के विविध रंग हैं, उसकी अनुगूँजे हैं। ये कविताएँ सामान्य हल्की फुल्की स्थितियों के बीच से उभरती हैं और अपना प्रभाव छोड़ती हैं।

इस रूप में कह सकते हैं कि साठोत्तरी कविता वस्तुत: प्रगतिवादी रुझान का परिवर्तित उठान ही है। यह बात और है कि यहाँ के कवि लोक जीवन को थोड़ा 'वस्तुनिष्ठ' ढंग से देख रहे होते हैं, हालाँकि वे 'प्रेक्षक' न होकर, वस्तु के 'परीक्षक' ही हैं। वस्तुनिष्ठता से आशय थोड़ा दूर से देखना है और ऐसी स्थिति में, जैसाकि होता है, 'नकारात्मक पक्ष' ही अधिक उभरता है, क्योंकि दूर से देखने पर जो 'तटस्थता' आती है, उससे कवि एक मूल्यांकन की स्थिति में होता है। यह नकारात्मक पक्ष, यहाँ बखूबी दिखायी देता है और इसी में संघर्ष की चेतना का उत्स भी है। **नकारात्मकता और उससे उत्पन्न संघर्ष, सकारात्मक परिणति की ओर ले जाते हैं और इस रूप में यह कविता सकारात्मक व इस कारण सर्जनात्मक है। प्रगतिवाद से यहाँ पर इसका अंतर स्पष्ट है।**

1. प्रगतिवाद में 'अनुभूतियों का स्थानीकरण' होता है। साठोत्तरी की इस लोकबद्ध धारा में थोड़ा आगे बढ़कर 'स्थानीकरण की अनुभूतियाँ' मिलती हैं, जो अपनी स्थानीयता में उससे जुड़े एक वृहत्तर जीवन संदर्भ पकड़ती है। इस कारण से इनकी कविताओं की संरचना थोड़ी जटिल भी होती है जिससे जीवन की जटिलता की पकड़ संभव होती है। केदारनाथ सिंह लिखते हैं 'आप विश्वास् करें/ मैं कविता नहीं कर रहा।

सिर्फ आग की ओर इशारा कर रहा हूँ/ वह पक रही है/ और आप देखेंगे/ यह भूख के बारे में आग का बयान है/ जो दीवारों पर लिखा जा रहा है'[2]। यह वास्तव में स्थानीयता को व्यापकता प्रदान करना ही है।

2. प्रगतिवाद में लोक जीवन के प्रति सम्पृक्तना का भाव सहज था, नैसर्गिक था, जबकि साठोत्तरी के आरम्भ में यह परायेपन के बोध से संचालित था। बाद में यह कम हो गया।

3. प्रगतिवादी लोक धर्मिता वर्गबद्धता के खाँचे में फिट की जाने लगी थी, जिसने रातों रात समाज को बदलने की भावना को जगाया। इस कारण उसमें धैर्य व संयम की कमी थी। साठोत्तरी कवियों ने इस 'झटकुआ अंदाज' से अपने को मुक्त रखा और बदलने से अधिक उस 'बदलते पैटर्न' को समझने की कोशिश की। इसके लिए अपेक्षित धैर्य इसमें था।

4. प्रगतिवाद में संघर्ष से अधिक आक्रोश था, जिससे वह अल्पायु ही रहा। साठोत्तरी में संघर्ष ही है, जो 'आत्म' भी है और 'बाह्य' भी। इन्होंने स्थितियों को, उनके पैटर्न को समझने के लिए भी संघर्ष किया और उन्हें बेहतर रूप में लाने के लिए भी। पहले में धैर्य अपेक्षित था, दूसरे में उत्साह। धैर्य व उत्साह, यूँ साठोत्तरी कविता की विशेषता है। इसे लोक चरित्रों में, लोक रूढ़ियों से मुक्ति के प्रयास में देखा जा सकता है। लोक सौन्दर्य का कारण भी यही है क्योंकि कविता को नारे की तरह ये इस्तेमाल नहीं करते। न ही आलोचक की तरह। कविता में सब कुछ बदलने के साथ कविता को कविता के रूप में ही देखते हैं। कविता में जीवन को बदलना इनका ध्येय है, न कि जीवन के लिए कविता को ही बदल डालना! ऐसा इनकी कविता के बीच 'तनाव' में देखा जा सकता है।

यही कारण है कि ये कविताएँ रूढ़ अर्थ में प्रकृति या लोक की कविताएँ नहीं

है। जिन्हें 'लोक संपृक्ति' की कविता मानकर छोड़ दिया जाता है। *डा0 केदार नाथ सिंह* ठीक लिखने हैं कि 'ये कविताएँ केवल प्रकृनि या रूढ़ अर्थ में लोक अनुभव की कविताएँ नहीं हैं। ये समकालीन बोध की सुपरिचिन परिधि को तोड़ने वाली कविताएँ हैं और इस तरह आज की हमारी हिन्दी कविता की बनी बनाई अवधारणा को थोड़ा छिन्न भिन्न करने वाली कविताएँ हैं।[3]

इस पृष्ठ भूमि पर साठोत्तरी हिन्दी कविता में लोक सौन्दर्य की **विशेषताओं** का मूल्यांकन किया जा सकता है।

1. दरअसल साठोत्तरी कविता के इस 'लोक सौन्दर्यवादी' रुझान की एक बड़ी विशेषता यह है कि नयी कविता के दौर में 'शहर' के बल खड़ी कविता को 'गाँव' के बल खड़ा कर दिया गया और जो आखें शहर की सीमाओं में आबद्ध होकर 'सत्ता' के प्रतिपक्ष में उलझी हुई थी, उनके अंदर सत्ता से इतर-जमीन की ओर ताकने की इच्छा का भाव जगाया। इस तरह गाँव व शहर के बीच जहाँ भावनात्मक दूरी कम हुई, वही लोक जीवन पर हो रहे उत्पातों का खुलासा भी हुआ और इस लोक जीवन के बीच अब सामान्य मनुष्य की प्रतिष्ठा हो सकी। इस मनुष्य से इतर लोक जीवन के जितने भी प्रतिरूप रहे, मसलन परम्परा, रूढ़ि, प्रकृति, रीति-रिवाज... सब के सब मनुष्य रूप में रूपान्तरित होते रहे और रूपांतरण की यही प्रक्रिया साठोत्तरी कविता में लोक सौन्दर्य का कारण बनती है, जहाँ लोक जीवन का सौन्दर्यबोध गतिशील हो जाता है।

2. इस प्रकार हम कह सकते हैं कि साठोत्तरी कविता, हिन्दी कविता के उस संधि स्थल पर है जहाँ एक ओर नयी कविता की अतिशय आत्म केन्द्रीयता है, तो दूसरी ओर इससे मुक्ति का प्रयास भी। इसी आत्म केन्द्रीयता ने प्रकारान्तर से आगे लोक केन्द्रीयता के भाव को जगाया। नयी कविता का अनुभव जगत अवश्य व्यापक

था, किन्तु यह सत्ता या फिर शहर की विविध अभिव्यंजनाओं में ही सिमट कर रह गयी थी। हर कवि अपने द्वारा अनुभव किये गये अनुभव को ही सर्वोपरि मानता था, जिससे अनुभवों का एक अनियंत्रित अंबार खड़ा हो गया। यही यथार्थवाद वाद में अतियथार्थवाद का रूप धारण करता है, जहाँ सब कुछ के निषेध की बात उठायी गयी थी। यही अकविता को जन्म देता है और इसी के समानांनर लोकधर्मी कविता विकसित होती है जिसने लोक वैविध्यता को चुना।

3. इस कविता की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि इसके बढ़ते सौन्दर्यबोध से अश्लीलता का भाव कम होता है, क्योंकि इसने शब्द की अभिव्यंजना शक्ति को बढ़ाया है। फूहड़ मजाक वही करते हैं, जिनके पास शब्द का दारिद्रय होता है। ऐसा ही अकविता ने किया। इसके बनस्पति लोकधर्मी कविता ने 'शब्द शोधन' के माध्यम से अपनी बात कही जिसमें एक गम्भीरता है। इस रूप में लोक सौन्दर्य के बढ़ते प्रभाव के कारण कविता अश्लील से श्लील होती गयी है।

4. यह भी महत्वपूर्ण है कि ये कवि सौन्दर्य को ठूँस-ठूँस कर नहीं भरते, बल्कि विषय वस्तु के **आपसी सम्बन्धों** के आधार पर ही सौन्दर्य (तनाव) को विकसित होने देते हैं। इस रूप में जितना सौन्दर्य पंक्तियों में होता है, उतना ही समग्र कविता में। ऐसे कवि (जो कि 70 के बाद बहुत है) किसी कोणीय आधार पर लोक वस्तु को नहीं रचते, बल्कि इसकी विषय वस्तु को आपस के सम्बन्धों में इस तरह से रखते हैं कि वह सौन्दर्य की उद्धाषक हो सके। केदारनाथ सिंह से लेकर अरुण कमल तक ने इसे अपने ढंग से साधा है। ज्ञानेन्द्र पति इसे 'शब्द-प्रसरण' के माध्यम से साधते हैं जिनमे वस्तु को शब्दों के आपसी सम्बन्धों में फैलाया जाता है। यह लोक संदर्भों के प्रति गहरी ललक का ही परिणाम है।

5. इन कवियों की विशेषता 'लोक मिथकों से मुक्ति के प्रयास' में भी देखी

जा सकती है जो लगातार बढ़ती है। यह लोक आकर्षक नहीं है, बल्कि यह वह लोक है जो चमकने से अधिक खुरदुरा है और स्थायी से अधिक गतिशील है। ठण्डा से अधिक तप्त है और मूक से अधिक मुखर है। यहाँ मिथक, किसी अतीत के सम्मोहन से नहीं लाये जाते, बल्कि वर्तमान की जरूरत के परिणाम स्वरूप ही प्रतिफलित होते हैं और यथार्थमूलक संदर्भों से जुड़कर ही आगे बढ़ते हैं। अत: 'लोक यहाँ इतिहास के रास्ते आगे नहीं बढ़ता, बल्कि अपना वर्तमान ही उसके लिए महत्वपूर्ण होता है। इसकी आधुनिकता भी, इसकी मूल जड़ों से छनकर आती है[4]। केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन व त्रिलोचन के सन्दर्भ से आगे डा0 केदार नाथ लिखते हैं कि 'इस धारा के कवियों में परम्परा के खोज की वह बौद्धिक बेचैनी दिखायी नहीं पड़ती, जो आधुनिकतावादी कवियों में दिखायी पड़ती है। असल में परम्परा इनकी संवेदना, सोच न भाषा में अंतर्निहित है क्योंकि जिन जनपदीय स्रोतों से उभरकर ये कवि आये हैं, वहाँ परम्परा कोई अलग से खोजी जाने वाली वस्तु नहीं है। वह वहाँ रोजमर्रा के संघर्षों में बनती, छीजती और पुनर्निर्मित होती हैं।[5]'

इस प्रकार साठोत्तरी हिन्दी कविता की जातीय स्मृतियाँ, जड़ों की ललक आदि जो आई है वे आज तक विद्यमान है और वे स्वागतयोग्य है। इनका आना स्वाभाविक भी है क्योंकि कविता के लिए वास्तव में अब यही छोटी छोटी स्थानीय जगहें हमारी पकड़ में आती हैं। ये अब इतनी मोहक हो गयी है कि इनमें अपने समय की पूरी खबर रहती है। हर वस्तु अब अपनी 'लघुता में ही विशाल' है और इसी लघु के व्यापकत्व को पकड़ना लोकधर्मी कविता का निहितार्थ रहा है। हालाँकि अभी भी कुछ कवि (90 के दशक में भी) 'तनावहीन' कविताएं लिख रहे हैं और समकालीन कविता में एक 'दस्तावेज' की तरह दर्ज होने की कोशिश में हैं। किन्तु ये अवांछित कारणों की उपज हैं जो 'बाढ़' के ओहरने के साथ ही दिख जायेंगे। कोई आश्चर्य नहीं कि

पपड़ी की तरह ये जगह जगह फट जायँ। किन्तु जिन्होंने इस रूढ़ि को तोड़ा है, वे बेहद महत्वपूर्ण हैं। केदारनाथ सिंह, ज्ञानेन्द्रपति, अरुण कमल, आलोकधवा, राजेश जोशी, वीरने डंगवाल, मंगलेश डवरवाल से लेकर निलय उपाध्याय तक में इसे देखा जा सकता है। इसका आरम्भ निश्चय ही डा0 केदारनाथ सिंह से होना है।

इन विशेषताओं के परिप्रेक्ष्य में अव हम साठोत्तरी हिन्दी कविता में लोक-सौन्दर्य के *लक्षणों* के बारे में अपनी बात कर सकते हैं। लोक सौन्दर्य से हमारा आशय क्या है इसे हम अध्याय 1 के अंतर्गत स्पष्ट कर चुके हैं। यदि इस आधार पर साठोत्तरी हिन्दी कविता का मूल्यांकन करें, तो यह ज्ञात होता है कि इस समय की कविता का लोक सौन्दर्य धूमिल व रघुवीर सहाय के बीच केदारनाथ सिंह की कविता से आरम्भ होकर आगे बढ़ता है। कहना न होगा कि धूमिल में सत्ता एक अमूर्त इकाई थी। इन्होंने भाषा को एक हथियार की तरह इस्तेमाल किया जिनमें जनता से जुड़ने की सदायशयता तो मौजूद है, लेकिन वे अपने ही वृत्त में कैद हैं। ये क्रांति तो चाहते हैं, किन्तु इसकी ठोस सामाजिक दृष्टि की कोई निश्चित अवधारण इनके यहाँ नहीं मिलती। दूसरी ओर रघुवीर सहाय सत्ता के विविध रूपों को पहचानने की कोशिश करते हैं और सत्ता व व्यवस्था के भीतरी अंतर्विरोधों को उभारते हैं। ये सुपरस्ट्रक्चर के अंतर्विरोधों को जानते हुए भी मध्यमवर्ग से जुड़ी एक जटिल कविता का निर्माण कर रहे थे। इनके बारे में विजय कुमार लिखते हैं कि 'मध्यमवर्गीय जीवन स्थितियों के झरोखों से शेष शोषित समाज को बहुत बेचैनी के साथ निरखने वाले रघुवीर सहाय के यहाँ reconcile न कर पाने की समस्त बौद्धिक बारीकी नैतिक स्तर पर एक अव्यक्त लाचारी में reduce हो जाती है। समूह से रागात्मक जुड़ाव उनके यहां भी नहीं[6]। इस प्रकार धूमिल और रघुवीर सहाय की काव्य संवेदना जहाँ सत्ता के विरोध में एक प्रकार से **विडम्बनामूलक संदर्भों** के बीच पनपती है, वहीं केदार नाथ सिंह की काव्य संवेदना

इनसे अलग हटकर 'जीवन-बोध' के गहरे रूप के साथ आगे बढ़ती है। ये मध्यमवर्ग की सार्थक-निरर्थक भूमिका के चक्कर में पड़कर शक्ति के उन श्रोतों की तलाश में लगे थे, जो मनुष्य की रचनात्मक शक्ति व गरिमा दोनों को जिला सके और इसके लिए वे अपनी जड़ों में प्रविष्ट करते हैं। लोक इनके यहाँ कोई अमूर्त इकाई भर नहीं रह गया है, बल्कि वह जीता जागता इंसान है। वास्तव में अपनी संवेदना को मूर्तमान (मूर्तरूप) करने की इच्छा ही इन्हें 'लोक' संदर्भों व लोक स्थितियों की ओर ले जाती है। इनका लोक स्थिर न होकर, अपने को लगातार बदल रहा है और इनकी कोशिश यही रही है कि 'ग्रास रूट पर चल रही अमानवीकरण की प्रक्रिया को जाँचा परखा जाय।' इनकी काव्य चेतना लोक जीवन के असंख्य व्योरों, स्मृतियों, कथाओं, जन विश्वासों से निर्मित हुई है। यहाँ यह सरल रैखिक, रागात्मकता अपने पूरे घनत्व में मौजूद है। इसके लिए उनकी संवेदना त्रिलोचन, नागार्जुन से होती निराला से रस खींचती है। इसी पृष्ठभूमि पर वे 'सत्ता लोक' के द्वन्द्व को अपनी कविताओं में बखूबी उकेरते हैं जिनसे लोक सौन्दर्य का पता चलता है। इनमें एक ऐसी रागात्मक तटस्थता का रूप मिलता है, जो रोजमर्रा के जीवन को पकड़ती तमाम विसंगतियों के बीच मनुष्य के भीतर के **रचनात्मक सौन्दर्य** को पकड़ लेती है।

दरअसल, इनके कवि ने बड़ी शिद्दत से महसूस किया कि राजनैतिक पार्टियों की अदला बदली से दूर और चुनाव के झमेले में पड़कर, जनवादी मूल्यों को बचाने का कार्य समाज के भीतरी परतों, उनकी जड़ों में होना चाहिए, जो कि पिछले तीन दशक से छूटते रहे हैं। यह एक प्रकार से शक्ति की पुर्नस्थापना की तलाश हो थी, जिसका विकास 70 व 80 के दशक में खूब होता है। 90 का दशक तो इस शक्ति के संघनित स्वरूप को व्यक्त करता है। यह केदारजी के पहले संकलन में ही स्पष्ट है। अभी बिल्कुल अभी (1960) और इसके ठीक पहले 1959 में प्रकाशित 'तीसरा

सप्तक' की कविताओं में भी इसे देखा जा सकना है। 'अभी बिल्कुल अभी' पर लिखते डा0 नामवर सिंह ने लिखा है कि '....ये चित्र विकसित सौन्दर्यबोध के सूचक हैं और इसकी सामर्थ्य उसी कवि में हो सकती हैं जो खुली संवेदना से दिशाओं को सूँघकर पहचान लेता है[7]।' आगे वे लिखते हैं कि 'केदार झकझोरते नहीं, धीरे से कँपाते हैं। एक हलका कम्पन, एक हलका स्पर्श- यही उनकी अभिरुचि है।' (उपरिवत) इस रूप में इनके यहाँ 'जड़ों की ओरे जाने की जो ललक मिलती है, उनसे यह पता चलता है कि 'पूँजीवादी' व्यवस्था में 'विस्थापन' कितना कष्टकारी सिद्ध हुआ है। इनकी कविताओं से यह स्पष्ट होता है कि 'जड़ों की ओर वापसी' कोई रूमानी प्रवृत्ति का शौकिया मिजाज नहीं है, बल्कि अपने जीवन के परम्परागत स्रोतों को समझने की प्रक्रिया है,उन स्रोतों को जो बाजार व व्यवस्था का विकासशील अवधारणा में कहीं खो से गये हैं। इसीलिए इनका कवि विम्बों के माध्यम से वस्तु को चित्रित करता है, कोई विवरण नहीं देता।

केदारनाथ सिंह की कविताओं में उपर्युक्त आधारों पर लोक सौन्दर्य का लक्षण प्रचुर मात्रा में मिलता है। इनसे आरम्भ हुई इस प्रवृत्ति में इनके समकालीन विजेन्द्र व ऋतुराज के साथ परवर्ती रचनाकारों ने भी अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है जिसमें 70 व 80 के दशक के मान बहादुर सिंह, ज्ञानेन्द्र पति, राजेश जोशी, आलोक धन्वा, अरुण कमल, मंगलेश डबराल, गोरखपाण्डे, वीरेन डंगवाल, नरेन्द्र जैन और 90 के दशक के स्वप्निल श्रीवास्तव, निलय उपाध्याय, एकांत श्रीवास्तव, बद्री नारायण, बोधिसत्व प्रमुख हैं। हालाँकि इनमें से हर कवि की अपनी भाषाई विशेषताएँ हैं, फिर भी लोक संदर्भों के प्रति सम्पृक्तता के आधार पर वे एक मंच पर हैं। अंदाज सबका अपना है, लेकिन निगाहें एक ही ओर है वे वहीं हैं कि कैसे जड़ हो रही जड़ों को गतिशील व उर्वर किया जाय। इन सब में एक देशी किस्म का राग और जीवन के आंतरिक

सौन्दर्य को देखने का साहस है। अब इन पर विचारधारा का अतिरिक्त दबाव नहीं रहता। यह एक प्रकार का 'लोकीय विकेन्द्रीकरण' है। इनके माध्यम से मनुष्य के बुनियादी राग व ऐन्द्रियता को बचाने पर बहुत जोर है, हालाँकि सच तो यह भी है कि बाद में (विशेषत: 80 के उत्तरार्ध से) नयी पीढ़ी में एक सरलीकरण की प्रवृत्ति भी दिखायी देती है। लोक चित्रण, कुछ कुछ प्रदर्शन की तरह आने लगा और कहीं कहीं सस्ते माल की तरह जिसकी बाजार में खपत संभव है। कविता कुछ कुछ उत्सवधर्मी होती गयी। इस पर विजय कुमार बड़ी रोचक टिप्पणी करते हैं। 'सरकारी प्रतिमानों ने, सरकारी निर्देशों पर कला संस्कृति के क्षेत्र मे उत्सवधर्मी लोक संस्कृति को बढ़ावा दिया, जो चीजों से उसकी मूल अर्थवत्ता को समाप्त कर उन्हें सिर्फ प्रदर्शन की वस्तु में बदल, डालती है.... यह ऊपरी तौर पर प्रगतिशील भी लगती है क्योंकि इसमें लोक जीवन व ऐन्द्रिकता की गंध महसूस होती है किन्तु अपनी पूरी 'एप्रोच' में यह कविता लोक जीवन को किसी डिपार्टमेण्टल स्टोर में रखे जाने लायक चमकदार व सुघड़ बना देती है[8]।

ऊपर के विश्लेषण से यह बहुत स्पष्ट है कि नयी कविता और इसके समानांतर चलने वाली साठोत्तरी कविता की लोक धर्मिता में एक मौलिक अंतर समय व सांस्कृतिक बोध को लेकर है। इससे साठोत्तरी कविता में *दो धाराओं* का पता चलता है। वास्तव में समय और संस्कृति बोध केवल इतना ही नहीं है कि अपने समय की संस्कृति व वर्तमान कालिक परिवेश की अभिव्यक्ति मात्र से काम चल जाय, बल्कि इससे भी अधिक जरूरी होता है, 'समय व संस्कृति में हो रहे परिवर्तन को लक्षित करना। **यह चेष्टा ही लोकधर्मी कवियों की विशेषता है,** क्योंकि उनकी कविताओं में 'समय' से क्रिया तो है ही, गुजरे समय से अब तक हो रहे परिवर्तनों की प्रस्तुतियाँ भी हैं। यही प्रस्तुतियाँ ही 'नयी कविता' की मानसिकता से इन्हें अलगाती है।

नयी कविता वास्तव में राजनैतिक बोध की कविता रही है, जो कि पुराना न होकर बिल्कुल नया है क्योंकि भारत एक नया राज्य है। जाहिर बात है इस राजनैतिक बोध की कोई परम्परा नहीं हो सकती और जो है भी, वह पराधीनता की है जिसमें सम्पृक्तता का भाव सम्भव ही नहीं है। इस कारण से इन कवियों के पास निख़ालिस अपना समय है जिस कारण से इनमें 'सत्ता' की विरूपताएँ ही अधिक मिलती हैं। (जैसे कि रघुवीर सहाय में)। इसके पीछे व इसके बीच के परिवर्तनों का कोई स्पष्ट बोध दिखायी नहीं देता और जो दिखायी भी देता है (मसलब पराधीनता का साम्राज्य) वह भी विरूपित ही है। **यह नयी कविता की सबसे बड़ी सीमा है।**

दूसरी ओर साठोत्तरी हिन्दी कविता के लोकधर्मिता का एक लम्बी परम्परा है जो अनादिकाल से चली आ रही है। लोक वस्तु की विविध अभिव्यंजनाएँ सदियों से मिलती रही हैं जिनमें अच्छाई-बुराई दोनों के गहरे लक्षण मौजूद हैं। अत: साठोत्तरी के इस धारा के कवियों के लिए यह आसान था कि अपने समय का मूल्यांकन पिछले समय व संस्कृति बोध के सापेक्ष कर सकें। इससे आगामी समय की गूँज भी इन्होंने पकड़ने में सफलता हासिल की है। इनका भीतर की ओर झुकाव ही एक ओर जहाँ कविता को कविता रहने देता है, दूसरी ओर आने वाले समय की आहट भी देता है।

इन दो धाराओं को रघुवीर सहाय व केदार नाथ सिंह में देखा जा सकता है। पहले की धारा में सत्ता प्रमुख है और ये जड़ों व परम्परा की चिंता नहीं करते। विष्णु खरे, धूमिल, लीलाधर जगूड़ी से लेकर 90 के दशक के विमल कुमार, संजय चतुर्वेदी, देवी प्रसाद मिश्र व कुमार अंबुज तक में इसे देखा जा सकता है। दूसरी धारा में लोक पक्ष प्रमुख है जिसके लिए इन सब में जड़ों की गहरी ललक है और जीवन का बड़ा फलक है। विजेन्द्र, ऋतुराज, ज्ञानेन्द्रपति, अरुणकमल से होकर निलय उपाध्याय व एकांत श्रीवास्तव तक में इसे देखा जा सकत है। यूँ 90 के दशक में यह विभाजन

करना कठिन है, क्योंकि दोनों प्रवृत्तियाँ एक दूसरे के निकट आयी हैं। प्रवृत्तियों की यह निकटता ही अंतिम दशक की उपलब्धि है, क्योंकि यहाँ के कवि में राज्य सत्ता से लेकर लोक चेतना तक के उभार देखे जा सकते हैं। शायद इसका कारण यह हो कि अंतिम दशक तक आते आते राज्य थोड़ा पुराना पड़ गया है (50 साल के बाद)। समाज तो पुराना था ही। अत: अब ये दोनों ही बगैर किसी विभाजन के सामने आते हैं। **अत: नवोत्तरी काव्य परिदृश्य ने 47 से चली आ रही 'फाँक' को पाटने की कोशिश की है।** संभव है अगली शताब्दी में यह फाँक पूरी तरह पट जाय। कविता का चेहरा तब शायद और भी सुन्दर लगेगा। ऐसी प्रवृत्ति फिलहाल कुमार अंबुज, देवी प्रसाद मिश्र व निलय उपाध्याय में दिखायी पड़ती है। इसके पहले ज्ञानेन्द्र पति में और राजेश जोशी में मिलती है। इसके पहले निराला में। निराला शायद इसीलिए आज की कविता के केन्द्र में है और यह 1997 के उनके जन्म शताब्दी समारोह से स्पष्ट है।

इसके साथ यहाँ पर कविता के आगामी विकास की सीमाओं की भी जानकारी अपेक्षित है। यह बताना जरूरी है कि केदार नाथ सिंह व रघुवीर सहाय की काव्यगत परिपक्वता आगे के कवियों में कहीं कहीं लड़खड़ाई भी है। स्वयं केदार नाथ सिंह वाली लोकधर्मिता, जैसा कि कहा गया है, बाद के कवियों में विकसित होती आई है, किन्तु वह 'लय' जो शब्दों के भीतर चलती है, जो अनुभुतियों की लय होती हैं, बाद के कुछ कवियों में छूट गयी हैं जिससे उनमें अतिशय उतावली के कारण 'विचलन' दिखायी पड़ता है। यहीं पर अपनी इस परम्परा का विभाजन भी दिखायी पड़ता है जिसे एक प्रकार 'नव-रूढ़िवाद' ही कहा जा सकता है, जहाँ लोक जीवन की प्रस्तुतियाँ भर हैं, उनकी अनुभूति प्रवण झंकृतियाँ नहीं है। इस लय का लोप बड़ा खतरनाक है और ऐसा इन कवियों का कविता की पूर्व परम्परा के ज्ञान न होने से ही है। इन

कवियों को धान की जड़ों में जाने के साथ हिन्दी कविता की जड़ों में भी जाने की जरूरत है, तभी सच को नये सिरे से सुनने की सामर्थ्य मिल सकेगी।

दूसरी ओर रघुवीर सहाय की परम्परा भी इसी सरलीकरण का शिकार हुई है। रघुवीर सहाय ने जिस खवर को साधा था, उसमें 'वस्तु' के मौलिक स्वरूप का उद्घाटन होता था। कविता खुलती थी, बढ़ती न थी। बाद के वहुत से कवियों में कविता सिर्फ बढ़ने लगी जिससे कवि कर्म की सार्थकना ही खतरे में पड़ गई। बाद के कवियों ने इसे इतना अधिक खींचा कि उसकी elasticity ही समाप्त हो गई। इस प्रवृत्ति के सबसे अद्भुत जीव प्रयाग शुक्ल व गिरधर राठी हैं और भी बहुत से कवि हैं, जो धीरे धीरे 'उत्तर-आधुनिक' हो गये। स्वयं विष्णु खरे इससे नहीं बच पाये। गगन गिल जैसे महिलाओं का अधिकांश लेखन भी इसका शिकार हो गया क्योंकि इन सबमें 'अनुत्तेजक फैलाव' है, जो भूमि की अनुर्वरता का परिणाम रहा है। अब या तो इनको भूमि का संज्ञान (कविता का मूड) ही नहीं है, या फिर भूमि ही ऊसर है!

इस पृष्ठभूमि, विशेषताओं और लक्षणों के आधार पर अब हम **साठोत्तरी हिन्दी कविता में लोक सौन्दर्य के रूपों** का मूल्यांकन कर सकते हैं। इसके पश्चात हम कुछ विशिष्ट कवियों का मूल्यांकन करेंगे।

1. एक रूप तो वहाँ मिलता है जहाँ कवि निर्जीव वस्तुओं में जीवन तलाशता है क्योंकि यह लोक जीवन को उसकी अंतिमता में बचाने का उपक्रम है। पहले के कवि, उनके अस्तित्व के साथ उनका संकेत मात्र कर देते ते। अब का कवि उसकी प्रक्रिया को पकड़ता चलता है जिसमें उसकी गत्यात्मक सत्ता का बोध होता है। इसके माध्यम से कवि उसमें छिपा जीवन तलाशता है और इस विश्वास के साथ आगे आता है कि इस संसार की कोई भी वस्तु जीवन विहीन नहीं है। यह एक प्रकार से जीवन का विस्तारीकरण है। उसका लौकिकीकरण है। उसका विकेन्द्रीकरण है। **डा0 केदार**

नाथ सिंह की एक कविता है 'माझी का पुल' जिसमें 'पुल' एक स्थूल पदार्थ के रूप में न आकर, अपनी समस्त गतिशीलता में आता है। वह कहता है-

माँझी के पुल में कितनी ईंटें हैं

कितने अरब बालू के कण?

कितने खच्चर

कितनी बैलगाड़ियाँ

कितनी आँखें

कितने हाथ चुन लिए गये हैं माँझी के पुल में

मेरी बस्ती के लोगों के पास

कोई हिसाब नहीं है[9]

यह है कवि का सौन्दर्यबोध, जो ऊपर से निर्जीव दीखने वाले पदार्थ में गतिशील जीवन देखता है। यही जीवन है, जो बस्ती के आदमी को अपनी नींद में भी हिलाता है।-

मगर पुल क्या होता है?

आदमी को अपनी तरफ क्यों खींचता है पुल

ऐसा क्यों होता है कि रात की आखिरी गाड़ी

जब माँझी के पुल की पटरियों पर चढ़ती है

तो अपनी गहरी नींद में भी

मेरी बस्ती का हर आदमी हिलने लगता है[10]

यही दृश्य इनकी कविता 'नदी' में भी है। यही स्थिति **डा0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की कविता** 'आरा मशीन' में मिलती है, जिसमें आरा मशीन की आवाज

में उन गतिशील स्वरों को पकड़ने की कोशिश की गई है, जो अन्यथा पकड़ से बाहर है। इसके साथ ही उस 'लकड़ी' के पीछे की प्रक्रिया में आगे की संभावनाएँ भी हैं, जिसे कवि 'कुर्सी' के रूप में देखना है जहाँ 'राजा बैठेगा सिंहासन पर और वन महोत्सव मनायेगा' जब आरा मशीन चलती है तो इसके गति में जीवन की गति का एक दृष्य देखें-

दौड़े आ रहे

अगल बगल के यूकिलिप्टस

और हिमाचल के देवदारु

उसके आतंक में खिंचे हुये

दूर दूर अमरआइयों में

पक्षियों का संगीत गायब हो गया है

गुठलियाँ बाँझ हो गयी हैं

उसकी आवाज से[11]

यही स्थिति **अरुण कमल** कविता 'सुख' में मिलती है। यही बात स्व0 मान बहादुर सिंह की कविता 'सरपत' में है। जिसके बहाने कवि ने उस आदमी की बात कही है जो उसकी कविता के केन्द्र में है। 'सरपत' को कवि सजीव बनाता है-

मुझे काटो

मैं नये नये कल्लों में फूटूँगा

मुझे जलावो

सावन का हरा आतिश बन छूटूँगा

मैं माटी का मन हूँ मैं जन हूँ...[12]

यही स्थिति **एकांत श्रीवास्तव** (कुटुम्ब कविता) व बोधिसत्व (टूटी दियरी) तक चली आती है। एकांत की यह कविता तो बिल्कुल ताजा है जिसमें निर्जीव खण्डहर में जीवन के तलाशने की प्रक्रिया है। यहाँ क्षय-बोध भी है। कवि कहता है-

'एक स्त्री आती है भटकती हुई

पूछती हुई कि यहाँ एक घर था

जहाँ अब खण्डहर है

कहाँ चला गया वह कुटुम्ब जो यहाँ रहता था[13]

यह 'खण्डहर' **बोधिसत्व** में पहले ही आता है। कवि कहता है-

महल जिसमें कभी

दिया जलता था

अभी है अभी है

उसकी निशानी टूटी दियली

अभी है, उस दियली में

तुम्हारी अँगुलियों के निशान

ओ कुम्हार।[14]

विनोद दास तो आलू के छिलके में जीवन देखते हैं- "मुझे लगा कि कितना कुछ अच्छा बचाया जा सकता है/ इस तरह/ इस पृथ्वी पर।" इस प्रकार हम देखते हैं कि साठोत्तरी हिन्दी अपने जड़ों के प्रति ललक रखते हुए निर्जीव को भी सजीव बनाती है। यह जीवन चूँकि दबा है, छिपा है। अत: भाषा कुछ बिम्ब प्रधान भी होती है। यहाँ शब्द काँपते हैं। थरथराते हैं। दरअसल ये सारे कवि अनुनादों (resonance) के कवि रहे हैं। पहले वस्तु को हिलाते हैं। फिर उससे निकलने वाली ध्वनियों

को सुनते हैं। यह गत्यात्मकता ही इन्हें लोक सौन्दर्य प्रदान करती है। **आलोक वर्मा** के पहले कविता संग्रह 'धीरे धीरे सुनो' की एक कविता 'यह पेड़ हरा है' की इन पंक्तियों से हमारी बात और भी अधिक पुष्ट होती है- "सचमुच/ कितना हरा है पेड़/ कि अनवरत पतझड़ के बाद भी/ कभी भी खत्म नहीं होगा/ इस धरती का हरापन"।

2. साठोत्तरी हिन्दी कविता में **प्रकृति का सूक्ष्म रूप** भी लोक सौन्दर्य की उपस्थिति को दर्ज करता है। यहाँ प्रकृति पहले तो मानवीय रूप में आती है, दूसरे वह मनुष्य के क्रिया व्यापार को बढ़ाती है। वह अलग से आयातित नहीं लगती, बल्कि जीवन के सामान्य क्रियाकलापों के बीच आती है। यह व्यक्ति के जीवन की प्रति-कृति के रूप में आती है। प्रगतिशील कवियों के यहाँ जो प्रकृति रूपी नदी उदास थी (केदार नाथ अग्रवाल) वह केदार नाथ सिंह में आकर गतिशील हैं, लघुता में विराट हैं। वह अदृश्य है, लेकिन सतह के नीचे हैं। लोगों की अपेक्षाओं में है। यहाँ 'धूप' है, लेकिन प्रगतिशीलों की जाड़े की नहीं है। वह क्वार की धूप है, जो जीवन-बोध उत्पन्न करती है। 'रास्ता' कविता में (अकाल में सारस) केदारनाथ सिंह प्रकृति के इसी रूप को पकड़ते हैं। यहाँ 'क्वार' की तंबियायी धूप में/ नहाये हुए तीन जन' जब कछार में चलते जाते हैं और रास्ता अचानक समाप्त हो जाता है तब जहाँ रास्ता खुलता है वह 'पके हुए ज्वार के दूर तक फैले सिर्फ खेत ही खेत थे' जिसमें बूढ़ा किसान काम कर रहा था। यह वह प्रकृति है, जिसमे रास्ते बहुत हैं। तय हमें करना है।

इस रूप में यह वह प्रकृति है जो हमारे भावयंत्र को गतिशील करती है। इसमें सौन्दर्य उसके खुर्राटपन में है। खुद **अरुण कमल** 'सौन्दर्य' कविता में प्रकृति के इसी पक्ष को उभारते कहते हैं-

गरजता है गगन

और बिजलियों को देह में सोखने को उद्यत

गरजते हैं धरनी की ओर से

ये वृक्ष

ठहरेगा कौन इस राह पर आज

देखेगा कौन इन संघर्षरत वृक्षों का

दुर्द्धर्ष सौन्दर्य[15]।

यह 'दुर्द्धर्ष' सौन्दर्य ही वास्तविक सौन्दर्य है। यह नयी काव्य संवेदना है। यही मुक्तिबोध की 'सच-चित-वेदना' की मानसिकता है। आँधी का यही सौन्दर्य 'आँधी की एक रात' (अपनी केवल धार में संकलित) कविता में भी मिलना है। यही स्थिति **स्व0 मान बहादुर सिंह** की कविताओं में भी मिलनी है जिसमें 'वसंत हुलास' (कृति ओर मार्च 97) कविता महत्व की है। यहाँ सरसों का संघर्ष व्यक्ति का संघर्ष है। सरसों अपने संघर्ष के माध्यम से व्यक्ति को कर्मरत बनाती है।

देखते नहीं क्या

सूखने के बाद हरियाती रही है घास।

यह प्रकृतिगत सौन्दर्य *निलय उपाध्याय* तक में मिलता है जिसमें 'धान का कटोरा' व 'सरसों' का पौधा' कविताएँ महत्वपूर्ण हैं। इनमें प्रकृति की सम्पन्नता के चित्र हैं धान की पौध अच्छी है। वह कैसी लगती है।-

पृथ्वी

बहुत खुश है आज

चूल्हे पर चढ़े तसले की तरह

भारी और गर्म।[16]

एकांत श्रीवास्तव तक तो यह बारहमासा के रूप में मिलता है जो आधुनिक बारहमासा का ही रूप हैं। **विजेन्द्र व ऋतुराज** में भी यह प्रकृति आती है।

3- परिवर्तन की भावना, उसकी पहचान का संकल्प, दोनों ही साठोत्तरी कविता में आते हैं। दरअसल यहाँ कवि की निगाह एक प्रकार के तुलनात्मक संवेगों पर रहती है। कवि बराबर अपने समय को, अपने लोक जीवन को पहचानने की कोशिश करता है। नयी कविता का मुख्य स्वर यदि राजनीति रही है, तो साठोत्तरी कविता समय के अंतर्विरोध व उसकी जटिल संरचना की कविता रही है। इसी पहचान परक दृष्टि व भाव के कारण कहीं कहीं कवि लोक जीवन के निकट जाते हुए ऐसा आभास देता है कि अजनबी है। दरअसल यह अजनबीपन, उसका लोक जीवन के प्रति असम्पृक्तता का परिणाम न होकर, उसमें आये परिवर्तनों का प्रतिफलन ही है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि इसके पहले की कविता पाये हुए को अभिव्यक्त करता है। वह लोक जीवन की विविध प्रस्तुतियों की कविता है, जबकि साठोत्तरी कविता में एक प्रकार का प्राप्य भाव है, पाने की ललक है। जाहिर है, यह पाना एक बदले संदर्भ में ही संभव है। अत: लोक जीवन की रूढ़ियाँ नहीं है। उसमें एक गतिशीलता है। बेचैनी है। छटपटाहट है। स्वयं **केदार नाथ सिंह** की कविता इसका प्रमाण है। यहाँ अब प्रगतिवाद का किसान, मजदूर, धोबी आदि जातिसूचक के रूप में न होकर उसके क्रियाकलापों की अभिव्यक्ति है। बोझे, दाने व रोटी कविता में इसे देखा जा सकता है। 'बोझे' कविता में तो कवि आरम्भ से ही इन परिवर्तनों पर निगाह गड़ाये रहता है। कवि सिर्फ इतना ही कहता है-

और कोई है जो लगातार

रख रहा है निगाह

एक एक बोझे पर।

ये बोझे जो 'एक मिट्टी के घर की धरन व शहतीरों' से जुड़े हैं, लगातार उठाये जा रहे हैं और एक आदमी निगाह लगाये है। यह कुछ और नहीं, शहर की निगाहें हैं। उपभोक्तावादी मनोवृत्तियों का संकेत हैं। लेकिन इसका उल्लेख स्पष्टतया कवि ने कहीं नहीं किया है। यह है परिवर्तनों को लक्षित करना और कहना कि -

वहाँ कुछ है

कुछ एकदम नया और बेहद खूबसूरत सा है

जिसे फिर से खोला जा रहा है

फिर से बाँधा जा रहा है[17]

'दाने' कविता इसी की अगली कड़ी है, जिसमें दाने मंडी जाने से मना करते हैं। यह मंडी ही वह व्यवस्था है जिसने लोक जीवन को विरूपित किया है। जहाँ कहीं लोक जीवन के इन 'विरूपित' करने की बात आती है कवि सतर्क हो गया है। अत: लोक जीवन की सतर्कता, अपने मोर्चे पर डटे रहने का संघर्ष ही इन कवियों की विशेषता है। यह सतर्कता ही है कि केदार जी अपनी एक कविता में पके दानों के भीतर घुसकर आटा बनने तक की पूरी प्रक्रिया में शव्दों के माध्यम से अपनी उपस्थिति का अहसास कराते हैं। संवेदना के पीछे की यही दृष्टिगत सतर्कता इन कवियों को भावुकता के साथ साथ ठोस यथार्थ का साक्षात्कार कराती है। यही ठोस यथार्थ **ज्ञानेन्द्र पति** की कविता 'सड़क पर' में आता है, जहाँ अनाज मण्डी को जाती एक बैलगाड़ी द्वारा छोड़ी गई लीकों के पीछे कवि चलता हुआ कुछ सोचने लगता है। वह कुछ सोचना ही वह यथार्थ है, जिसमें कवि परिवर्तनों के बारे में सोचता है। इसी स्थिति को अपने ढंग से पकड़ते हैं **कुमार अंबुज** अपनी कविता 'इन दिनों हर रोज'-

इन दिनों हर रोज

नये सिरे से पहचानना होता है चीजों को

X X X

हर रोज पहचाननी होनी है हँसी में छिपी चालाकी

संवेदना में छिपी हिंसा

X X X

इन दिनों हर रोज ही पाना होता है

यही एक जीवन[18]।

यही परिवर्तन को एक दूसरे धरातल पर **नवल शुक्ल** पकड़ते हैं अपनी कविता 'पिता और उनके पिता' में। यह एक प्रकार की उर्ध्वाधर पकड़ है (Vertical)। इसमें कवि अपने पिता व उनके पिता की बातों के आधार पर अपने पिता होने की स्थिति की कल्पना मात्र से काँप जाता है। वह समय को अचानक छोटा करके अपनी उम्र की बढ़ोत्तरी कर चौंक जाता है और कहता है-

मैं अपने पिता

और उनके पिता के बारे में

जानने का बाद

अपने बारे में सोचता हूँ

और ठहर जाता हूँ।[19]

4- साठोत्तरी हिन्दी कविता के लोक सौन्दर्य का रूप **आत्म निरीक्षण** के रूप में भी उभरता है, जो लोक व्यापारों को लेकर ही किया गया है। स्वयं केदार नाथ सिंह की एक कविता 'मुक्ति' में इसके लक्षण मिलते हैं। कवि कहता है- "मैं लिखना चाहता हूँ पेड़/ यह जानते हुए हुये भी कि लिखना पेड़ हो जाना है"[20] वहाँ शब्द व आदमी के पारस्परिक क्रियाव्यापारों की चेष्टा की गयी है। यह आत्म-निरीक्षण ही

इस समय के बहुत सारे कवियों को अंतर्जगत का कवि बनाना है. जहाँ 'वस्तु' के भीतर की ताजगी भरी उष्मा का अंदाज मिलना है। हर 'वस्तु' अपनी जड़ों में जाती है और वहाँ से वस्तु बनने तक की पूरी प्रक्रिया का आभास देती है। इसी कारण 'शब्द' अपने पूरे संस्कार में आते हैं। इस रूप में साठोत्तरी कविता का अधिकांश भाग 'आंतरिक संवेगों' की मार्मिकता से गहरा सम्बन्ध रखता है। इन्हीं आंतरिक संवेगों की स्मृति परक अभिव्यक्ति **कुमार अंबुज** की एक महत्वपूर्ण कविता 'रात' में मिलता है। इसमें स्मृति की सर्जनात्मकता, क्षय-बोध की जगह प्राप्य बोध, ध्वनि व स्पर्श में विस्तार पाती संवेदनाएँ देखने योग्य है। आत्म निरीक्षण, यहाँ आत्मीय-निरीक्षण से होता हुआ कविता को बेहद 'सघन' बनाता है और 'रात' जैसी स्थिर वस्तु को स्पर्श के माध्यम से गतिशील बनाता है। कवि कहता है-

कुछ जगहों पर जाड़ा है और रोशनी की गर्माहट

रात में असीम जगह है जो चीजों के

एक तरफ सिकुड़ने से बनी है

चीजें जो गायब नहीं हुई हैं और साँस ले रही हैं

यह रात है जिसमें स्पर्श ही सबसे बड़ा विश्वास है।[21]

यह आत्म-निरीक्षण ही, अनुपस्थित को उपस्थित करता है। ये कवि प्रदर्शन की कविता नहीं लिखते। इनमें एक गहरा जीवन दर्शन होता है। यह गहरे लोक जीवन बोध व सांस्कृतिक बोध से उपजता है। इसीलिए ये कविताएँ किसी बूढ़ी आँख की तरह कुछ खोजती चलती है। इनमें किसी अनुपस्थिति की पीड़ा का भाव बराबर देखा जा सकता है। नयी कविता के कवि में यह तलाश नहीं रहती। उसमें एक उपस्थित का अहसास होता है और कविता उसी का विस्तार करती है किन्तु लोक सौन्दर्य युक्त कवियों में यह अनुपस्थित हमेशा ही रहती है जैसे केदारनाथ सिंह, ज्ञानेन्द्रपति, राजेश

जोशी, अरुण कमल से लेकर निलय उपाध्याय तक। यही ही प्रकारान्तर से पानी के संघर्ष को भी जागृत करता है। केदार जी की कविता 'टमाटर बेचने वाली बुढ़िया' में इसे देखा जा सकता है। इसमें टमाटर के पीछे की पूरी प्रक्रिया है जिसे बुढ़िया ही समझती है, क्योंकि टमाटर एक वस्तु नहीं रह जाता। वह बुढ़िया की इच्छा होता है। **विजेन्द्र जी** में भी यह मिलता है। 'यहाँ भी जीवन है' कविता महत्वपूर्ण है, क्योंकि ये उस जगह देखते हैं, जहाँ अन्यथा कोई नहीं देखता। सुअरों के क्रिया कलाप, कूड़े की जगह, गंदी नालियों आदि में ये इसी सौन्दर्य को देखते हैं।[22]

5. वास्तव में यह साठोत्तरी हिन्दी कविता के 'भाषाई आंतरिकता' का ही परिणाम है और यह इसकी निजी विशेषता है। इसी कारण से ग्रास रूट पर चल रहे अमानवीकरण की प्रक्रिया की पहचान संभव होती है। इस दृष्टि से अरुण कमल की कविता 'सुख'[23] महत्वपूर्ण है। एक 'घर' को आधार बनाकर कवि उसके भीतर पूरी ताकत से प्रवेश करता है। फिर एक एक दृश्य को उधेड़ता चलता है-

जहाँ तुम्हारा शयन कक्ष है वहीं

ठीक उसके नीचे याद करो

कोई वृक्ष था जामुन का

नींव पड़ने के पहले

छोटी गुठली वाले काले जामुनों का वृक्ष

वही वृक्ष तुम्हें हिला रहा है...

ऐसी ही स्थिति 'शोक'[24] कविता में मिलती है जहाँ 'नदी' के अस्तित्व की तलाश है। कुमार अंबुज अपनी कविता 'किवाड़' में इसी भाषाई आंतरिकता के सहारे समूची मानवीय स्थितियों का संधान करते हैं जिसमें 'किवाड़' के भीतर प्रवेश करते रहते हैं।

जब ये हिलते हैं

माँ हिल जाती है

X X X

ये पुराने हैं लेकिन कमजोर नहीं

इनके दोलन में एक वजनदारी है

जब ये खुलते हैं

एक पूरी दुनिया

हमारी तरफ खुलती है।[25]

राजेश जोशी अपनी कविता 'बच्चे काम पर जा रहे हैं' में (नेपथ्य में हँसी) इसी शिल्प का सहारा लेते हैं। **ज्ञानेन्द्रपति** की कविता 'बनता पुल', (शव्द लिखने के लिए ही यह कागज बना है) भी इसी का आधार लेती है। **बोधिसत्व** की कविता 'टूटी दियरी' (सिर्फ कवि नहीं) में भी ऐसा ही है। ऐसी ही स्थिति **विमल कुमार** के संग्रह 'सपने में एक औरत से बातचीत' की कविता 'सम्वन्ध' में मिलती है- 'हम जब कभी बैठते हैं, आगे वाले कमरे में/ झाँकते हैं खिड़की से दूर, जीवन के बारे में/ बातचीत के बीच अकसर होता है महसूस/ रसोईघर में कुछ जल रहा है।' इन सबमें कवि अपने अपने ढंग से डूबता है और इन सबके केन्द्र में केदार नाथ सिंह हैं। वास्तव में यह उनकी खोज है, जिस कारण से हमने उन्हें साठोत्तरी का महत्वपूर्ण कवि माना है। बाद के कवियों में जो भी 'क्षय-बोध' आता है। उन सबके प्रेरणा स्रोत ये ही हैं। 'टमाटर बेचने वाली बुढ़िया' (अकाल में सारस), जानवर (यहाँ से देखो), नमक (उत्तर कबीर) आदि ऐसी ही कविताएँ हैं जिनमें हर 'वस्तु' के पीछे एक मानवीय क्रिया कलाप हैं। संवेदनाएँ हैं। संघर्ष हैं। वस्तुओं का मानवीकरण और

इस आशय से उनका 'प्रसरण' बड़ा ही महत्वपूर्ण है। भाव प्रसरण की इस केदारीय खोज के साथ यदि ज्ञानेन्द्रपति की शब्द प्रसरण वाली सत्ता को जोड़ दिया जाय, तो कविता का चेहरा सम्पूर्णता में निखर **उठता है। नयी कविता का 'शब्द संयोजन', साठोत्तरी में यूँ 'शब्द-प्रसरण' बनता है।**

केदार जी की कविता 'माझी का पुल' ऐसी ही कविता है। 'जानवर' कविता में सहज जीवन (गाँव) में असहज जीवन (शहर) का हस्तक्षेप दिखाया गया है। यह देखना ही साठोत्तरी कवि को महत्व प्रदान करता है। तब कोई आश्चर्य नहीं कि कवि केदारजी का एक संग्रह 'यहाँ से देखो' ही है। यहाँ कविता की पूरी संरचना, उसके भावनात्मक संवेग, बुने जाने के विरुद्ध है। इसे केदार की समूची काव्य प्रक्रिया में देखा जा सकता है।

'अकाल में सारस' संग्रह की पहली ही कविता 'ओ मेरी भाषा/ मैं लौटता हूँ तुम में'। इसी तरह इस संग्रह की दूसरी कविता है- 'एक छोटा सा अनुरोध' जिसे कवि बाजार से अधिक खेतों का साक्षात्कार करता है। ऐसी और भी कविताएँ हैं जिससे पता चलता है कि कवि 'उत्तर-औपनिवेशिकता' के दबाव के कारण शहर से बेचैन है और स्मृतियों को पाना चाहता है। दरअसल यही बात, इन्हें प्रगतिशील कवियों से अलगाती भी है। हम जानते हैं कि प्रगतिवाद में जहाँ राजनैतिक सत्ता का विरोध था। नयी कविता में सांस्कृतिक सामाजिक सत्ता के प्रति विद्रोह था। जाहिर है संस्कृति पर हमला स्वतंत्र भारत में ही तेज हुए और इसी ने सबसे अधिक स्मृतियों को नष्ट किया है। उसकी जड़ों के प्रति आकर्षण पैदा करता है। इसी कारण इन कवियों का यथार्थबोध अधिक सघन है। प्रगतिवाद में लोक जीवन को पाने से अधिक उसे विस्तार देने का संकट था। उनके यहाँ एक सुनिश्चित सत्ता के प्रति संघर्ष है। अत: ये कवि भाषा की आंतरिकता से अधिक भाषा के विस्तारीकरण में विश्वास करते हैं।

यह साठोत्तरी में आंतरिक हो जाता है। **प्रगतिवाद में दर्द से अधिक तनाव है। साठोत्तरी में ही दर्द है। जाहिर है कि दर्द वहाँ अधिक होता है, जहाँ संवेदनाएँ अधिक सघन होती है। अतः प्रगतिवाद जहां तनावों की कविता है, वहाँ साठोत्तरी दर्द की कविता है।**

भाषा की ऐसी आंतरिकता का सुन्दर उदाहरण **'नमक'** (उत्तर कबीर में संकलित) कविता है, जहाँ यह स्पष्ट होता है कि 'नमक' ही सम्पूर्ण कार्य व्यापारों को जन्म देता है। सम्बन्धों में जब कड़ुवाहट होती है, तब 'नमक', जो कि विश्वास व सौहार्द्र का प्रतीक है, भी फीका लगता है। इसे भी केवल 'कुत्ता' पहचानता है, क्योंकि वह वफादार होता है। इस प्रकार 'नमक' का यह भाव सौन्दर्य, लोक सौन्दर्य की वफादारी को जन्म देता है, क्योंकि यहाँ नमक में मनुष्यता का आरोप किया गया है।

6- इस भाषाई आंतरिकता का ही परिणाम रहा है कि पिछले तीन दशक की कविताएँ बदले सौन्दर्यबोध व प्रभाव की कविताएँ रही हैं। आज जब उत्तर-औपनिवेशिक समय में सौन्दर्य उत्पाद के रूप में उत्पात मचाने लगा, तब साठोत्तरी के इन लोकधर्मी कवियों ने इस उत्पात को रोकने के लिए (और उसके समानांतर भी) 'रूप' से अधिक 'भाव' पर बल दिया और इस 'भाव' के माध्यम से 'अभावों' की ओर इशारा किया। यही कारण है कि इन लोगों ने बहुत ही स्थूल व निर्जीव चीजों तक में जीवन देखा जिसका आरम्भ यूँ तो निराला में ही हो चुका था। निश्चित रूप में इसके पीछे उत्तर-औपनिवेशिक दबाव काम कर रहे थे जिसने एक ओर तो गाँव-शहर के बीच की दूरी को कम किया, किन्तु व्यक्ति व्यक्ति की दूरी को बढ़ाया भी।

इस प्रकार साठोत्तरी की ये लोकधर्मी कविताएँ 'उत्तर औपनिवेशिक' काल की उपज हैं। इसका उभार दो रूपों में मिलता है- पहला तो इसके दबाव में कविता लोकोन्मुखी होकर सांस्कृतिक-पारम्परिक चेतना की उद्भावक बन गई और दूसरा यह कि इसके

दवाव में कविताएँ काल का प्रतिपक्ष रचने लगती हैं जिसमें तीखा समय बोध हैं। उसकी विसंगतियाँ हैं। विरूपण का शिकार होता मनुष्य है। ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ स्वतंत्र भारत में साथ साथ चलती विकसित होती रही हैं। जाहिर बात है, पहले में प्रतिक्रिया से अधिक क्रिया है। इसीलिए जीवन है। दूसरे में प्रतिक्रियायें हैं। इसीलिए जीवन की बेचैनी है। जीवन-मर्म है। तब यह सहज ही कहा जा सकता है कि जीवन-मर्मिता से अधिक जीवन धर्मिता का मूल्य है और पहले प्रकार की कविताएँ जीवनधर्मी हैं। बेचैन दोनों ही हैं किन्तु एक बेचैन वे हैं जिनकी पीड़ा उनके चैन के हरण से जुड़ती हैं। इसलिए कहीं न कहीं आत्मगत होती हैं, जबकि दूसरे बेचैन वे हैं जिनकी पीड़ा दूसरे के चैन के हरण से जुड़ती हैं। यह दूसरा प्रकार ही जीवनधर्मी होता है, जो अपनी जड़ों में जाते हैं। उसे टटोलते व उसकी परम्परा की पहचान करते हैं। इन्हीं में extension of language से अधिक extinction of language की प्रवृत्ति पाई जाती है। इनमें Urge to be होता है, न कि seem to be की भावना। जाहिर है, जहाँ होने की ललक होगी, वहाँ शक्ति होगी। इस प्रकार इन लोकधर्मी कवि की अपनी शक्ति है और यह शक्ति है- कार्य करने की क्षमता। मतलब रचने की क्षमता।

7- **मिथकीय** धरातल पर भी लोक सौन्दर्य का एक नया रूप यहाँ मिलता है। पहले क्या था कि मिथक लोक में ही समकालीन जीवन संदर्भों का रूपांतरण होता था, जैसे गुप्तजी, दिनकर, प्रसाद, निराला आदि में। बाद में ये मिथकीय लोक या तो रहे नहीं और यदि रहे भी तो इनमें समकालीन जीवन संदर्भ हस्तक्षेप करते हैं, जिससे अपनी उपस्थिति का तीखा अहसास कराते हैं। धर्मवीर भारती का 'अंधा-युग' ऐसा ही है। साही व कुँवर नारायण में है। केदारनाथ सिंह के 'बाघ' में भी है। जहाँ त्रिलोचन आते हैं। कहीं कहीं समकालीन लोक में मिथक संदर्भ भी आते

हैं जिनमें अपना तीव्र सांस्कृतिक बोद होता है। जैसे मुक्तिबोध में 'मनु' आदि का आना। बाद के उत्तर-औपनिवेशिक युग में समकालीन जीवन बोध व मिथक एक दूसरे में हस्तक्षेप करते देखे जा सकते हैं।

स्वयं **केदार नाथ सिंह** की कविता 'भिखारी ठाकुर' (उत्तर कबीर) में समकालीन जीवन संदर्भों के बीच चर्चिल का आना एक प्रकार का हस्तक्षेप ही है जो उत्तर-औपनिवेशिक काल की एक भयंकर सच्चाई को रेखांकित करता है। 'बुद्ध के बारे में सोचना' (यहाँ से देखो) में भी यही मिथक, समकालीन जीवन संदर्भों में रूपांतरित होते हैं जैसे यह कि "सर्दियों की एक रात में/ बुद्ध के बारे में सोचते हुए/ मुझे लगा, यह करुणा नहीं/ अपने कम्बल के बारे में सोचना हैं।" 'अकाल में सारस' संग्रह के "कुछ सूत्र जो एक किसान ने बेटे को दिये" कविता में कवि ध्रुवतारा के मिथक को तोड़ता है और 'कुत्ते के भौंकने' के नये मिथक का निर्माण करता है। कैसा जीवन है कि कवि को ध्रुवतारा से अधिक कुत्तों के भूकने पर भरोसा है। ऐसा इसलिए कि कवि जीवन अनुभव पर अधिक विश्वास करता है, न कि इतिहास व उसके मिथक पर। वह कहता है "कभी अँधरे में/ अगर भूल जाना रास्ता/ तो ध्रुवतारा पर नहीं/ सिर्फ दूर से आने वाली/ कुत्तों के भूँकने की आवाज पर/ भरोसा करना।" जाहिर सी बात है, ध्रुवतारा में स्थूलता है, जबकि कुत्तों के भूँकने में गतिशीलता! पहला इतिहास है, दूसरा अनुभव। *पहले इतिहास को अनुभव से कम महत्व देना, फिर अनुभव को ऐतिहासिक महत्व प्रदान करना, इन कवियों की विशेषता है।*

दरअसल पहले मिथक समकालीन जीवन संदर्भों मे इस कारण रूपांतरित होते थे कि वे 'मिथक' ही उदात्तता को धारण करते थे। जैसे गुप्तजी की यशोधरा में यशोधरा सामान्य नारी पात्र का आदर्श रूप उपस्थित करती है। प्रसाद में मनु व श्रद्धा ही सामान्य आदमी के द्वन्द्व बनते हैं। निराला में 'राम' सामान्य आदमी के संघर्ष बनते

है। तुलसीदास में रत्नावली ही 'भारती' बन जाती है। साठोत्तरी में ऐसा नहीं होता। यहाँ हस्तक्षेप की मुद्रा होती है।

अरुण कमल ने 'स्नान पर्व', कविता में इसी लोक रूढ़ि को तोड़ा है। यहाँ इसे 'जीवन आसक्ति' के रूप में देखा गया है। ऐसी ही एक कविता केदार जी के यहाँ लोक रूढ़ि के रूप में आती है। 'पर्व स्नान' कविता में (अकाल में सारस) केदारजी इसका मजाक उड़ाते हैं-

ऊपर कौये मडरा रहे थे

और नीचे-

काँपते हुए जल में

अमरता की छपाछप होड़ मची थी।

केदारजी का यह 'छपाछप', अरुण कमल में 'छपछपाकर' हो जाता है। जाहिर है पहले का शब्द ही व्यंग्यपूर्ण हैं, जबकि दूसरे का वृत्ति प्रधान। यह समय का फर्क है। एक का 'पर्व-स्नान' रूढ़िगत है, दूसरे का 'स्नान पर्व' जीवनगत। सहज। सामान्य क्रिया व्यापार। **ज्ञानेन्द्र पति** की कविता ''संक्रांति बेला' में भी इसे देखा जा सकता है।

इस प्रकार साठोत्तरी कविता की एक बड़ी सच्चाई हस्तक्षेप की भावना है। यह पहचानने की ललक व पाने का संघर्ष दोनों की ही अभिव्यक्ति प्रदान करता है। यही इन्हें पीछे की ओर झाँकने की प्रेरणा देता है और उस झाँक झूँक में अपना अगला मार्ग तलाशने का विश्वास भी पैदा करता है। *कहीं कहीं यह झाँक-झूँक की अधिकता लोक कथाओं, लोक गीतों के अनुवाद में दिखायी देती है, जो यहाँ वहाँ, जहाँ तहाँ घास फूस की तरह उग आई है।* पर अच्छा इतना ही है कि उनमें भी एक गहरा प्रेम भाव, बचाने की छटपटाहट दिखायी देती है, हालाँकि यह भी किसी लोक कथा

के किसी नायक की, अपने नायिका के प्रति व्यक्त की गई अनुरक्ति ही हो, तो इसमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए। इसी कारण से इन कवियों की कविताएँ असमय वृद्धत्व का शिकार हो गई हैं।

8- लोक कथाओं के दृष्टिकोण से भी लोक सौन्दर्य के रूपों की जाँच की जा सकती है। साठोत्तरी हिन्दी कविता में ये स्थूल कथायें मात्र न होकर अपने जीवन व समय संदर्भों से जुड़ी होती हैं। वास्तव में ये कथायें स्वयं एक दूसरी कथाओं को रचती चलती हैं। इसका यह स्वरूप **केदार नाथ सिंह** की कविता 'दंत कथा' (यहाँ से देखो) में देखा जा सकता है। यूँ तो यह किसी कथा को आश्रित बनाकर कविता बनाई गई है, लेकिन अपनी समूची कवि प्रक्रिया मे इसमें 'भाषाई आंतरिकता' का प्रचुर समावेश मिलता है। 'एक नंगी तलवार' स्वयं एक कथा के रूप में आती है और कवि कहता है-

बहुत सी कहानियाँ हैं

तलवार के बारे में

और लोगों के बारे में

और उसके बारे में जो तलवार व लोगों के बीच

न जाने कब से उलझा पड़ा है

इन दंतकथाओं को नये सिरे से पकड़ने की बेचैनी इसी संकलन के 'कस्बे की धूल' कविता मे दिखायी देती है जहाँ इसी 'धूल के उड़ने में कवि जीवन देखता है और दंतकथाओं में अभिव्यक्ति जीवन में विश्वास करता है कि शहर जो कि प्रदूषित है गाँव को विरूपित कर रहा है, किन्तु यदि वहाँ धूल है, तो कम से कम उसमें पैरों की आहट तो मिल ही जाती है-

सचाई यह है कि इस सारे माहौल में

सिर्फ यह धूल है
सिर्फ इस धूल का लगातार उड़ना
जो मेरे यकीन को अब भी बचाये हुए है
नमक में
पानी में
और पृथ्वी के भविष्य में
और दंतकथाओं में।

दंतकथाओं में में विश्वास का आधार यह 'धूल' कवि की लोक चेतना की गहरी सम्पृक्ति का सूचक है। ऐसी कविताओं में आप जनश्रुतियों का छायानुवाद नहीं पाते, बल्कि उन्हें पुनर्सृजित करने की संकल्पनाएँ मिलती हैं। सृजन की यह उद्दाम लालसा किसी अतीत के सम्मोहन में न होकर आगत के प्रति एक प्रकार की टिप्पणी है और सचेतनता भी। 'लोककथा' (नये इलाके में) शीर्षक से ही **अरुण कमल** की एक अपेक्षाकृत कमजोर कविता है, जिसमें मरे बेटे को कंधा देने के लिए बाप का गाँव के लोग साथ नहीं देते और इसके पीछे उन्हीं हत्यारों का डर होता है। यहाँ भी लोक कथा के आधुनिकतम मर्म तक पहुँचने की चेष्टा की गई है। ऐसी ही एक कविता युवतम कवि **जितेन्द्र श्रीवास्तव** की 'सोनचिरई' है, जिसमें एक नारी के बाँझ होने का वृत्तांत मिलता है। कविता, हालाँकि बुनावट में कमजोर है, लेकिन अपने अभिव्यक्ति में आधुनिक है। यह पहल-59, सितम्बर-98 के अंक में प्रकाशित है।

लेकिन कहीं कहीं धकाधक अनुवाद की प्रवृत्ति भी मिलती है जो घातक है।

9. साठोत्तरी हिन्दी कविता में लोक सौन्दर्य का एक रूप वहाँ मिलता है, जहाँ **चरित्रों का उभार दिखायी देता है।** निराला के मूल्यांकन में हमने इस बात का

उल्लेख किया है और यह दिखाने की कोशिश की है कि निराला से आरम्भ हुए चरित्रों के लौकिकीकरण की प्रक्रिया साठोत्तरी हिन्दी कविता में बढ़ती है और पूरे उभार पर होती है। यह ही सतह के नीचे अमानवीकरण की प्रक्रिया की पहचान कराता है। इसका आरम्भ केदार नाथ सिंह की बहुत सारी कविताओं से होता है। केदार जी के यहाँ नूर मिआँ हैं (सन् 47 को याद करते हुए), जगरनाथ दुसाध हैं (जगरनाथ), बूढ़ा गड़ेरिया है (गड़ेरिये का चेहरा), टमाटर बेचने वाली बुढ़िया है (टमाटर बेचने वाली बुढ़िया) बूढ़ा मल्लाह (मैंने गंगा को देखा), बंसी मल्लाह हैं (माझी का पुल)। इन सभी में एक प्रकार की खोज है। कहीं आँखों के माध्यम से, तो कहीं आवाज व गूँज के माध्यम से। यह भी संघर्ष का एक प्रकार है, जो आंतरिक है। इसमें विचार सक्रियता का सौन्दर्य देखने लायक है।

केदार जी के अधिकांश चरित्र अपने आंतरिक संघर्ष के साथ उपस्थित होते हैं। 'टमाटर बेचने वाली बुढ़िया' में तो बुढ़िया का चरित्र में माँ का चरित्र देखना अद्भुत है। लोक सौन्दर्य का यह रूप अद्भुत है जहाँ बुढ़िया कुछ न कुछ छुपाती है। उसका 'संकोच' उस समस्त जीवन को व्यक्त कर रहा है जिसके लिए उसने सँघर्ष किया है। बुढ़िया की छिपाने वाली हरकत और उसकी चुप्पी दोनों ही लोक जीवन की विडम्बनाओं की अभिव्यक्ति करते हैं। ये वे संघर्ष हैं, जिनसे जीवन अँटा पड़ा है। यही स्थिति माँझी के पुल के वंशी मल्लाह की है और यही बूढ़े गड़रिये की है। कवि कहता है-

मेरे दोस्त, कितना मुश्किल है

भरी सड़क पर एक पत्ते की तरह उड़ना

और इस शहर दिल्ली में

सुबह से शाम तक

अपनी चेतना के अंदर

एक बूढ़े उदास गड़ेरिये का चेहरा

लिये-लिये फिरना?[26]

ऐसे ही चरित्र कवि **विजेन्द्र** की कविताओं में मिलते हैं। नूर मियाँ, (धरती कामधेनु से प्यारी), लादू (दरती कामधेनु से प्यारी कविता), मागो, अल्लादी शिल्पी. बैंनी वावू (ऋतु का पहला फूल) आदि ऐसे ही चरित्र मिलते हैं। नूर मियाँ का संघर्ष तो देखने लायक है-

कच्चा लोहा पका रहा है

लौहसारी को तपा रहा है

होठ काटकर आँख मीचता

चाम धौंक कर पेट पालता।

'लादू' में संघर्ष की चेतना है। प्रकृति भी उसका साथ देती है। भेड़ों को मरने के पश्चात भी वह हार नहीं मानता। यही स्थिति **स्व0 मान वहादुर सिंह** की कविताओं में मिलती है जिनमें जीवित चरित्र हैं या फिर चरित्रगत जीवन है। यहाँ गोसाईं प्रधान हैं, मास्टर जी हैं, बकरी चराता मजनुआ है। करमू है। मटरू है। यह बदलता हुआ गाँव का चरित्र हैं। यहाँ मँहगीना प्रेम की व्याख्या करती है-

प्रेम इस दुनिया के खिलाफ है

वह इसका बना बनाया सड़ियल रसम तोड़

आदमी को लेकर बाहर चला जाता है

प्रेम आजादी का नाम है...

इस प्रकार की कविताओं पर **डा0 विजय बहादुर सिंह** की टिप्पणी महत्वपूर्ण

है- 'इस कवि ने समकालीन काव्य परिदृश्य पर जो रेखा खींची है, वह बहुत अनगढ़ व मोटी होकर भी अपनी सजीवता में इतनी मुखर है कि शब्द व अर्थ के उलझनपूर्ण तनावों और नगर मानसी किताबी अर्थच्छायाओं की आकृतिहीनता स्वयंमेय सिद्ध हो जाती है.... मानबहादुर सिंह की कविताएँ अपने ठेठ अंदाज व अनगढ़ स्वभाव में हिन्दी कविता के महानगरीय आभिजात के इन्हीं घरानों के लिए चुनौती हैं। इन कविताओं में एक जानी पहचानी आँचलिक जीवंतता व सृजनात्मक टटकापन है। ये कविताएँ केवल आस्वाद में ही बदलाव पैदा नहीं करेंगी, काव्य व कला के गीत हमारी निगाह में भी फेर बदल करेंगी[27]।

काव्य के प्रति हमारी निगाह को बदलने वाली **ज्ञानेन्द्रपति** कविताएँ इस दृष्टि से बेहद महत्वपूर्ण हैं। केदार मल्लाह, चेतना पारीक, बनानी बनर्जी, राम खेलावन, सगीर मियाँ से लेकर खुँटकढ़वा तक ऐसे ही चरित्र हैं जो कवि की लोक चरित्रों के प्रति रुझान पैदा करता है। *वास्तव में दुर्लभ चरित्रों की पकड़ से काव्य वृत्त में बढ़ोत्तरी होती है जिसका परमाण है- 'खूँटकढ़वा' का चरित्र।* उसके कर्म वृत्ति को कविता में पूरे आत्म-विश्वास से पकड़कर कवि ज्ञानेन्द्र ने चरित्रों पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है और प्रकारांतर से बहरे सहृदयों (!) के लिए कान साफ करवाने का भी संकेत किया है-

यह खोटकढ़नी क्या बतायें कहाँ तक जाती है
और यह पपड़ी पकड़नी बहुत नाजुक है, नाजुक
जबर जिद्दी मैल को भी मलाई सा उतार लाती है
जिला जवार में पुरखों ने
जिनके भी कान कुरेदे
वे अखीर तक झुरकुट बुढ़ापे तक

चूहों की खटपट से जगते रहे

चोर उनके घर क्या घुसते![28]

बाद में **कवि हरीश चन्द्र पाण्डे** ने 'हिजड़े' जैसे महत्त्वपूर्ण, किन्तु दुर्लभ चरित्रों पर कविता लिखकर इसी 'कवि वृत्त' का विस्तार किया है। उनके बारे में कवि कहता है कि वे बार बार संघर्ष करके जागृत होने की कोशिश करते हैं, बावजूद उसके कि व्यवस्था से उनका सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पा रहा है-

सारी नदियों का रुख मोड़ दिया जाय इनकी ओर

तो भी ये फसल न हो सकेंगे

ऋतु वसंत का ताज पहना दिया जाय इन्हें

तो भी एक अंकुआ नहीं फूटेगा इनमें

इनके लिए तो होनी थी ये दुनिया

एक महा सिफर

लेकिन

लेकिन ये है कि

अपने व्यक्तित्व के सारे बेसुरेपन के साथ गा रहे हैं

जीवन में अंकुवाने के गीत।[29]

ऐसे ही चरित्र **मदन कश्यप, बोधिसत्व** व **नवल शुक्ल** में भी आते हैं। मदन कश्यप में हलवाहाभाई व बाँके मियाँ हैं, तो बोधिसत्व में सुख्खू मुसहर है। **नवल** में मजदूर हैं। मदन कश्यप के चरित्र हलवाहे भाई में जहाँ अमानवीकरण की पकड़ है जिसमें 'एक मुठ्ठी भात की तड़प है'। बाँके मियाँ में साम्प्रदायिकता के उन्माद में जीवन की टूटन है। कवि कहता है-

मगर कहीं कुछ गड़बड़ है

कि घी के दीये की रोशनी व अगरबत्तियों की खुशबू

अब रोक नहीं पा रही है

इस बदबू व अँधेरे को।[30]

बोधिसत्व की कविता 'सुख्बू मुसहर' में एक मजदूर का अपने हक के लिए प्रतिवाद है और काम छोड़ने का संकल्प है। यह इसका संकेत है कि अब बहुत अत्याचार सहन नहीं होगा। **निलय उपाध्याय** में 'कइली' एक चरित्र है जिसमें एक काइयाँपन है। नियति का साक्षात्कार है। एक व्यक्ति के द्वारा थोड़ा अन्न चुराये जाने पर बड़ी मार्मिक अभिव्यक्ति है। कवि उस पर गुस्सा नहीं करता, बल्कि कहता है-

फिर भी आना काम पर

इतना सा अन्न तो धरती भी चुरा लेती है

मैं भी ऐसे ही लौटता हूँ दफ्तर से

रोज रोज... [31]

ऐसे ही कविता-फलक का विस्तार होता है। यही कविताएँ अपने 'वस्तु' के प्रति accessible होती है। 'हरिकिसुना' एक दूसरा चरित्र है जो कविता के अंत में सहानुभूति व करुणा का पात्र होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि साठोत्तरी हिन्दी कविता में जैसे जैसे चरित्रों की पकड़ बढ़ती गई है, वैसे वैसी कविता का वृत्त बढ़ता गया है। यह ही लोक चरित्रों का विकेन्द्रीकरण है।

10. इस प्रकार हम देखते हिन्दी कविता में जब कभी 'कविता में लोक

जीवन के शास्त्र की बात उठेगी, जो कि उठेगी ही, तो यही कवि व कविताएँ इसका प्रतिनिधित्व करेंगी क्योंकि यहाँ ही लोक स्मृतियों व लोक स्थितियों की सम्पृक्ति का भाव मिलता है। मिथक व यथार्थ का यह लोक जीवन बोध हिन्दी कविता को एक प्रकार की वस्तुनिष्ठता प्रदान करता है और इसका कारण यही है कि इनके यहाँ एक तटस्थ दृष्टि मिलती है। वह दूरीगत तटस्थता जो किसी अच्छी रचना के लिए अनिवार्य होती है। इन कवियों में 'स्मृतियों के पुनरीक्षण व अपने वर्तमान परिस्थिति के सतत अन्वीक्षण' की लालसा ही इन्हें असमय वृद्धत्व से रोकती है। (हालाँकि इसके कुछ अपवाद अवश्य है) इनमें प्रगतिवाद की न तो आतुरता दिखायी देती है और न ही नयी कविता की अनातुरता। ये किसी प्रकार के अनवधिक्यता के शिकार भी नहीं है। अपने कविताओं के माध्यम से ये स्वयं ही समय रचते हैं और समय के माध्यम से कविताएँ। समय रचना इन कवियों को अधिक महत्वपूर्ण बनाती है क्योंकि इन्हें पता होता है कि लोक जीवन की पम्परानुगत प्रवृत्ति के साथ साथ अपने समय के बदलते यथार्थ से सम्पृक्ति भी जरूरी है। इसीलिए इनके यहाँ "लोक की आनुष्ठानिक विशेषताएँ" लगभग नहीं है या है भी तो परिवर्तन को रेखांकित करने भर की। **ये कवि जीवन को आँगन की तरह चीन्हते हैं, तुलसी की तरह धारण करते हैं, नीम की तरह स्पर्श करते हैं, गाँव के बगल से बहते नाले को महसूस करते हैं, गाँव की तरफ आ रही गाड़ी को घूरते हैं, अंधड़ में गिरते आम को लोकते हैं और बोरसी की आग को तापते हैं, जो या तो जाड़े में ठिठुरते आदमी को ताप पहुँचाती है या फिर दूसरे घरों में चूल्हा जलाने के काम आती है।** 'धूल' तक में इन्हें जीवन दिखायी देता है और यह अकारण नहीं है कि तीसरा सप्तक में केदारजी, साही व सर्वेश्वर की कविताओं में आँगन की चिंतायें उभर कर आती हैं। 'नीम भी खूब आई है।"

संक्षेप में साठोत्तरी हिन्दी कविता में लोक-सौन्दर्य के ये ही रूप हैं। शेष जो इधर उधर मिलते हैं, उसे अब हम कवियों के विश्लेषण के क्रम में स्पष्ट करने की कोशिश करेंगे। आरम्भ में ही हम यह बतलाना प्रासंगिक समझते हैं कि यहाँ पर हमने केवल उन कवियों को लिया है जो लोक सम्पृक्तता के आधार पर आरम्भ कर लगातार उससे जुड़े रहने की कोशिश कर रहे हैं। ऐसे भी बहुत से कवि रहे हैं, जो आरंभ में 'लोक' से शुरु करते हैं, लेकिन बाद में इस भावभूमि को छोड़ देते हैं। उन्हें हमने यहाँ नहीं लिया है, क्योंकि उनमें एक प्रकार का अवसरवाद दिखायी देता है जो यहाँ वहाँ मुँह मारने जैसा बन पड़ा है। इसके अलावा भी हमने अपने विषयगत सीमा के कारण उनको नहीं लिया है, जो अन्यथा बेहद महत्वपूर्ण है। शायद हमारा विषय ही उनकी कविताओं के विश्लेषण के लिए छोटा है। इनमें विष्णु खरे, विनोद कुमार शुक्ल से लेकर देवी प्रसाद मिश्र, संजय चतुर्वेदी व कुमार अंबुज तक की कविताएँ हैं।

अब जहाँ तक 'लोक' से आरम्भ करने की बात है, तो यह बड़ा ही आसान काम है, जैसे 'कविता' से साहित्य सृजन को आरम्भ करना। किन्तु लोक अभिव्यक्ति को बचाये व बनाये रह ले जाना बूते की बात है और ऐसा जिसने किया है, उसको हमने मन लगाकर पढ़ने की कोशिश की है और तदनुसार जगह भी दी है। **तब ठीक ही है कि यदि कविता, कवियों के लिए चुनौती है, तो लोक, कविता के लिए।** हमने इसी चुनौती को स्वीकार करते अपना विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

ख : कुछ प्रतिनिधि कवि

केदार नाथ सिंह

केदारनाथ सिंह का जन्म 1934 में होता है। तीसरा सप्तक (1959) की कविताओं से उनकी पहचान बनती है और पहला कविता संकलन- 'अभी बिल्कुल अभी' 1960 में प्रकाशित हुआ। उसके बाद 'जमीन पक रही है' (1980), 'यहाँ से देखो' (1983), अकाल में सारस (1988), 'उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ' (1995) प्रकाशित हुए हैं। 'बाघ' (96) उनकी लम्बी कविता है।

केदार नाथ सिंह की कविता **एक 'बोरसी' की आग की तरह धीरे धीरे बढ़ती है और फिर धधकती है। यह उसके आसपास की एक बतकही की तरह मालूम पड़ती है, जो ऊपर से बिना प्रयास के, साधारण मालूम पड़ती है किन्तु जिसके नीचे सच्चा जीवन धधक रहा होता है।** जिसे उसकी सम्भावनाओं की तलाश करनी हो, वह उसे खोदे। फिर वह उससे उठती अग्नि शिखा को देखेगा। उसकी दाहकता को तभी समझ पायेगा। यह वह बोरसी की आग है, जो ताप भी देती है और चूल्हे भी जलाने के काम आती है। यह वह आग है जिसके आसपास लोक जीवन रचा बसा है, जिसमें अनंत कथायें, सैकड़ों स्मृतियों मिलती हैं। स्वयं अपनी एक कविता में वे इसका संकेत देते हैं। कविता है- 'शीतलहरी में एक बूढ़े आदमी की प्रार्थना'।(1982) इसमें कवि ठंढ़क के मौसम में कोयले और बोरसी की इच्छा करता है और कोयले के लिए 'हमदर्द कोयला' का प्रयोग करता है। कोयला सदियों से लोक जीवन की बोरसी को जलाने के काम आता रहा है किन्तु कवि है कि उसकी हमदर्दी को पकड़ता है। कविता आरम्भ में ही दहकते कोयले और हमदर्द

कोयले से पाठक का ध्यान आकृष्ट करती है। 'दहकना और हमदर्द' का प्रयोग एक साथ। यह है कि लोक रूढ़ियों का अतिक्रमण!

ईश्वर

इस भयानक ठंड में

जहाँ पेड़ के पत्ते तक ठिठुर रहे हैं

मुझे कहाँ मिलेगा वह कोयला

जिस पर इन्सानियत का खून गरमाया जाता है

एक जिन्दा

लाल

दहकता कोयला

मेरी अँगीठी के लिए बेहद जरूरी

और *हमदर्द* कोयला।[32]

कविता आगे बढ़ती है और कोयला अपना स्वरूप पहचानता है। उसके बारे में कहते हुए कवि उसकी सार्थकता को पाना चाहता है और इस पर चढ़ाये गये सभ्यता के आवरण को परत दर परत उघाड़ता है जो उसकी बढ़ी काव्य संवेदना, वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान से बढ़ी हुई तदाकार परिणति, कुल मिलाकर हृदय की मुक्तावस्था का द्योतक है। उसके बारे में कवि कहता है कि शहर में भी वह हालाँकि बहुत जरूरी है, लेकिन छिपाकर रखा जाता है। 'इस ठंड से अकड़े हुए शहर में/ जहाँ वह हमेशा छिपाकर रखा जाता है/ घर के पिछवाड़े/ या गुसलखाने की बगल में/ हथेलियों की रगड़ में दबा रहता है/ जो इरादों में होता है/ जो यकायक सुलग उठता है याददाश्त की हदों पर/ पस्ती के दिनों में....,'। यहाँ ध्यान देने की बात है कि कोयला, एक स्थूल पदार्थ

या वस्तु न रहकर कविता में गतिशील होकर मानवीय क्रिया व्यापारों का सृजन करता है। एक एक पंक्तियाँ गतिशील हो उठती हैं जिसमें प्रकारांतर से उपेक्षित के अपेक्षित का भाव भी अंतर्निहित है। कविता का अंत होता है आह्वान में, जिसमें संघर्ष का प्रबल पक्ष उभरता है। मोहक ठंडापन से मुक्ति का प्रयास दिखायी देता है लेकिन इसके लिए चमत्कृत करने का उपक्रम बिल्कुल नहीं। आश्चर्य है कि केदारजी कहीं भी 'वस्तु' को विषय' पर आरोपित नहीं करते। वह धीरे धीरे खुद ही उभरती हैं-

मेरे ईश्वर

क्या मेरे लिए इतना भी नहीं कर सकते

कि इस ठंड से अकड़े हुए शहर को बदल दो

एक जलती हुई बोरसी में (वही)

मजे की बात है कि यह सब 'एक बूढ़े आदमी' के चरित्र के माध्यम से घटित होता है, जो शायद इसका भी संकेत है कि युवा मानस में संघर्ष भरा विक्षोभ नहीं है। यह पीढ़ियों का अंतराल है और उससे मुक्ति का प्रयास भी। यह कविता किसी भी ठंडेपन के विरुद्ध है, यह किसी भी कोण से देखा जा सकता है।

इस तरह से बतकही का अंदाज, केदार का अपना अंदाज है, जिसके माध्यम से गम्भीर बात को भी सहजता से वे कहते हैं। 'धूमिल' की तरह उन्हें अतिरिक्त सजग प्रयाग नहीं कहना पड़ता। केदारजी ने ऐसा जड़ों के प्रति अपनी गहरी ललक के कारण ही किया है। शायद यही कारण है कि उनकी प्राय: कविताओं में "अब क्या करूँ", शब्द आता है, जैसे कोई कथावाचक, कथा कहते कहते अचानक 'अब आगे क्या' कहकर कहानी में कौतूहल उत्पन्न कर डालता है। यह कौतूहल ही वस्तुत: किसी रचना को विस्तार देता हुआ, उसकी जड़ों के प्रति एक गहरी ललक बनाये रखता है। वाक्य के माध्यम से समूची कथा, समूचा परिप्रेक्ष्य एक बिन्दु पर आकर सिमट जाता

है जिससे कविता समेट समेट कर आगे बढ़ती है। कवि एक एक संदर्भ की जीवंतता को बनाये और बचाये रखना चाहता है। वस्तु के प्रति यह निरन्तरता, वास्तव में कवि की 'निजता' का परिणाम ही है, जिसे केदार जी की कविताओं में देखा जा सकता है। यह एक प्रकार की *'केंचुआ शैली'* है। (इसे गलत अर्थ में न समझकर, मिट्टी की उर्वरता को बढ़ाने के संदर्भ में ही समझा जाना चाहिए। केंचुआ, पिछले भाग को समेटकर ही आगे बढ़ता है!)

बतकही के अंदाज और उसके माध्यम से जड़ों तक पहुँचने की प्रक्रिया केदारजी में आरम्भ से ही मिलती है। स्वयं 'अभी, बिल्कुल अभी' की पहली ही कविता 'प्रक्रिया' इसका प्रमाण है जिसके माध्यम से कवि अपने कवि की सार्थकता का महसूस करता है। कुछ ऐसी ही बात वह 'अनागत' (इसी संकलन में) और 'कमरे का दानव' (इसी संकलन) कविता में भी करता है, क्योंकि यहाँ पर कवि अपने पहचानने में अपनी जड़ों को ही पहचानता है और ये लोक संदर्भों में ही रची बसी है तभी तो वह अप्रस्तुत के रूप में फूलों को, त्यौहारों को, साँझ के मौसम को, प्रस्तुत करता है। 'प्रक्रिया' कविता में तो वह कहता ही है- "जड़े रोशनी में है/ रोशनी गंध में/ गंध विचारों में/ विचार स्मृतियों में/ स्मृतियाँ रंगों में..."।

इन्हीं जड़ों के प्रति आशक्ति कवि को 'बुने जाने के विरुद्ध' ले जाती है जिसमें कवि हर बनावट को नकारता है। सभ्यता के आवरण को हटाकर वस्तु के प्रकृत रूप को प्रस्तुत करता है, जिसका मूलाधार 'कर्म सौन्दर्य' पर ही टिका है। इसी के कारण प्रकृति के गतिशील चित्र इनकी कविता में मिलते है और यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं है कि इस प्रवृत्ति के संकेत इनके हर संकलन के अंत में मिलता है। यह संयोग से कुछ अधिक ही है, लेकिन 'अभी, बिल्कुल अभी' से लेकर 'उत्तर कबीर' तक की रचनाओं में इसे देखा जा सकता है। 'अभी, बिल्कुल अभी' की अंतिम कविता

'एक छोटा सा मौन' में इस बुने जाने के विरुद्ध एक पतंग है। कविता तमाम बुने जाने की बातों को कहते कहती है- "सिर्फ एक बच्चे की इकली पतंग बुन दिये जाने के विरुद्ध उड़ रही है" (पृ0 88) 'जमीन पक रही है' संकलन की अंतिम कविता 'सादा पन्ना' सारे शब्दों के बुने जाने के बावजूद सादा पन्ना ही बचाती हैं। हम देख सकते हैं कि पहले में जहाँ पतंग हैं, दूसरे में सादा पन्ना! दोनों ही उड़ने व फड़फड़ाने को उद्यत हैं। 'यहाँ से देखो' संकलन की अंतिम कविता 'घोषणा' कहती है कि 'जहाँ बहुत कुछ नष्ट (बुना हुआ) हो चुका है, वहाँ अभी भी बहुत कुछ बाकी है।' यह भी उसी पतंग का विस्तार है। 'अकाल में सारस' कविता संकलन का अंत भी अंतिम कविता 'प्रिय पाठक' के इसी विरुद्धता के साथ होता है, जिसमें कवि 'कागज का एक टुकड़ा' छोड़े जाते हैं। यह टुकड़ा चिड़िया के पर जैसा होता है, जिसमें उड़ान व उठान दोनों की बेचैनी समाहित है। 'उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ' की अंतिम कविता 'उत्तर कबीर' स्वयं में अपनी सांस्कृतिक चेतना को पकड़ने की इच्छा से लिखी कविता है। यहाँ भी कवि 'कबीर' के नाम को 'कताई मिल' में बुने जाने के विरुद्ध ही सोचता है। यहाँ तक कवि का स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह वाला भाव सांस्कृतिक चेतना से जुड़ता है। यहाँ कवि 'सारी बुनावट के बाद और उसके बावजूद भी, उस सूत को प्राप्त करना चाहता है, जो कहीं से भी खींचो, कहीं से भी तानों, कम पड़ जाती है।' इस सूत के तोड़े जाने के विरुद्ध कवि आवाज देना है।

कवि केदार जी के पास यह भाव वास्तव में शहर में हो रहे विस्थापन की आशंका से आता है, जो, जैसा कि था, पहले प्रतिरक्षा के भाव की ही उपज था। यहाँ कवि पर 'शहर' का दबाव, बल्कि शिष्ट का दबाव, इतना ज्यादा है कि बार बार वह गाँव की ओर जाता है। पहले यह एक लाचारी रहा है, बाद में यह आत्म विश्वास व आत्म-प्रसरण का कारण भी बना। इस रूप में कवि स्मृतियों को भी बचा रहा होता है,

जिसके माध्यम से समूची, परम्परा व संस्कृति की भी रक्षा का उपाय सोचता है। 'अकाल में सारस' और 'उत्तर कबीर और अन्य कविताओं', संकलनों में यह दबाव अधिक दीखता है। 'चिठ्ठी', (अकाल में सारस), गाँव आने पर (उत्तर कबीर) कविताओं में इसे देखा जा सकता है। वह कहता है-

छू लूँ किसी को?

लिपट जाऊँ किसी से?

मिलूँ

पर किस तरह मिलूँ

कि बस मैं ही मिलूँ

और दिल्ली न आये बीच में।[33] (गाँव आने पर, उत्तर कबीर में संकलित)

इन सबके पीछे केदारजी की एक बड़ीं विशेषता है 'अनुभूति का प्रसरण' (articulation of sensibility)। यह 'अनुभूति-प्रसरण' मुझे केदारजी की कविता को बार बार पढ़ने के लिए उद्यत करता है और यह 'अनुभूति' प्रसरण, ज्ञानेन्द्रपति में विलक्षण 'शब्द-प्रसरण' के रूप में मिलता है। केदार जी के यहाँ अनुभूतियों का बड़ा सघन फैलाव है जो उस समय दीखता है जब वे इसे articulate कर रहे होते हैं। यूँ यह articulation कविता में एक प्रकार के सपाटबयानी का खतरा भी उत्पन्न करता है, किन्तु केदार जी में यह वस्तु के कई स्तरों पर एक साथ घटित होता है व जिसमें 'वाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्त:प्रकृति का सामंजस्य' 'बड़ा दुर्लभ ढंग से मिलता है। इस सामंजस्य से ही सौन्दर्य का उद्घाटन होता जाता है, जो कवि की 'वस्तुगत निजता' का ही परिणाम है। यह लक्षण उन कविताओं में विशेष तौर पर मिलता है जिसमें कवि 'कहीं बहुत दूर से सुन रहा होता है। वहाँ पर 'वस्तु' की अपनी गर्मी से शब्द पिघलते हैं, जिससे पुराने विषय में भी नये भावों का संचार होता जाता है। ये ही वे कविताएँ हैं जिनमें

'बोझिल प्राप्ति' की अनुगूँजे हैं, जिनमें सन्नाटा है और जिसमें लगातार 'टूटने व छूटने' की पीड़ा है। इनमें शब्दों की आहट में शब्द काँपते हैं, थरथराते हैं और दूर की यात्रा करते हैं। यह उस जीवन की तलाश है, जो प्रत्यक्ष के नीचे दबा है। इसीलिए ये कविताएँ जितना भीतर जाती है, इतना ही बाहर है। कवि यात्रा तो भीतर की ही करता है, लेकिन उसमें बाहर की दुनिया समानांतर रूप में विकास पाती है। उनमें डा0 परमानंद श्रीवास्तव के शब्दों में इसे हम 'क्षय-बोध' भी कह सकते हैं। यूँ क्षय बोध से अधिक यह 'बोझिल प्राप्ति' से ही जुड़ा है। यह एक प्रकार Within the surface फोटोग्राफी है। 'नदी' कविता में कविता उस नदी के स्रोतों तक जाता है जो किसी भी सभ्यता (घर) के नीचे दबी है। नदी का चित्रण करते करते कहता है-

नदी जो इस समय नहीं इस घर में

पर होगी जरूर कहीं न कहीं

किसी चटाई

या फूलदान के नीचे

चुपचाप बहती हुई।

फिर वह इसका मानवीकरण करता हुआ कहता है-

कभी सुनना

जब सारा शहर सो जाय

तो किवाड़ों पर कान लगा

धीरे धीरे सुनना

कभी आस पास

एक मादा घड़ियाल की कराह की तरह

सुनाई देगी नहीं।[34]

(1983 : नदी : 'अकाल में सारस' में संकलित)

आप देख सकते हैं कि केदार जी किस तरह से 'सन्नाटे के स्वर' को पकड़ते हैं। यह एक प्रकार से कोलाहल से निजात पाने की कोशिश भी है और जड़ों के प्रति गहरी संसक्ति। 'नदी और बूढ़े' केदार जी में खूब आते हैं। दोनों निश्छल हैं। सहज हैं। लोक जीवन में रचे बसे हैं। सामाजीकरण की प्रक्रिया से गहरे सम्पृक्त है। 'माँझी का पुल', इस दृष्टि से सुन्दर कविता है जिसमें कवि ने पुल की 'प्रक्रिया' में अलक्षित जनों को बड़ी बारीकी से पकड़ा है। जो प्रत्यक्ष है, वह वास्तव नहीं है। जो वास्तव है, वह प्रत्यक्ष नहीं है। यह है कवि की मान्यता और इसीलिए वह मैल की परतों को बार बार धोता है। यह उसके और साठोत्तरी के बढ़े काव्य बोध का सूचक है। कवि कहता है-

ऐसा क्यों होता है कि रात की आखिरी गाड़ी

जब माँझी के पुल की पटरियों पर चढ़ती है

तो अपनी गहरी नींद में भी

मेरी बस्ती का हर आदमी हिलने लगता है?[35]

आदमी क्यों हिलता है, इसका भी संकेत कविता अपने अंत में करती है-

'मैं खुद से पूछता हूँ/ कौन बड़ा है/ वह जो नदी पर खड़ा है माँझी का पुल/ या वह जो टँगा है लोगों के अंदर'।

इस प्रकार केदार जी की कविता से गुजरना एक बीहड़ पुल के नीचे से गुजरना है जिसके ऊपर शोर है। भीतर सन्नाटा है। कवि बार बार इस सन्नाटे को तोड़ता है जिसके लिए वह 'शब्दों' को वैसे ही हिलाता है जैसे दूर आती ट्रेनें पटरियों को

हिलाती हैं। बस जरा कान लगाकर सुनने की देर है! जाने के बाद भी यह ध्वनि सुनाई देगी। यह केदार जी की अपनी शिल्पगत विशेषता है कि पहली ही पंक्ति में जो कहते हैं, उसमें उसकी एक लम्बी पृष्ठभूमि व संदर्भ होता है और अंतिम पंक्ति में भी वह होता है, जो पाठक का बढ़ा सौन्दर्यबोध ही ग्रहण करता है। इनकी कविता, कविता के आरम्भ होने के पहले और अंत होने का बाद में ही होती है उस जगह को पकड़ना ही सहृदय का ध्येय होना चाहिए। पुल के हिलने मात्र से बस्ती के आदमी का हिलना, वस्तुत: उस 'स्थिति' को झकझोरना ही है, जो स्थूल है और उसके गतिशील संदर्भ को प्रस्तुत करना है। इसे ही वह 'आवाज' कविता में सुनता है, जिसमें चक्की की आवाज में उस वातावरण को पकड़ता है जिसमें माँ की आवाज छिपी होती है। यह जड़ों में जाना है। अनुभूति को फैलाना है। कवि कहता है-

'मुझे लगा कि मुझे एक दाने के अन्दर/ घुस जाना चाहिए/ पिसने से पहले मुझे पहुँच जाना चाहिए/ आटे के शुरू में/ चक्की की आवाज के पत्थर के नीचे/ मुझे होना चाहिए इस समय/ जहाँ से/ गाने की आवाज आ रही थी/ यह माँ की आवाज है- मैंने कहा/ चक्की के अन्दर माँ थी।'

(1976 : 'जमीन पक रही है' में संकलित)

'चक्की की आवाज' के कोलाहल में माँ की मधुर आवाज को सुनना ही इस कवि की विशेषता है। 'रोटी' (जमीन पक रही है), 'टमाटर बेचने वाली बुढ़िया' (1977- 'जमीन पक रही है' में संकलित) कविताएँ भी इसी आधार की कविताएँ हैं।

यह सब ही है 'अनुभूति-प्रसरण'। 'अपने ही वजूद के ताप से पिघलते हिम मानव का चित्र'! यह उनकी कविता संकलन 'उत्तर-कबीर' तक में देखा जा सकता है। यही है भाषा की आंतरिकता और आंतरिकता की भाषा! जिसे हमने 'आवाज' कविता में देखा। इसे 'नमक' (उत्तर-कबीर) कविता में भी देखा जा सकता है। यही है चक्रिय

छेद! यह spiral hole ही poetic whole है जिसे कवि ने साधा है। नमक के माध्यमसे कवि ने रिश्तों की कड़वाहट तक को पकड़ा है जो एक 'समाजशास्त्रीय' अध्ययन की अपेक्षा रखती है। 'नमक' एक विषय है। उससे अनेक 'वस्तु' का उद्‌घाटन होता है और अंत होता है-

'न सही दाल/ कुछ न कुछ फीका जरूर है/ सब सोच रहे थे/ लेकिन वह क्या है?/ नमक को लगा/ उस समूचे घर में एक कुत्ते के अलावा/ इसे कोई नहीं जानता (नमक : उत्तर कबीर में संकलित)

भाषा की यह आंतरिकता, उनके कविता में, नमक की तरह ही घुली होती है। 'नमक' के माध्यम से कवि इसे लक्षित भी करना चाहता है जिसे 'गूँज', 'कुएँ', 'खोपड़ी', (सभी 'उत्तर कबीर' में संकलित) में देखा जा सकता है। 'गूँज' कविता तो विलक्षण है,, जिसे उसी समय में लिखी, अपेक्षाकृत एक युवा कवि, अरुण कमल की 'सुख' (नये इलाके में) कविता में देखा जा सकता है। यह 'गूँज' बोझिल-प्राप्ति की अनुगूँज ही है। यही 'क्षय-बोध' भी है। यही आंतरिकता है। यही, पता नहीं क्या क्या है। इसमें 'गूँज' कविता में कवि 'घर' के बाहरी भरेपन में लगातार एक 'खालीपन' गूँज सुनता है और यह खालीपन, शोषित मनुष्य की ध्वनि के कारण ही है। कवि कहता है-

'इस घर में/ एक गूँज है/ एक बरसों पुरानी/ थकी हुई गूँज/ जिसे छिपाने से कोई फायदा नहीं/ उसके बारे में सारे वृद्धजन/ और मेरी भाषा के सारे पंचांग/ चुपचाप सहमत हैं/ कि वह मेरे समय की बर्फ पर/ किसी हिम मानव के पैरों के/ चलने की आवाज हैं/'

आगे इसी पैरों की आवाज को पहचानता कवि कहता है-

'अभी पिछली ही शाम/ मैंने अपनी गली के एक गीत में/ उस आवाज की हल्की सी/ धमक सुनी/ और मेरी शिराएँ अबतक/ झनझना रही हैं'

ध्यान दीजिए, 'गीत' शब्द में उसी लोक जीवन में रचे बसे 'लोगों' का चित्र है। उसकी हल्की धमक और झनझनाहट! कितनी सुन्दर पंक्तियाँ बन पड़ी हैं। इस अंत में कवि निष्कर्ष देता है। जिसमें इसका भी संकेत है कि 'अस्मिता का होना' कितना जरूरी है और जहाँ 'अस्मिता ' नहीं है, वहाँ पहचान नहीं है। यह मुक्तिबोध के 'अस्मिता की तलाश' की ही अगली कड़ी है।

मेरे समय का नायक

कोई योद्धा

एक अदृश्य और असाध्य हिम मानव है

जो अपने ही वजूद के न होने के ताप से

आहिस्ता आहिस्ता गल रहा है।[36]

लेकिन यह भी सच है कि जितना ही यह मनुष्य गल रहा है उतना ही दूसरे का 'कुआँ' या 'तालाब' भर रहा है। आशय यह भी कि दूसरों का 'भरना', इस हिम मानव के 'गलने' से जुड़ा है फिर भी कितनी विडम्बना है कि सम्पन्न वर्ग, इसे नहीं पहचानता। यह अमानवीकरण की प्रक्रिया का उद्‌घाटन भी है जो सतह के नीचे बराबर चल रही है। 'कुएँ' कविता में भी यही स्वर है, जिसको पाटता जाता देखकर कवि उदास है। ये कुएँ, लोक जीवन के स्रोत हैं। वे ही नष्ट हो रहे हैं। यह जबरी प्रक्रिया को कितने सुन्दर ढंग से कवि ने उभारा है।

"बिगाड़ा कुछ नहीं/ बस घास का फैसला/ कि अब कुएँ, नहीं रहेंगे/" यह उत्तर देने वाला भी लगभग अदृश्य है। लेकिन इस 'अदृश्य' को 'दृश्य' करना ही तो कविता

है। 'खोपड़ी' कविता भी इसी की अगली कड़ी है। जो उपेक्षित है, उसकी पहचान जरूरी है। कवि 'खोपड़ी' के बारे में कहता है "और यदि वह है/ तो उसमें कहीं न कहीं/ थोड़ा सा मानुष अब भी बचा होगा"। इसी "थोड़ा सा मानुष" की तलाश में कवि हमेशा कहीं बहुत दूर से सुनता रहता है और यह उसके प्रथम कविता संकलन की एक कविता 'रचना की आधी रात' (1960) में ही मिलता है। कविता उस आवाज को पकड़ती है जो-

दूर बहुत दूर

कहीं आहत सन्नाटे में

रह रहकर

ईंटों पर

ईंटों के रखने की

फलों के पकने की

खबरों के छपने की...... (रचना की आधी रात : 'अभी, बिल्कुल अभी' में संकलित)

यहाँ "शब्द संयोजन" (आहत-सन्नाटे में) से "शब्द प्रसरण" का भाव मिलता है। सन्नाटा जब आहत है, तो ध्वनि भी झाँय-झाँय की आती है। ये ध्वनि जो भी है, जहाँ से भी आती है, वह लोक प्रतीकों और संदर्भों से ही आती है। यह साठोत्तरी कविता का अपना मुहावरा है, जिसमें कहीं बहुत दूर से जड़ों के कुलबुलाने की आवाजें आती हैं। ध्वनि के द्वारा आवाज को सुनना कवि की एक ऐसी प्रवृत्ति है, जिसे वह स्वयं स्वीकार करता है। 'जाते हुए आदमी का बयान' (यहाँ से देखो) कविता में वह ऐसी ही स्वीकारोक्ति करता है, जब कहता है-

"सचाई यह है कि टूटने की आवाज/ मुझे अच्छी लगती है/ मुझे

बहुत सी चीजें महज इसलिए अच्छी लगती हैं/ कि मैं उनके

अंदर सुनता हूँ/ एक बहुत मद्धिम सी टूटने की आवाज"

यह 'टूटना' वास्तव में अपनी जड़ों की ओर जाना ही है, जिसकी याद ही मनुष्य को मनुष्य बनाये रखती हैं। कवि इसे दिल्ली में भी सुनता है, जिससे दिल्ली उसे अच्छी लगती है। यह कवि को प्रसन्नता भी प्रदान करती है, क्योंकि दिल्ली में मनुष्य का टूटना, वास्तव में शहरीकरण की अपार' विसंगतियों से मुक्ति का प्रयास है और लोक संदर्भों के ही पहचान की चेष्टा है।

इसी 'थोड़ा सा मानुष' को पहचानने के लिए केदार जी अन्य तरीका भी अपनाते हैं जिसमें वे पहले स्थूल विषय को ठोंकते हैं, फिर उसकी ध्वनि को सुनते हैं। कहीं कहीं अंतर्वस्तु से झगड़ते भी हैं। लेकिन उसे उसकी गतिशीलता में ही पकड़ते हैं। बैल, रोटी (जमीन पक रही है), माझी का पुल (जमीन पक रही है), रसोईघर में चाकू (अकाल में सारस), कूड़ा (अकाल में सारस), बोझे (अकाल में सारस), कुदाल (उत्तर-कबीर), संतरा (उत्तर कबीर) कविताएँ इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इनका आयाम बहुत बड़ा होता है, जिस कारण से (और यह वैज्ञानिक कारण भी है), ध्वनि कम होती है और इसे सुनना ही इस कवि का ध्येय है। इसकी परिणति ही एक प्रकार से महत्वाकांक्षा के टूटने के दर्द से भी जुड़ती है जिसमें कवि कल्पना और विम्ब के सहारे मानवीय संवेगों की उठान और फिर उनकी गिरावट को पकड़ता है। ये कवितायें संवेगात्मक अधिक बन पड़ी हैं। 'रोटी' (1978) कविता में ही कवि कहता है-

आप विश्वास करें

मैं कविता नहीं कर रहा

सिर्फ आग की ओर इशारा कर रहा हूँ

वह पक रही है

और देखेंगे- यह भूख के बारे में

आग का बयान है

जो दीवारों पर लिखा जा रहा है।[37]

हम देखते हैं कि यहाँ पर 'रोटी' के पकने के माध्यम से कवि 'आग' से 'धूएँ' के बीच की पूरी प्रक्रिया को पकड़ता है जिसमें दीवारों का स्वाद में बदलते जाने जैसी पंक्तियों के माध्यम से परिवेश का चित्रण मिलता है। इसमें दीवारों तक को मानवीय सहानभूति व करुणा से देखा गया है जो 'रसोईघर में चाकू' कविता में 'चाकू' के साथ किया गया है। इस मद्धिम ध्वनि को सुनने की प्रक्रिया और उसके फलस्वरूप उपजे कोलाहल की अनुगूँज सबसे अधिक 'कुदाल' कविता में सुनाई पड़ती है। 'कुदाल' एक सामान्य वस्तु है, जिसका उपयोग प्राय: होता है। लेकिन स्थितियाँ ऐसी आती है कि इसको रखने की जगह घर में नहीं है क्योंकि 'घर' शिष्ट सामानों, सभ्यता के आवरण से आच्छादित है। समय के हो रहे परिवर्तनों को लक्षित करती यह कविता अपने वस्तु के उद्घाटन में दूरगामी प्रभाव सकती है। इसमें भी एक कुदाल का बयान है, जो अँधेरे पर लिखा जा रहा है। आगे 'संतरा' कविता में यही बयान संतरे का है, जो 'चमकती धूप' पर लिखा जा रहा है। कद कुदाल और संतरे दोनों का बढ़ता है। कवि उसका विस्तार भी करना चाहता है कि परेशानी यही है कि परिस्थितियों का दबाव उस पर हमेशा बना हुआ है। "विषय के माध्यम से परिस्थिति का और परिस्थिति के माध्यम से वस्तु का उद्घाटन" करने के लिए ही ये कविताएँ महत्वपूर्ण हैं और रहेंगी।

इसके अतिरिक्त केदारजी के यहाँ **लोक चरित्र** खूब आते हैं जिनके माध्यम से लोक रूढ़ियों के तोड़ने का उपक्रम मिलता है। पुराने मिथकों को तोड़ने की बेचैनी भी दिखलाई पड़ती है जिसके माध्यम से नये 'मिथक-लोक' का निर्माण भी होता है।

प्रकृति के गतिशील चित्र भी खूब उभरकर आते हैं जो काव्य व्यापार को आगे ले जाने में मदद करते हैं। चरित्रों में तो 'टमाटर बेचने वाली बुढ़िया' कविता में बुढ़िया और 'गड़ेरिये का चेहरा' कविता में 'गड़ेरिया' बेहद महत्व के बन पड़े हैं। इनमें भी कवि 'स्मृति' से ही काम लेता है, जिसमें आंतरिक 'कसमसाहटें' हैं। बुढ़िया जैसे चरित्र में माँ का चेहरा देखना बड़ा ही रोचक है। लोक जीवन का यह दूसरा पक्ष है, जहाँ बुढ़िया कुछ छुपाती है। इस छुपाने में 'भाव-स्फीति' न होकर, 'भाव-संकोच' है और चरित्रों के उद्‌घाटन में कवि इस शिल्प को बखूबी साधता है। यह 'संकोच'वास्तव में चरित्र के अपने संघर्ष को ही अभिव्यंजित करता है जिसे पाने के लिए बुढ़िया ने संघर्ष किया है। बुढ़िया के टमाटर को छिपाने की हरकत और उसकी चुप्पी, दोनों ही लोक जीवन के विडम्बनाओं का संकेत करते हैं। कवि कहता है-

टमाटर के अंदर बहुत सी नदियाँ है

और अनेक शहर जिन्हें बुढ़िया के अलावा

कोई नहीं जानता। (1977 : 'जमीन पक रही है' में संकलित)

यह बुढ़िया का संघर्ष और 'टमाटर' के बनने की पूरी प्रक्रिया है। शब्द-संकोच के माध्यम से कवि इसे और प्रत्यक्ष करता है-

अब बुढ़िया के हाथ

टमाटरों से खेल रहे हैं

वह एक भूरे टमाटर को धीरे से उठाती है है

और हरी पत्तियों के नीचे

छिपा देती है- माँ की तरह।

'बूढ़े गड़ेरिया' के माध्यम से भी कवि स्मृति की सहायता से लोक संदर्भ को

बचाने की पीड़ा से व्यथित है। बचपन में देखा गड़ेरिया का चेहरा उसका पीछा करता है और कवि कहता है 'कितना मुश्किल है/ भरी सड़क पर/ एक पत्ते की तरह उड़ना/ और इस शहर दिल्ली में/ सुबह से शाम तक/ अपनी चेतना के अंदर/ एक बूढ़े उदास गड़ेरिये का चेहरा/ लिये लिये फिरना' (1983 प्रतिनिधि कविताओं में संकलित) इस दोनों चरित्रों को भी बूढ़े रूप में कवि का लेना, वस्तुत: जड़ों के प्रति गहरी आशक्ति का ही द्योतक रहा है। इस तरह के लोक चरित्र झुम्मन मियाँ (बिना नाम की नदी कविता : जमीन पक रही है में संकलित), जगरनाथ (1984 प्रतिनिधि कविताओं में संकलित), नूर मिआँ (1983 : सन् 47 को याद करते हुए : 'यहाँ से देखो' में संकलित) हैं और मजे की बात तो यह है कि इन सभी में स्मृति को आधार बनाकर तत्कालीन परिस्थितियों को इस तरह से प्रस्तुत किया गया है, जैसे उनके कवि की गहरी निजता रही हो। अत: ये कविताएँ वस्तुगत निजता की हद तक सहज व मर्मस्पर्शी है। इन सभी में उन परिस्थितियों के चित्रण के साथ परिवर्तन को भी लक्षित किया गया है। हाँ, यह अवश्य है कि लोक चरित्रों के माध्यम से लोक संदर्भों को उपस्थित करने की प्रवृत्ति बाद के कविता संकलनों में कम होती गयी है। 'अकाल में सारस' व 'उत्तर कबीर' में नहीं ही हैं। किन्तु उत्तर कबीर में स्वयं इतिहास प्रसिद्ध नायक है : एक ओर कबीर, तो दूसरी ओर भिखारी ठाकुर। दोनों का स्रोत लोक जीवन। प्रत्यक्ष। आखिन देखी। कवि को अब बड़ी बातें कहनी होती हैं जिस कारण से वह दो प्रसिद्ध चरित्रों को चुनता है, क्योंकि गढ़ा हुआ चरित्र उसके भावों को गहराई व विस्तार में व्यक्त करने के लिए शायद नाकाफी लगा हो। इसमें कवि सफल भी हुआ है। 'उत्तर कबीर' में तो कवि एक लोक नायक को चित्र (स्थूल) के रूप में देखकर परेशान है। वह उस हर प्रक्रिया के विरुद्ध है जो एक गतिशील वस्तु को स्थूल बनाती है। इसमें कवि अब तक अर्जित अपने समस्त काव्यगत शिल्प का प्रयोग भी करता है। 'अब

किससे पूछूँ', 'अंधेरी जड़ों तक उतरना चाहता हूँ', 'अब इसका क्या करूँ', 'कभी ध्यान से सुनो', आदि ऐसी पंक्तियाँ हैं, जिनका प्रयोग कवि अब तक करता रहा है। इस कविता में इस तरह के सभी रूपों शिल्पों को कवि ने एक साथ साधा है, जिससे 'समय में हुए व्यापक परिवर्तन' को लक्षित कर सके। जो कोई इस अकेली कविता (उत्तर कबीर) को आत्मसात करने के हद तक समझ जाय, उसे केदार जी के कवि कौशल की पूर्णत: जानकारी हो सकेगी। ऐसा लगता है कि अब तक की तमाम छोटी कविताओं को कवि ने एक साथ जोड़ दिया है। कवि बनावटी 'सूत' से विचलित है। 'सूत' उसके लिए कताई मिल का धागा मात्र नहीं है। बल्कि मनुष्य का मनुष्य से रिश्ता है। इस भाव-प्रसरण को कवि ने बड़े सुन्दर ढंग से साधा है-

मैं उस चीख की गहरी अंधेरी जड़ों तक

उतरना चाहता हूँ

मैं धँसता चाहता हूँ पृथ्वी की पहली

अकेली चीख की तरह

हर पत्थर

हर खोपड़ी

और हर विचार में

ताकि पहुँच सकूँ उस अंतिम सूत तक जो सारी बुनावट में

कहीं से भी खींचो

कहीं से भी तानो

कम पड़ जाता है।[38]

दूसरी 'भिखारी ठाकुर' कविता है जिसमें केदार जी भिखारी ठाकुर के 'नाच' से

आजादी के संघर्ष तक की यात्रा करते हैं और राष्ट्रगान की लय व विदेसिया की लय में कहीं एक अटूट सम्बन्ध देखते हैं हालाँकि इससे वे व्यथित है कि इसका जिक्र कहीं नहीं है। यह 'नाच' वास्तव में उन चेहरों की नाच है, क्रिया कलाप है, जिन्होंने बगैर किसी प्रलोभन के आजादी की लड़ाई में संघर्ष किया था किन्तु उनका उल्लेख नहीं हैं। कवि बड़ी मार्मिकता से कहता है कि इस 'नाच' से जुड़ने वालों में महात्मा गाँधी जैसे भी थे। क्या यह उपेक्षित के अपेक्षित की तलाश नहीं है? सबाल्टर्न इतिहासकारों के लिए यह कविता बेहद उपयोगी है।

एक बात जो यहाँ बेहद महत्वपूर्ण है वह यह कि केदार जी 'नाच' की व्यापकता को पहचानने के बावजूद उसे मिथकीय स्वरूप नहीं देते। यह आजादी के महात्मा गाँधीय मिथक में एक प्रकार का हस्तक्षेप है और बावजूद इसके भिखारी खुद एक मिथक नहीं बनने पाते क्योंकि 'नाच' का रिश्ता उन सबसे है जिनकी आवाज से 'हिलने लगती थीं/ बोली की सारी/ सोई हुई क्रियाएँ' यह एक साहस भरा अभिनव प्रयोग है, जो पिछले सारी रूढ़ियों को तोड़ता है जिसमें मिथक ही समकालीन जीवन संदर्भों से हस्तक्षेप कराया है जिसके लक्षण अन्यत 'बुद्ध के बारे में सोचना' (यहाँ से देखो में संकलित) कविता देती है, या कि खुद समकालीन जीवन संदर्भों के बीच मिथक हस्तक्षेप करते हैं (भिखारी ठाकुर कविता में चर्चिल का आना कुछ ऐसा ही है)। बात जो हो, इस हस्तक्षेप में जीतता वह जीवन ही है, जो अन्यथा ढ़क गया था। कवि जब कहता है-

'पर मेरा ख्याल है

चर्चिल को सब पता था,' तब कवि क्या लोक की सामूहिक शक्ति की ओर इशारा नहीं कर रहा है? क्या चर्चिल को इसके पता होने का यह संकेत नहीं है कि नाच से उत्पन्न सामूहिकता की लय, बड़े से बड़े तोपों को भी बेकार कर देगी। इसे इस

दृष्टि से लिए जाने की जरूरत है। 'बाघ' कविता में भी त्रिलोचन के साथ समकालीन जीवन संदर्भ इसी प्रकार हस्तक्षेप करते हैं।

दरअसल केदार जी की बहुत सारी कविताएँ बड़े कुशल ढंग से कमेन्ट्री करती जान पड़ती हैं जिनमें आरम्भ से ही रोचकता और संघर्ष विद्यमान होता है। और लो, और अब, अब देखो, जैसे शब्द उत्तेजक का कार्य करते हैं। ऐसा लगता है कि परिणाम अब पास है। लेकिन उसका पता अंत तक नहीं चलता। सिर्फ रह जाती है कुछ ध्वनियाँ, जिसे लेकर पाठक अपने घर आता है और जो कभी भी गूँज सकती है। यूँ एक कुशल खिलाड़ी की सारी विशेषताएँ लिए वे 'वस्तु' के साथ 'कमेन्टेटर' की भाँति दौड़ते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केदार जी साठोत्तरी हिन्दी कविता के लोकधर्मी चेतना के संवाहक हैं और उस मुहाने पर स्थित हैं, जहाँ से इसकी धारा निकलती है। लगभग 40 वर्षों का निरंतर काव्य-यात्रा में रहते हुए वे अपनी जड़ों से विचलित नहीं हैं। जो कविता में एक ओर निराला से जुड़ती है, तो समाज में लोक जीवन से। यूँ निराला और लोक जीवन दोनों को फेंटकर मिला दिये हैं। तभी तो वे कहते हैं "खुश हूँ- आती है रह रहकर/ जीने की सुगंध बह-बहकर"। यह सुगंध केदार जी में आद्योपांत मौजूद है। उनकी पूरी कविता इसी 'सुगंध व सुनने' से बनी है जिस कारण से उनमें भाव व विचार एक साथ गुँथे हुए हैं। लेकिन इस तरह से उनकी कविता बराबर एक खतरे का शिकार भी होती रही है। मुक्तिबोध ने अपने निबंध 'समीक्षा की समस्याएँ' में लिखा है "अभिव्यक्ति के प्रयत्न-कलाकर्म-बहुत कुछ अभ्यास में निहित है। लेखक को, अभिव्यक्ति साधना में-काव्याभ्यास में- न केवल विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति का अभ्यास हो जाता है, वरन् विशेष प्रकार की भाव-संवेदनाओं का भी अभ्यास हो जाता है। क्रमश: दोनों तरह के अभ्यास-भाव संवेदनाओं की अभ्यासात्मकता और तत्सम्बन्धी

अभिव्यक्ति की अभ्यासात्मकता- ये दोनों मिलकर लेखक की जिस प्रकार क्षमता बन जाते हैं, उसी प्रकार वह उसकी कठोर सीमा भी बन जाते हैं... '(1963 : 'नयी कविता का आत्म संघर्ष' में संकलित) यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि केदार जी में यह सीमा दिखायी देती है। भावों व शब्दों व शैली की पुनरावृत्ति से कवि को बचना होगा। लेकिन अब शायद संभव न हो। कारण यह कि अब न तो वह उत्साह है और न ही उतना अवसर। *कविता की दुनिया में मिलते अवसर कविता में शायद अवसर उत्पन्न न होने दें। यह भी बड़ी दुनिया का छोटी दुनिया में एक प्रकार का हस्तक्षेप है।* इसे कविता में केदार जी बेहतर ढंग से कह सकते हैं क्योंकि यह उनका शिल्प हे। और क्षेत्र भी।

लेकिन इसके बावजूद केदार जी की एक कविता से मैं अपनी बात समाप्त करता हूँ-

पर मौसम

चाहे जितना खराब हो

उम्मीद नहीं छोड़ती कविताएँ।

और यह भी कि कवि के बारे में जितना कहा जाय, कम ही है क्योंकि-

कोई एक पता होता नहीं कवि का

वह जितनी बार साँस लेता है

उतनी बार

बदल जाता है उसका पता।[39]

विजेन्द्र : 10 जनवरी 1935 को जन्मे विजेन्द्र जी का पहला कविता संग्रह

'त्रास' सन् 1964 में प्रकाशित होता है। इसके बाद प्रकाशित कविता संग्रहों में 'ये आकृतियाँ तुम्हारी (1980) 'चैत की लाल टहनी' (1982), 'डंठे गूमड़े नील' (1983), 'धरती कामधेनु से प्यारी' (1990) और 'ऋतु का पहला फूल' (1994) हैं। इनकी कविताओं में आरम्भ से ही लोक चित्रण मिलता है, जो लोकपक्ष के विविध आयामों को स्पर्श करते हुए आगे बढ़ता है। कहीं कहीं लोक सौन्दर्य के रूप भी दृश्यमान हो उठते हैं, जो कहीं प्रकृति की रूढ़ियों से अलग होते हुए, तो कहीं लोक रूढ़ियों से अलग होते हुए चित्रों में दिखायी दे जाते हैं। साठोत्तरी हिन्दी कविता की जिस धारा में पश्चिम की रुग्ण प्रवृत्तियों से स्थानीयता की रंगत देखने को मिलती है, जिसमें जन मानस की अभिव्यक्ति, श्रम और संघर्ष की विशेषताएँ सहज लक्षित की जा सकती हैं वे सब विजेन्द्र जी का काव्य संसार हैं। उनमें दृश्यों को बाँधने की कला है, जो 'दृश्यांकन' का रूप अकसर धारण कर लेती हैं। यही ही लोक चित्रण के वैविध्य का सूचक है और इसमें ही कवि की लोक भावना का पता चलता है, हालाँकि यह ही कवि की काव्य-सीमा भी है। ऐसा उनकी इस भावना के कारण, शायद होता है कि वे 'वर्जित प्रदेशों' के उद्घाटन के चक्कर में 'चित्रमयता' की अधिकता पर ध्यान देते हैं। वे इस पर ध्यान नहीं देते कि एक चित्र के मार्मिक उद्घाटन से अनेक चित्रों का रहस्योद्घाटन संभव है और यही कविता सच्ची लोक सौन्दर्य युक्त कविता भी होती है। एक दृश्य को हिलाकर अनेक प्रस्तुतियाँ न करके, अनेक दृश्यों को अलग अलग हिलाते हैं, जिससे लोकजीवन के स्थूल तत्व तो अधिक आते हैं, लेकिन उनकी गतिशीलता का पता नहीं चल पाता। इस कारण से इनकी कविताएँ लोक तत्वों की प्रचुर प्रक्षेपण कर देने के बाद भी लोकधर्मी कविता में अपनी उपस्थिति दर्ज नहीं कर पाती। केवल उसकी आहट भर देती चलती हैं। शायद केदार नाथ अग्रवाल का असर अधिक रहा है जिनकी कहीं कहीं आहट भी मिलती है। इनमें आह्वानपरकता शीघ्र ही उल्लास

के रूप में परिणत होकर शांत हो जाती है। संघर्ष में उवाल है, जो थीकता नहीं। लेकिन जैसा कि हमने कहा, विजेन्द्रजी की कविता हमेशा 'वर्जित प्रदेशों' की ओर जाती है, ताकि अधिक से अधिक नयी बात वे कह सकें। यह न केवल चरित्र में बल्कि प्रकृति पर भी घटित होता है। वर्जित प्रदेशों को ऊर्वर बनाने की इच्छा और कला से इनकी कविता में अपूर्ण लोक सौन्दर्य उपस्थित होता है, हालाँकि यह जरूर है कि गतिशीलता के लिए इसका बहुत आग्रह दूरगामी नहीं होता। स्वयं पुराने विषयों में भी इस बदलाव को लक्षित की जाने की जरूरत थी। इस दृष्टि से इनकी कविताओं में जहाँ श्रमरत कृषक-जीवन, घोसी वंजारे और कंजरों, मोची, भंगी जैसी जन जातियाँ मिलती हैं, वहीं पर प्रकृति के उपेक्षित तत्व करील, सरसों, बबूल के फूल, कुकुरभाँगरा भी महत्वपूर्ण स्थान पाते हैं। उनकी लम्बी कविताओं के नायक हैं- खेतों में काम करते स्त्री पुरुष, लौह सारी का काम करने वाले नूर मियाँ, भेड़ें चराने वाला लादू, बकरियाँ हाँकने वाला मागो, नत्थी माली और शिल्पी अल्लादी। ये सब संघर्ष करते हुए क्रियाशील है और इन सभी को कवि 'धरती कामधेनु से प्यारी' (1990) संकलन में अलग से दिया है। ध्यान देने की बात है कि जहाँ लोक जड़ों से आरम्भ करने और अपनी पहचान बनाने वाले कवि अपना मंच उस तरह से छोड़कर बागी हो जाते हैं, जैसे बच्चा माँ का दूध छोड़ने के बाद बागी हो जाता है। वहीं, विजेन्द्र जी डटे रहते हैं और चरित्रों का सतत विकास करते हैं। चरित्रों की यही विशेषता साठोत्तरी की केन्द्रीय विशेषता भी है और 'धरती कामधेनु से प्यारी' कविता संकलन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। शीर्षक कविता का 'लादू' जिसकी भेड़ें मर जाती हैं, वड़ा ही धैर्यवान चरित्र के रूप में आता है जिसमें संघर्ष की चेतना है। स्वयं प्रकृति भी उसका साथ देती है। मानवीय मरगोजा, रोहिड़ा आदि पेड़ लादू के जीवन क संवल हैं। इनसे डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'कुटज' की याद आती है, जो 'गाढ़े का साथी' है। ऐसी

स्थिति में लादू का चित्र है-

बस ये जानो...

हिम्मत नहीं कभी हारी है।

ऐसी विपदाएँ आती हैं आयें

धूप-छाँह जैसी उतरें

खो जाय

मुझे भरोसा अब भी भरी

फिर होंगी भेड़ें

गल्ल बनेंगे।[40]

दूसरी तरफ 'नूर मियाँ' की क्रियाशीलता है-

कच्चा लोहा पका रहा है

लौहसारी को तपा रहा है

होंट काटकर आँख मीचता

चाम धौंक कर पेट पालता।[42]

कुल मिलाकर विजेन्द्र जी स्थितियों की पकड़ के कवि ठहरते हैं, जो उस अवस्थिति को प्राप्त होने नहीं देती जिनसे पाठक का 'भावयंत्र गतिशील' होता है। 'ऋतु का पहला फूल' तो (कुछ एक कविताओं को छोड़कर' जैसे 'रचनेवाला हाथ', जिसमें बोझिल प्राप्ति का गहरा भाव उभरता है) इन्हीं से भरा पड़ा है। हाँ, 'धरती कामधेनु से प्यारी' संकलन में अवश्य ही स्थिति का अतिक्रमण करते पाये जाते हैं। पर, यह अवश्य है कि जहाँ बहुत से कवि अपनी काव्य भूमि, भाव संवेदनाओं की पहचान, को न पा सकने के कारण लगातार चंचल मन से अपनी कविता के स्रोतों को बदलते हुए

लगभग बनावटीपन के हद तक भ्रमित है, वहीं विजेन्द्र जी अपनी काव्यभूमि से सजग रूप से जुड़े हुए हैं। अत: वे लोक जीवन के आस्थावान कवि हैं जिनकी स्वयं की एक कविता कहती है-

नहीं सुखा पावोगे मुझको

ओ सप्त अश्वधारी भगवान भास्कर

सजल स्रोत जीवन से

गुँथी हुई है

धरती में जड़ मेरी।[42] (जनपद का वृक्ष : 'धरती कामधेनु से प्यारी)

ऋतुराज :

ऋतुराज का जन्म 10 फरवरी 1940 को हुआ और उनके प्रकाशित काव्य संकलन हैं- मैं आंगिरस (1964), एक मरणधर्मा और अन्य (1967), पुल पर पानी (1981), अबेकस (1982), नहीं प्रबोध चंद्रोदय (1984), सुरत निरत (1987)। जैसा कि होता है, इनकी काव्य यात्रा का आरम्भ भी उसी समय से होता है, जिसमें साठोत्तरी हिन्दी कविता अपना मार्ग तलाश कर रही थी। ऋतुराज की कविता में संघर्ष की गति आरम्भ से ही एक प्रकार की उठापटक और खींचतान के रूप में मिलती है। ऐसा लगता है कि कवि, कविता को प्रचलित भाव स्तर पर नहीं बढ़ाना चाहता। अर्थात वह सिर्फ बढ़ाना भर नहीं चाहता, बल्कि कुछ जोड़ना भी चाहता है और यह जोड़ता वास्तव में उस रूप को पकड़ता ही है, जो दुनिया की आपाधापी में छूटता सा जा रहा है। 'सुरत-निरत' में तो इसके गहरे संकेत मौजूद हैं, जिसमें कवि संघर्ष के स्वीकृत तेवर से बिल्कुल अलग संघर्ष के व्यापक आयाम को उपस्थित करता है। यह वास्तव में वह संघर्ष है जो डूबता आदमी करता है। जो मरता आदमी करता है। वह आदमी जो आशा को प्रबल बनाये हुए डूब-डूबकर आगे बढ़ता है। यह मनुष्य के बुनियादी

आवश्यकताओं, विश्वासों और संकेतों को लेकर बढ़ने वाला संघर्ष है। 'एक बूढ़ा आदमी अपने बेटे के लिए सेब खरीदते हुए' कविता इसे बखूबी उभारती है, इसमें एक बूढ़े आदमी का संघर्ष, सेब के माध्यम से व्यक्त होता है। बूढ़े का अपने बीमार बच्चे के लिए सेब न खरीद पाना केवल इतना ही नहीं, बल्कि वह परिवेश का भी चित्र है, जिसमें कोई गरीब आदमी इस नियति को प्राप्त होता है। कविता कहती है-

बार बार दुनिया के एक फल के पास जाकर

लौटता हूँ मैं एक बूढ़ा आदमी

डाक्टर कहते हैं सेब तुम्हें खाना चाहिए

क्या देखने भर से नहीं मिल जाते गुण?

हम देखते हैं कि कविता कैसे घिसते हुए आगे बढ़ती है। यह प्रचलित का सीधा साधा संघर्ष नहीं है। यह सेब न खरीद पाने का भी विकल्प है जो एक प्रश्न के माध्यम से व्यक्त होता है।

मैं एक बूढ़ा आदमी तंग जेब की शून्यता में

उलट पुलट करता मरुस्थल की रेत

और लौह शक्कर विटामिन युक्त वो सेब दुनिया का

मेरे लिए वर्जित

मैं एक ईर्ष्यालु निरुपाय चोर

अपने बीमार बेटे के लिए

आखों से चुराकर ले जाता हूँ सारे तत्व... [43] ('सुरत निरत' संकलन से)

संघर्ष का रंग कितना चटख है कि बूढ़ा निरुपाय चोर है, लेकिन ईर्ष्यालु है। ईष्यालु का संकेत पहली दो पंक्तियों में स्पष्ट है और वह 'तत्वों' को आखों से चुराकर

ले जाता है। द्वन्द्व कितना गहरा है। पहले वह प्रश्न करता है 'क्या देखने भर से नहीं मिल जाते गुण' और फिर वह उत्तर देता है- इसे चुराकर ले जाने में। वह भी आखों से। यह है अमानवीकरण की प्रक्रिया का सूक्ष्म अवलोकन। यह ही है मनुष्य का अस्तित्व और उसके संघर्ष का तनाव, जिसमें अमानवीकरण को तलाशा जा सकता है। यह 'काव्याभास की अभ्यासात्मकता और भाव संवेदन की अभ्यासात्मकता' दोनों से मुक्ति का प्रयास है और यह वही कवि कर सकता है जो इस 'उर्वर प्रदेश' को स्पर्श करे जिसमें मनुष्य का अस्तित्व और उसके संघर्ष का सौन्दर्यपरक तनाव दिया हुआ है। ऐसी ही एक कविता है जिसमे कवि कहता है-

मैं नहीं हूँ गरीब

मैने काटकर अपनी फटी बाहें

कमीज का बनाया है बुशर्ट

बनियान की पट्टी को नीचे से उधेड़

डाला है कच्छे में नाड़ा

रबड़ की चप्पल में अटकाई है पिन,

मेरे पास चुभोने के लिए यह पिन है

मैं गरीब नहीं हूँ ....।[44]

यह 'पिन' वास्तव में टूटते हुए मनुष्य का तीखा स्वर है और यह जीवन का वास्तविक संघर्ष है। यह उनके लिए कहीं कहीं मानवीय राग या गीत बनकर भी आता है जब भौगोलिक विस्थापन में वे मनुष्य के आंतरिक विस्थापन की अनुगूँज सुनते हैं और इससे मुक्ति के उपाय से लोक जीवन के रागात्मक सम्बन्धों तक की यात्रा करते हैं। 'मुरिया' जाति के माध्यम से एक कविता में वे कहते हैं-

इतनी बड़ी दुनिया है

लेकिन उबकाई क्यों आती है

क्यों मन करता है पहली ही बस से पहुँच जाऊँ पठार

इस हाट में से निकलूँ बाँसुरी बजाता

चीखो नहीं अभागो, एक गीत सुनों!!

क्या किसी कविता की लोकधर्मी परम्परा में यह 'चीख' उसी 'बोझिल प्राप्ति' का संकेत नहीं है, जिसे केदार नाथ सिंह से अब तक की कविता में देखा जा सकता है और जिससे मुक्ति का मार्ग स्वाभाविकता से हो कर ही जाता है? शायद हाँ। और यही ऋतुराज की कविता का प्राण तत्व है जिसके लिए उन्हें पढ़े जाने की जरूरत है, बावजूद इसके कि लोक जीवन का कोई गम्भीर प्रयास उनमें दिखायी नहीं देता।

राजेश जोशी

राजेश जोशी का जन्म 18 जुलाई 1946 को हुआ। 'एक दिन बोलेंगे पेड़' (1980), मिट्टी का चेहरा और नेपथ्य में हँसी (1994) इनके प्रकाशित काव्य संग्रह हैं। यूँ तो इनकी काव्य यात्रा 70 दशक में ही आरम्भ हो गई थी, किन्तु संग्रह के रूप में पहला काव्य संग्रह 1980 में आता है, जिससे साठोत्तरी हिन्दी कविता में युवा कविता के हस्तक्षेप का पता चलता है। एक 'कथा' के धरातल पर लगभग सरल ढंग से बढ़ती ऊपर से एक रैखीक दीखती राजेश जी की कविता भीतर से हमें हल्के स्पर्श करती है जिससे हम चौकस होते हैं और अचकचा कर उस तरफ देखते हैं जिस तरफ दिखाना कविता का ध्येय होता है। *यह अचकचाहट भरी सतर्कता राजेश जोशी की कविता की अपनी विशेषता है, जो 70 के दशक में आंदोलन धर्मी, चिल्लाती*

की निगाह उस लोक संदर्भों की ओर गयी जिसमें बहुत बारीक परिवर्तन हो रहा था और जिसे नारेबाजी युक्त कविताएँ नहीं पकड़ पा रही थीं। यही काम साठोत्तरी के आरम्भ से केदार नाथ सिंह करते चले आ रहे थे। इस प्रकार राजेश जोशी की आरम्भिक कविताएँ खड़ी बोली हिन्दी में लिखी गई लोक कथाएँ जैसी जान पड़ती हैं जिनमें प्रकृति व मनुष्य का आपसी जीवन पूरी तत्परता के साथ दिखायी देता है। लोक रूढ़ियों का प्रयोग करते हुए भी कवि रूढ़ होते लोक को बताता चलता है और उसे जीवन की गतिशीलता में देखते हुए एक गति नियंत्रक' के रूप में इस्तेमाल भी करता है। 'माँ कहती है', 'प्याज', 'पत्थर की अंगुठियाँ', (सभी 'एक दिन बोलेंगे पेड़' से), 'यह धर्म के विरुद्ध', (मिट्टी का चेहरा), घोंसला (नेपथ्य में हँसी) कुछ ऐसी कविताएँ हैं जिनमें लोक जीवन में प्रचलित लोक रूढ़ियों का प्रयोग मिलता है, जिनके माध्यम से कवि भागती दुनिया पर कुछ नियंत्रण पाना चाहता है। 'एक दिन बोलेंगे पेड़' (1980) की पहली ही कविता है 'माँ कहती है' जिसमें उतान सोकर सीने पर हाथ रखने से सपने आने वाली रूढ़ि का कवि ने प्रयोग किया है और चारपाई में सरौता रखे जाने का भी जिक्र करता है, जिससे डरावने सपने न आये। अंत में कवि कहता है-

दिनभर

फिरकनी सी खटती

माँ

हमारे सपनों के लिए कितनी चिंतित है!

इसमें 'सपनों का आना' अतिशय गतिशीलता का द्योतक है और उस पर कवि माँ के माध्यम से नियंत्रण करता है। यह लोक रूढ़ि का अभिनव प्रयोग है। 'प्याज' कविता में भी 'प्याज' को विपदा से लड़ने के लिए एक अस्त्र के रूप में प्रयुक्त किया

गया है। 'हमारे घरों की औरतें जानती हैं/ प्याज एक तैयार घूँसा है/ जिससे 'लू' डरती है।' (एक दिन बोलेंगे पेड़)। इनके प्रयोग से कवि कहीं कहीं एक 'विट' भी उत्पन्न करता है, जो वृहत्तर जीवन संदर्भ को खोलती है 'पत्थर की अंगूठियाँ' कविता ऐसी ही है जिसमें इसके माध्यम से व्यवस्था पर व्यंग्य किया गया है 'एक आदमी/ पहने फटी कमीज, नंगे पाँव/ मुस्कुराता गुजर जाता है चुपचाप/ सुनी अनसुनी करता/ उनकी बात।' इसकी एक बड़ी सुन्दर कविता 'यह धर्म के विरुद्ध है' है, जिसमें लोक रूढ़ियों के प्रभाव स्वरूप एक पीपल के उगते पेड़ के कारण एक मकान धीरे धीरे' सार्वजनिक स्थल में बदलता जाता है। मकान मालिक अपने ही सामने अपनी ही जमीन से लगातार निर्वासित होते जाने की प्रक्रिया देख रहा है लेकिन उसके पास साहस नहीं है कि उस पेड़ को काट सके। पीपल जैसे धर्म रूढ़ि से मुक्त होने की प्रक्रिया में कवि एक 'विट' रचता है जिसके माध्यम से बहुत हल्का संकेत करते हुए उससे मुक्ति का उपाय भी सुझाता है अन्यथा मनुष्य का 'स्व' ही खतरे में पड़ जायेगा।

अपनी ही जमीन से
निर्वासित होता जा रहा वह
मन-ही-मन बड़बड़ा रहा है
ऐसी की तैसी....
पर असंभव है इसके आगे कुछ कहना
क्योंकि यह
धर्म के विरुद्ध है।[43] ('मिट्टी का चेहरा' में संकलित)

इस प्रकार लोक रूढ़ियों के प्रयोग के माध्यम से कवि ने रूढ़ि के लोक को दोनों ही स्तरों पर तोड़ा है- उनके नियंत्रक स्वरूप को पहचानकर और उनसे मुक्ति

का संकेत कर। इन्हीं लोक रूढ़ियों के प्रयोग से इसका भी अनुमान लगाया जा सकता है कि राजेश जोशी अपनी जड़ों के प्रति काफी चौकस कवि हैं और राजनीति व समाज के द्वन्द्व से गुजरते हुए भी सतह के भीतर अमानवीकरण की प्रक्रियाओं की उपेक्षा नहीं करते। लोक संदर्भ इनमें एक प्रकार से हस्तक्षेप करते हुए अपनी महत्ता सिद्ध करते हैं। 'बच्चे काम पर जा रहे हैं' (नेपथ्य में हँसी) ऐसी कविता है जिसमें राजेश जोशी प्रचलित धारणा आने के विरुद्ध अपनी आवाज उठाते हैं। इनमें लोक व समाज आपस में टकराते हैं। बच्चे मानवीय व्यवस्था के आधार हैं और उनके ही आधार लगातार नष्ट हो रहे हैं। इन्हें काम पर भेजा जा रहा है जबकि उनका आधार कुछ और है। कवि कहता है। प्रश्न पूछता है-

'क्या अन्तरिक्ष में गिर गई है' सारी गेंदें
क्या दीमकों ने खा लिया हैं
सारी रंग बिरंगी किताबों को
क्या काले पहाड़ के नीचे दब गये है' सारे खिलौने

यह 'हस्तक्षेप' ही कवि को अपने आत्म-विश्वास का द्योतक है जो उनमें आस्थावादी स्वर का संचार करता है। इसके लिए कवि स्मृति का भी सर्जनात्मक प्रयोग करता है। 'लेबर कालोनी के बच्चे' (एक दिन बोलेंगे पेड़), 'जो काम पर जाते हुए बच्चे' की पृष्ठभूमि ही है एक ऐसी ही कविता है, जिसमें कवि बच्चों के अचानक आगमन से सन्नाटा तोड़ने की बात करता है। ऐसा लगता है कि इस जंग लगी व्यवस्था के ताले को खोलने का कोई रहस्य उन्हीं के पास है जो 'खोई हुई चाभी के गुच्छे' जैसे अपनी उपस्थिति दर्ज करते हैं। 'चाभी का गुच्छा' कवि में बड़ा 'पावरफुल' प्रतीक है जो चाबियाँ, (एक दिन बोलेंगे पेड़), चाबियों का गाना (नेपथ्य में हँसी) कविता में भी आता है। *इनकी कविता भी चाबी के गुच्छे की तरह बजती 'संभावनाओं के*

नये द्वार' खोलने जैसी बन पड़ी है जो किसी अनपेक्षित कोने से सहसा उठती हुई छा जाती है। शायद इसी कारण ये कविताएँ दुनिया के बुजुर्आ वर्ग को ठेंगा दिखाती सुन्दर बन पड़ी है जिन्हें आप नजर अंदाज नहीं कर सकते। ये मुँह बिचकाती हुई पिचके मुँहों पर व्यंग्य करती हैं जो अपने गालों के सुर्ख उभार के लिए मुँह में कुछ न कुछ प्राय: ही दबा लेते हैं। एक कविता में ये कहते हैं-

'मैं सारे स्वप्नों को गूँथ गूँथकर
एक खूब लम्बी नसैनी बनाऊँगा
और सारे भले लोगों को ऊपर चढ़ाकर
हटा लूँगा नसैनी
ऊपर किसी गृह पर बैठ कर
ठेंगा दिखाऊँगा मैं सारे दुष्टों को।' (मैं उड़ जाऊँगा, 'मिट्टी का चेहरा')

जीवन के प्रति आस्था और शोषण के प्रति ठेंगा दिखाने वाला स्वर जन्म, नट, घोंसला (नेपथ्य को हँसी) जैसी कविताओं में भी मिलता है। बाहर से खुरदुरी दीखते हुए भी भीतर से ये लयवत है। इनमें तमाम विडम्बनाओं के बीच से एक आस्था मूलक चेहरा झाँकता रहता है। इनमें एक लुका छिपी की स्थिति होती है। *अत: ये कविताएँ लुका छिपी के हद तक सरल हैं लेकिन उन मूल्यों के बताने के हद तक जटिल भी हैं, जो इसमें छिपा रहता है।* इस दृष्टि से 'घोंसला' कविता बेहद मार्मिक है जिसमें 'कौआ और कुत्ता के बीच की रस्सा-कसी 'ऊपर से रोचक सी दीखती भी अपने आंतरिक विधान में इन जीवन मूल्यों और आस्थाओं को व्यंजित करती है, जिनसे जीवन, जीवन कहलाता है। 'कौआ' सिर्फ एक पक्षी नहीं है, वह पाहुन को लाने वाला एक प्राणी है और उसके घोंसले की भी जगह नहीं बच पा रही हैं, जबकि "करीब

आ रहा था कौवों के प्रजनन का समय"। कुत्ता, बार बार उसके इस प्रयास को रोकता है, कौवा फिर भी- 'कुत्ता झपटता था बार-बार, भौंकता था/ पर कौवा भी ठाने था हठ। आँख बचा उठा ही लेता था कोई न कोई चीज/ मैदान से चुपचाप!!'। (घोंसला- 'नेपथ्य में हँसी')

इस प्रकार अपने तीसरे संकलन 'नेपथ्य में हँसी' तक आते आते राजेश जोशी साधारण चीजों में अनमोल जीवन को तलाशते हुए हिन्दी कविता के लोकधर्मी स्वरूप के प्रति अपनी दृढ़ आख्या व्यक्त करते हैं और यही साधारणता की पकड़ कवि को उस संधिस्थल पर खड़ी करती है जो 80 के दशक और बाद की कविता की विशेषता है जिसमें लोक और शहर के बीच की दूरी समाप्त होती है। जाहिर है, लोक में हो रहे परिवर्तन भी तीव्र है और उनकी पकड़ भी कठिन हो गई है। ऐसी स्थिति में उन्हें पकड़ता बड़े कवि कर्त्तव्य का निर्वाह करना है। राजेश जोशी ने ऐसा किया है क्योंकि इनकी कविता दृश्यमान जगत के अदृश्य स्थलों को धीरे से स्पर्श करती है और इन्हीं से भरोसा भी उत्पन्न होता है। 'जन्म' कविता में बंजारन के माध्यम से कवि ने ऐसा ही किया है या कि 'नट' कविता में जिसमें 'नट' की आवाज है- "मैं इस जर्जर रस्सी पर नहीं बाबू/ भरोसे की डोर पर चलता हूँ दिन रात"। यह वही भरोसे की डोर है जिसकी तलाश करता कवि 'स्मृति' के माध्यम से जड़ों तक जाता है, जो आज की आपाधापी में छूट रही हैं। इसी में वह महत्वपूर्ण चरित्रों की बात भी करता है। 'नाना की सायकिल' (नेपथ्य में हँसी) कविता में स्मृति पटल एक अजीब सी 'गूँज' है। कवि इस गूँज को पकड़ता हुआ कहता है "हमारी आवाज में बची रहती है/ हमारे पुरखों की गूँज"। और जाहिर है इतनी गूँज, इतनी परम्परा हमारे लिए वांछित भी है लेकिन खतरा भी यही पर है कि हम अपने व्यक्तित्व की पहचान अपनी तरह से भी कराये। राजेश जोशी बिना कुछ कहे इन दोनों स्थितियों का चित्र प्रस्तुत

करते हैं। स्वयं 'पहल-49' (1994) की एक कविता में वे कहते हैं-

नई नई मूर्खताओं के बावजूद बची रहती है

पुरानी समझदारियाँ!

स्मृतियों में बची रहती है

थोड़ी सी टीस और थोड़ी सी मिठास![46]

यह पुरानेपन की वकालत नहीं है, बल्कि उसके क्रियमाण तत्वों की पहचान है क्योंकि 'बहुत छोटी और साधारण चीजों में ही बचा है शायद इतना अपनापन इतनी गुदगुदी।[47] (पहल-49 : दो नन्हें मोजे)

मंगलेश डबराल

मंगलेश डबराल का जन्म 16 मई 1948 को हुआ और पहाड़ पर लालटेन (1981), घर का रास्ता (1988) और 'हम जो देखते हैं' (1995) प्रकाशित काव्य संग्रह है। मंगलेश उन थोड़े से कवियों में है जो लोक जीवन में उत्पन्न हो रहे अमानवीकरण की प्रक्रिया पर गहरी दृष्टि रखते हैं जो लोक जीवन के मार्मिक पक्ष ही हैं। उनके आरम्भिक कविता संकलन से तीसरे कविता संग्रह तक में 'स्मृति' के प्रति गहरा अनुराग देखा जा सकता है, हालाँकि दूसरे संकलन से इसका रूप बदलने लगता है, क्योंकि 'स्मृति' के द्वारा स्थानीय तत्वों की पहचान की प्रवृत्ति क्षीण होती जाती है। लेकिन 'पहाड़ पर लालटेन' इनका कविता संकलन बेहद महत्वपर्ण है, *जहाँ स्मृति, भीतरी वर्तमान है, और वर्तमान बाहरी स्मृति।* स्मृति के द्वारा स्मृति की संरचना मंगलेश की कविता में ही मिलती है जिनसे इनकी कविता के जटिल विधान का पता चलता है। स्मृति इनमें एक प्रकार के नियंत्रक का कार्य करती है, जो गतिशील जीवन में छूट रही जरूरी चीजों के प्रति सजग करती है। यह 'सजगता' हिन्दी कविता को बिखरने से बचाती

है और यही पर मंगलेश के कवि की मौलिकता का पता भी चलता है जो लोक चित्रण से हटकर हमारे संवेदनाओं में छीज रहे लोक संदर्भों को पकड़ने की कोशिश करते हैं। यह लोक जीवन की परिवर्तनशीलता का छूना ही है और अमानीकरण की जटिल प्रक्रिया को पकड़ना भी है। इनमें प्रकृति, मनुष्य, पशु पक्षी सभी किसी न किसी रूप में बिखरते नजर आते हैं जो बोझिल प्राप्ति का संकेत करते इन्हें साठोत्तरी कविता की 'भाषाई आंतरिकता और आंतरिक वाह्यता' से जोड़ते हैं। 'यहाँ थी वह नदी' कविता ऐसी ही है जो केदार नाथ सिंह की कविता 'माझी का पुल' से जुड़ती है। नदी विलुप्त होकर 'रेत' हो गई है, जिसमें एक 'गूँज' है-

अब वहाँ कुछ नहीं है

सिर्फ रात को जब लोग नींद में होते हैं

कभी कभी एक आवाज सुनाई देती है रेत से।[48]

इसके साथ 'पहाड़ पर लालटेन' संग्रह में कवि की गहरी स्थानीयता के वरअक्स समय की जटिलताओं की पकड़ मिलती है जिसमें घर, स्त्री, चिड़िया और बच्चे प्रतीक के रूप में आये हैं क्योंकि इन सब में विकास की संभावनाएँ अंतर्निहित होती है। इस प्रकार गहन अवसाद की छाया इनकी कविताओं पर मँडराती है, जिसमें हमेशा ही कुछ न कुछ जलने, महकने की गंध आती है (बाद में विमल कुमार में यह मिलता है)। कुछ न कुछ हमेशा ही टूट रहा होता है। वह भी इस कारण जैसे जैसे उसे एक कमरे के भीतर कैद कर दिया गया है। कुछ दृश्य हैं-

(क) यहाँ आते-जाते/ मैंने दुनिया के बारे में सोचा/ जो चारों ओर से **बंद और डरी** हुई थी।[49]

(ख) कई बच्चे बड़े हुए इस घर में/ गिरते पड़ते आखिरकार/ खाने-कमाने की खोज में तितर-वितर होते हुए/ यहाँ कुछ मौतें हुई/ कुछ स्त्रियाँ रोई इस तरह/ कि

बस उनका **सुबकना** सुनाई दे।[50]

(ग) किसी चट्टान के पीछे/ सन्नाटे में एकाएक एक स्त्री **सिसकती** है/ अपनी युवावस्था में/ अगले ही दिन आने वाले/ बुढ़ापे से बेखबर।[51]

(घ) उसे याद नहीं कितनी बार/ सपनों की जगह **जली हुई** जमीन थी/ जहाँ कभी कभी सुन पड़ती थी/ उसके माँ-बाप के रोने की आवाज।[52] (बच्चा)

ऊपर की रेखांकित पंक्तियों से पता चलता है कि डरना, सुबकना, सिसकना, जलना आदि कैसे कविता का निर्माण करते हैं। सूखे जीवन को पकड़ने के लिए कविता का इतना रूखा होना जरूरी भी है, जो और जरूरी चीजों को पकड़ने की एक शुरुवात है। कहीं कहीं कवि एक अजीब किस्म के सूखे व सहमें विम्बों के माध्यम से बुझे जीवन को देखता है। 'आखिरी वारदात' कविता इस दृष्टि से बेहद खूबसूरत कविता है, जिसमें छिन्न भिन्न हो रहे मानवीय क्रिया कलाप के बीच एक अजीब सा सम्बन्ध स्थापित करने का भाव है। यह ही उस संघर्ष को जन्म देता है जो मजबूरी नहीं है, बल्कि प्रक्रिया है। प्रक्रिया जन्य यंही संघर्ष मंगलेश के आगे के संकलनों में कम होता गया है जिसे 'हम जो देखते हैं' में देखा जा सकता है। **महानगर से जातीय स्मृति की परीक्षा करते करते मंगलेश का कवि महानगर के ऐसे चक्कर में फँस जाता है, कि महानगर ही उसकी स्मृति का हिस्सा बन जाता है और अपने को 'फिट' करने की जल्दबाजी का शिकार होता हुआ कतिपय उत्तर आधुनिक (तथाकथित!) कवियों के साथ हाथ मिलाता है, जिनका मूल भाव ही अविश्वास है जो कविता के विरूपित हो रहे 'शिल्प' के साथ घटित होता है।**

वीरेन डंगवाल : जन्म- 1948। 'इसी दुनिया में' (1991) एक मात्र प्रकाशित

काव्य संकलन है। लेकिन घबराने की कोई बात नहीं है। कवि के कविता का विधान 80 के दशक से ही आरंभ हो जाता है। वीरेन डंगवाल निरा वर्तमान के कवि हैं। उनमें न तो स्मृति है और न ही परम्परा का अतिशय मोह। उनकी कविताओं की दृष्टि उपेक्षित क्षेत्रों तक जाती है जिस कारण से, वे भी वर्जित प्रदेशों के कवि लगते हैं। दरअसल 80 के दशक तक आते आते नव-औपनिवेशिकता के दबाव में यही छोटी-मोटी चीजें ही खतरे में पड़ जाती है जिनकी पकड़ नदी, चिड़िया, पेड़ आदि से नहीं हो सकती। इसके लिए पेड़ से उतरने की जरूरत थी, नदी में डूबने की जरूरत थी। वीरेन ने ऐसा किया जिसका परिणाम है उनकी कविताएँ कमीज, (जिसका स्वर : 'बरबाद लोग/ तुम्हीं को घिसते रगड़ते/ और लोहा करते रहते हैं/", पपीता, इमली, समोसे। इनको ही दूसरे धरातल पर अभिव्यक्त करती कविता है- "मोटी कविता" जिसमें इच्छाओं की गठरी के बीच जीवन के खोने को बड़ी मार्मिकता से पकड़ा गया है। वीरेन की कविता को समझने के लिए इच्छाओं की गठरी को खोलना जहाँ बेहद जरूरी है, वही यह भी समझना जरूरी है कि उनकी कविता गरीब की उस गठरी के समान है, जिसे खोलते हुए भी खोलना शेष है। जिस तरह से उस गठरी के मर्म को समझना कठिन है, वैसे ही वीरेन की कविताओं के मर्म को। यह गठरी संवेदना ज्ञानेन्द्रपति में अद्भुत है!

वीरेन, यूँ भी उस दौर के कवि है जब संस्कृति व सत्ता का एकमेक सम्बन्ध स्थापित होता है और दोनों ही मिलकर अत्याचार को जन्म देते हैं। इससे मनुष्य की मनुष्यता ही दाँव पर लग जाती है। इसके लिए वे विम्बों का घटाटोप नहीं मढ़ते, बल्कि प्रसंग को ही विम्बवत खोलते हैं। इन्हीं से इनकी कविता में चरित भी उभरता है जिसमें मूल चिंता 'लोकमन' को बचाने से जुड़ी है। 'राम सिंह' कविता कुछ ऐसी है, जिसमें स्थूल होते मनुष्य के पीछे के गतिशील तत्वों की पकड़ मिलती है। ऐसी

जगहों पर वीरेन किसी एक बिन्दु को पकड़ते हैं और फिर उसे थोड़ा धक्का देकर छोड़ देते हैं। इसमें जो गति उत्पन्न होती है, उसको पकड़ना ही कवि होना है। कवि कहता है-

वे तुम्हें गौरव देते हैं और इन सबके बदले

तुमसे तुम्हारे निर्दोष हाथ और घास काटती हुई

लड़कियों से बचपन में सीखे गये गीत ले लेते हैं

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि वीरेन लोक जीवन की रागात्मकता के प्रति कितने व्याकुल है, जिन पर बर्बरता का टैक्टर चलता है। इस बर्बरता का लक्षण व चरित्र कैसा है। कवि कहता है-

कौन है, वे कौन

जो बच्चों की नींद में डर की तरह प्रवेश करते हैं

जो रोज रक्तपात करते हैं और मृतकों के लिए शोकगीत गाते हैं?

जो कपड़ों से प्यार करते हैं और आदमी से डरते हैं?

वे माहिर लोग हैं राम सिंह

हत्या को भी कला में बदल देते हैं?

प्रकारांतर से यह जीवन की हत्या कर उसे कविता का रूप देने वाले बुद्धिजीवियों पर भी एक गहरी टिप्पणी है। यह छद्मता के हर पहलू को रेखांकित करती है। 'छावनी' कविता में भी 'मनुष्य' के अमानवीकरण की प्रक्रिया का बोध है। कविता का एक और चित्र देखिये-

हम हैं इच्छा मृग

वंचित स्वप्नों की चरागाह में तो

चौकड़ियाँ मार लेने दो हमें कमबख्तों।[34]

वीरेन में, इस प्रकार, हमेशा ही एक टीस है, एक खीझ है जो इन्हें बंधन के विरुद्ध ले जाती है। स्वयं 'बच्चा और गौरैया' कविता के माध्यम से इसका संकेत देता है, जिसमें कवि गौरैया को उड़ा देता है, जो कविता को बंद कमरे से बाहर ले जाने का संकेत भी है। यह विद्रोह और उन्मुक्तता ही कवि की बुनियादी चिंता है। 'नदी' कविता में तो प्राकृतिक विपदा और मानवीय विपदा को एक जगह संग्रथित कर दिया गया है जिसमें प्राकृतिक विपदा के माध्यम से मानवीय शोषण की पहचान सम्भव हुई है। यह कविता जहाँ केदार नाथ सिंह के 'बाढ़ से घिरे हुए लोग' (यहाँ से देखो) से जुड़ती है, वही अरुण कमल के 'उम्मीद' (सबूत) से भी जुड़ती है। उम्मीद तो यहाँ पर भी है, किन्तु इसमें नदी के बहाव के बरअस्स बहुत कुछ के टूटने की आवाज भी आती है। केदार जी की कविता ग्रामीण जनता के संघर्षशीलता को आधार बनाती है जिसमें संघर्ष का सहज उच्छ्वास है। वह एक प्रक्रिया के रूप में आता है, जो अरुण कमल तक में मिलता है। लेकिन वीरेन में यह मानवीय शोषण के विविध आयामों से जुड़कर आता है। यह कविता का नया चेहरा है, जहाँ वीरेन खड़े हैं। उनके अप्रस्तुत सदा ही शोषण के विविध पक्ष ही है- एक दृश्य है-

फिर वही लौट जाती है नदी

एक छिनार सकुचाहट के साथ

अपने संवैधानिक किनारों में

और मधुर मधुर बहने लगती है

जैसे लाठी चार्ज पर झूठ-मूठ शर्मिंदा

और गोली काण्ड को एक सही मजबूरी

साबित करने की कोशिश करती हुई।[55] (नदी : इसी दुनिया में)

'नदी' पर लिखी बहुत सी कविताएँ इस कविता के सामने बौनी होंगी, जिसकी ऊपर की अंतिम तीन पंक्तियाँ पर्याप्त हैं। बाढ़ की इस क्रियाशीलता को समझना आधुनिक मनुष्य के भीतरी उफान को समझना है।

आलोक धन्वा : जन्म -1950। 'दुनिया रोज बनती है' 1998 में प्रकाशित हुआ। इसमें तिथियों से पता चलता है कि 'गोली दागो पोस्टर' (1972), 'जनता का आदमी' (1972), भूखा बच्चा (73), शंख के बाहर (73), पतंग (76), कपड़े के जूते (79) कविताएँ 1980 के पहले की हैं जिसमें एक धधकता आक्रोश है। यहाँ यह रोचक है कि 79 से 88 तक एक गहरा अंतराल है और 90 तक केवल तीन कविताएँ है- भागी हुई लड़कियाँ (88), जिलाधीश (89) और ब्रूनो की बेटियाँ (89)। बाकी कविताएँ 90 के दशक की हैं और बहुत हैं। इनमें यह भी बड़ा रोचक है कि 90 के दशक तक आते आते आलोक धन्बा छोटी कविताएँ लिखते लगते हैं। आरम्भ की बड़ी कविताओँ से छोटी कविताओं के प्रति बढ़ता आकर्षण अनुभूतियों के सघन होते जाने का प्रतिफलन है या फिर कविताओं की संख्या का आकर्षण? यह भी प्रश्न विचारणीय होगा। हम तो इसे आलोक धन्बा की बुनियादी चिन्ता का विकास ही कहना चाहेंगे, जिसमें उनकी कविताएँ 'प्राकृतिक होते जाने की अवस्था' का परिणाम रही है। हम आलोक के कठिन कवि कर्म को इसी रूप में देखना चाहते हैं। नदियाँ कविता ऐसी ही कविता हैं जो 1996 में लिखी गयी है। इसमें कवि ने बड़ी कुशलता से बाजार के प्रभाव स्वरूप प्राकृतिक अवस्था के क्षरण की बात उठाई है जिसमें उनके बढ़े हुए सौन्दर्य बोध का पता चलता है-

और उस समय भी दिमाग

कितना कम पास जा पाता है

दिमाग तो भरा रहता है

लुटेरों के बाजार के शोर से।[56] (नदियाँ-1996)

यही प्रवृत्ति उनकी इसी समय की कविता 'बकरियाँ' में भी मिलती हैं और कह सकते हैं कि जैसे जैसे जीवन सतह पर शुष्क होता जाता है, वैसे वैसे उनकी कविता ऊपर उठती जाती है, जिससे वे उन तत्वों की पहचान कर रहे होते हैं, जिनके कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है। यह उनकी कविता को समय सापेक्ष और समय साध्य बनाता है। वे आलोक धन्बा जो 70 के दशक में सतह पर ही खड़े रहकर आक्रोश मूलक और आवाह्नपरक कुछ कुछ प्रतिक्रियाजन्य, कविताएँ लिखते हैं, 90 के दशक तक आते आते भाव के स्तर पर संघटित संवेदन को आधार बनाकर बेहद गतिशील कविताएँ लिखते हैं-

वे काफी नीचे के गावों से

चढ़ती हुई ऊपर आ जाती थीं

जैसे जैसे हरियाली नीचे से

उजड़ती जाती गरमियों में

लेकिन चरवाहे कहीं नहीं दिखे

सो रहे होंगे

किसी पीपल की छाया में

यह सुख उन्हें ही नसीब है।[57] (बकरियाँ)

बकरियाँ हरियाली की तलाश में ऊपर हैं। चरवाहे छाया की तलाश में नीचे हैं। एक का सुख ऊपर है। दूसरे का नीचे है। यही कविता की हरियाली है कि

जैसे जैसे नीचे सूखा (शोषण) बढ़ता है कविता ऊपर उठती है और फिर नीचे आती है- 'जीवन के किसी परिचित बरामदे में/ यह दुनिया की सैर करने का बाद बरामदे में आना है, न कि बरामदे में ही उछल उछल कर यह मान लेना की दुनिया की सैर हो चुकी है, क्योंकि पसीना आने लगा है। आलोक की बाद की कविताएँ इसीलिए महत्वपूर्ण हैं। इसी कारण से कवि रूढ़ होते उबाऊ जीवन में नये पन के साथ जीवन का संचार करता है जिसे इन कविता पंक्तियों में देखा जा सकता है-

'कितने दिनों से रात आ रही है/ जा रही है/ पृथ्वी पर/ फिर भी इसे देखना/ इसमें होना/ एक अनोखा काम है/ मतलब की मैं अपनी बात कर रहा हूँ। (अपनी बात - 1996)

यही अपनी बात कह पाने की कठिन जिद आलोक को एक महत्वपूर्ण कवि बनाती है और इसके लिए उनकी भाषाई आंतरिकता की पकड़ ही जिम्मेदार है। ऐसे स्थलों पर केदार नाथ सिंह की याद आती है। 'कपड़े के जूते' एक ऐसी ही कविता है। जूते की सामाजिकता का बयान करती यह कविता वर्जित प्रदेशों की उर्वरता को पकड़ने की कोशिश करती है, जिनका होना कविता को युगों तक महत्वपूर्ण बनाता है। यही स्थूल की गतिशीलता या कि 'गत्यात्मक स्थूलता' है, जिसे इस कवि वे साधा है-

कपड़े के वे जूते इतने पुराने हो चुके हैं

कोई कह सकता है कि

जहाँ वे जूते हैं, वहाँ कोई समय नहीं है-

कपड़े के वे जूते समय से बाहर झूल रहे हैं

मृत्यु भी अब उन जूतों को पहनना नहीं चाहेगी

लेकिन कवि उन्हें पहनते हैं

और शताब्दियाँ पार करते हैं।[38] (कपड़े के जूते - 1979)

इस प्रकार ऐसी कविताएँ, समय के बाहर होती हैं। शायद इसीलिए वे समय के भीतर होती है। इनके लिए 'स्मृति' का होना अनिवार्य होता है और वह भी आलोक धन्बा में है। लेकिन ये स्मृति के माध्यम से प्राचीन का वर्तमान से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत नहीं करते, जैसा कि बहुत से जल्दबाज कवि कर डालते हैं। वे स्मृति को स्मृति के आधार पर पकड़ते हैं और मूल्यांकन के लिए छोड़ देते हैं। इसी कारण इनमें स्मृति भी गतिशील है। एक जमाने की कविता (95) और रास्ते (96) ऐसी ही कविताएँ हैं। 'एक जमाने की कविता' मे बचपन की यादों के माध्यम से लोकभाव भूमि का मूल्यांकन मिलता है।

इनके सबसे साथ कवि ने 'स्त्री' पक्ष पर बहुत कविताएँ लिखा है। कहीं प्रस्तुत में। तो कहीं अप्रस्तुत में। 'रेलें' भी खूब आई हैं। स्त्री और रेलें, दोनों ही सभ्यता के बोझ को ढोती है। कवि ने यूँ एक दूसरे को मिलाया है। यूँ ये दोनों ही 'सांस्कृतिक अनिवार्यतायें' हैं, जिनपर बोझ लादने के लिए हम स्वतंत्र हैं। उम्मीदों के लिए भी स्वतंत्र हैं। लड़कियों पर लिखी कविता में भागी हुई लड़कियाँ (1988), छतों पर लड़कियाँ (1972), चौक (92), ब्रूनो की बेटियाँ (89), पगडंडी (96), कविताएँ महत्वपूर्ण हैं जिनमें चौक व पगडंडी में 'कामकाजी' औरतें के प्रति अनुराग पूर्ण उपस्थिति है। 'भागी हुई लड़कियाँ' में लड़की की संभावनाओं की तलाश है, जिसका मार्ग लड़की स्वयं एक समुदाय का हिस्सा बनने के रूप में देखती है जिनमें शारीरिक भागने से मानसिक भागना कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। छतों पर लड़कियाँ में लड़की सिर्फ एक 'वस्तु' के रूप में आती है। 'ब्रूनो की बेटियाँ' में इसी 'वस्तु' बनने का विरोध है और उसे बचाने की जिद है-

'वह क्या था उनके होने में

जिसे जलाकर भी

नष्ट नहीं किया जा सकता'।[59]

और विश्वास है "रानियाँ मिट गई/ लेकिन क्षितिज तक फसल काट रही/ औरतें/ फसल काट रही हैं।"[60]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोक धन्बा में बहुत कुछ के बचाने की जिद उनकी कविताओं को भी बचाती है। लोक जीवन के स्तर पर तो लोक संदर्भ सीधे नहीं आये हैं, लेकिन अप्रस्तुत लोक से ही लिये गये हैं जिनमें मामूली आदमी की पहचान है-

बाजी को तोड़ सकता है वही

जिसे आप मामूली आदमी कहते हैं,

क्योंकि वह किसी भी देश के झंडे से बड़ा है। (जनता का आदमी-1972)

ज्ञानेन्द्र पति : जन्म 5 अक्टूबर 1950, प्रकाशित संग्रह "शब्द लिखने के लिए ही यह कागज बना है" (1981) 70 के दशक के महत्वपूर्ण कवि। 'आँख हाथ बनते हुए' एक पुस्तिका भी प्रकाशित। **ज्ञानेन्द्र जी की कविताओं को ढूँढ़ना फुटपाथों की तलाश करनी है और जैसे फुटपाथों की तलाश कठिन है, वैसे ही कठिन है इनके कविता का अर्थ की तलाश।** यह राह में अनंत राहों की संभावनाएँ। जैसे आलोक धन्बा 70 दशक से आरम्भ कर 80 व 90 के दशक में संयम और अनुशासन को प्राप्त होते हैं, वैसे ज्ञानेन्द्र जी भी। यूँ आक्रोश के बाद सन्नाटा, फिर स्थिरता आती ही है। ज्ञानेन्द्र में यह स्थिरता भाव के स्तर पर लोक संदर्भों को उजागर करने के रूप में आती है जिनसे चरित्र विशेष का प्रस्फुटन होता

है, आलोक में यह व्यवस्था को समझने और स्मृति को बचाने के रूप में आती है। ज्ञानेन्द्र के भाव गाम्भीर्य में परिष्कृत लोक संदर्भों का अर्थ यूँ खुलता है।

ज्ञानेन्द्र **साठोत्तरी हिन्दी कविता के सबसे ताजा कवि हैं, इसलिए कि वे बासी पदार्थों पर पानी छींटा मार मारकर ताजा का मोह, या वितंडावाद नहीं पालते।** उनकी उपस्थिति हिन्दी कविता में एक नूतन अर्थ संधान करने वाले कवि की तरह है, जो शब्द संधान के माध्यम से हमेशा कुछ सीखता है। केदार नाथ सिंह से लेकर अरुण कमल तक जिस 'भाव संवेदनाओं की अभ्यासात्मकता और तत्सम्बन्धी अभिव्यक्ति की अभ्यासात्मकता' (मुक्तिबोध - समीक्षा समस्याएँ) के बासीपन का शिकार होते देखे जा सकते हैं, ज्ञानेन्द्र उससे सर्वथा मुक्त हैं, बावजूद इसके कि लोक जीवन के मर्म को उद्घाटित करना उनका भी उद्देश्य है। सर्वथा अछूत को छूना, फेंके गये को ढ़ोना, त्याज्य को उपयोग्य बनाना ही इनकी कविता का उद्देश्य है और 1981 के काव्य संग्रह के बाद 1996 से 98 के बीच की प्रकाशित कविताओं तक में इसे देखा जा सकता है। ये, *अन्य कवियों की तरह वर्जित प्रदेशों से होते हुए यात्रा नहीं करते, बल्कि वर्जित प्रदेशों में यात्रा करते हैं और जैसा कि है वर्जित प्रदेशों का वैविध्य ही इनकी हर कविता को अलग बनाता है।*

'शब्द प्रसरण' ज्ञानेन्द्र की कविताओं की अद्भुत ताकत है, जो बाद की कविताओं में और भी बढ़ा है। कविता इनके शब्दों की गूँज में होती है। वह आपको ठहरने के लिए बाध्य करती है। उसे आप आसानी से नहीं पढ़ सकते। वह आपको रोकती है, जैसे कि वर्जित प्रदेश आपको रोकते हैं, यदि आप उसके सौन्दर्य को समझना चाहते हैं। इसे न समझने का परिणाम ही है कि वे लोग इन पर तत्समता का आरोप लगाते हैं। यदि ये तत्समता है तो फिर मुक्तिबोध की कविताएँ और रेणु की कहानियाँ व उपन्यास भी तत्समता युक्त हैं, क्योंकि वे भी आपको रोकते हैं। वास्तव में कुछ जल्दबाज

लोगों के सरल मस्तिष्क की ही यह उपज है जो ऐसा कहते हैं। हम तो कहेंगे, कि अच्छी रचना वह है, जो हमें रोकती है, क्योंकि तभी हम उसके साथ अपने आपको भी पढ़ सकेंगे। ज्ञानेन्द्र में यह विलक्षण है, क्योंकि तद्भव व धुर ठेठ शब्दों का प्रयोग इसे बल प्रदान करता है। 'पूछती है माँ' जैसी संग्रह की पहली ही कविता से लेकर जून 98, के साक्षात्कार में प्रकाशित 'खजुराहो' कविता तक में इसे देखा जा सकता है, जो आगे बढ़ता ही गया है। इस शिल्प के माध्यम से कवि अपने को समय में फैलाता है जिससे जड़ों के प्रति उसकी गहरी ललक का भी बोध होता है। 'शब्द' ज्ञानेन्द्र में संदर्भ को पकड़ते नहीं, बल्कि खोलते हैं जिनकी यात्रा लम्बे समय में, लम्बे समय तक होती है। यही मुक्तिबोध की भी विशेषता है। मुक्तिबोध में ऐसी पंक्तियाँ व शब्द खूब मिलते हैं- 'वह दृश्य क्षणेक बिला न सका', (हे प्रखर सत्य-एक); यहाँ चरित्र विकास दृष्टि की संगति से है असंग निज वेदना सृष्टि की संगति से हैं' (भूरी भूरी खाक धूल)। **यूँ ज्ञानेन्द्र व मुक्तिबोध शब्द चिंता के धरातल पर एक हैं। दरअसल ज्ञानेन्द्र सीखते मुक्तिबोध से हैं, प्रभावित निराला से हैं। अतः इन्हें बगैर निराला व मुक्तिबोध को समझे समझना कठिन है, क्योंकि निराला के उठान और मुक्तिबोध के फैलाव से ही ये कविताएँ विरचित हैं।**

इसी कारण इनमें जड़ सौन्दर्याभिरुचि का प्रतिकार मिलता है। 'खजुराहो' कविता में इसे देखा जा सकता है। एक बिल्कुल नया अंदाज है इसकी मूर्तियों को देखने का। शायद ही कोई कवि हो, जो उत्कीर्णित शरीर-सौन्दर्य से हटकर उसको स्वरूप देने वाले हाथों तक पहुँचा हो। उस सौन्दर्य को पकड़ा हो, जिसके इस रूप के पीछे कई कुरूप हाथ हैं। ज्ञानेन्द्र ने इसे साधा है। अपने शब्द-प्रसरण के माध्यम से, अपनी भाषाई आंतरिकता के कौशल के माध्यम से, जिसके फलस्वरूप वे सम्पूर्णता के सौन्दर्य

को देखते हैं। चाहे वह पृथ्वी के किसी भी कोने में उगा हो-

'कि तभी एक प्रणय मुद्रा से फूटकर प्राणोर्जा/ किरणों सी घुलती है रुधिर में/ और हमें छूते हैं/ शिल्पी हाथ/ समय के पार से/ घठायी उँगलियों वाले होकर भी कोमलतम छुवन वाले/ इन देहों के शिल्पी हाथ/ जो आज न होकर भी/ हमारी आत्मा के शिल्पी हुए जा रहे हैं/ एक मुकुट की ओट में छिप गये हैं उनके नाम इससे क्या/ उत्कीर्णित वक्षों की सुघड़ गोलाइयों में/ उन्हीं के अंगुलि चिन्ह धड़कते हैं/ अँकते हमारे उन्मीलित वक्ष पर भी/ टँकते उनकी टाँकी के टंकन।[61]

इसी कविता में कवि मानो एक लम्बी थकान के बाद गहरी साँस लेता हुआ आश्वस्त होता है और कहता है-

कभी इस स्मृति के जगते

औचक लगता है

कि सौन्दर्य का अपना एक महादेश

अपना एकदेश होता है जरूर

पर उसकी अपनी पृथ्वी भी होती है

पूरी पृथ्वी का अपना होता है सौन्दर्य, पृथ्वी के किसी कोने में उगा हो वह/

ज्ञानेन्द्र को समझने के लिए इस सौन्दर्यबोध को समझना बेहद जरूरी है। इसमें आप किसी की उपेक्षा नहीं कर सकते। **यह सौन्दर्य का बढ़ता लौकिकीकरण है जिसे कवि ने साधा है और जो साठोत्तरी हिन्दी कविता में लोक सौन्दर्य का मूल कारण है।** ज्ञानेन्द्र में यह अचानक आया भी नहीं है। इसके संकेत आरम्भिक कविताओं में भी मिलते हैं। जैसे 'बनता पुल', 'फुटपाथ पर नन्हें जूतों की एक दुकान', 'उनके सपनों का रंग मैं जानता हूँ', 'कुत्ते की अँगड़ाई', (सभी संग्रह

से) से लेकर 'एक मलिन पोटली नहीं, एक मुट्ठी जिंदगी' (वागर्थ : दिसम्बर - 96), यह खजुही कुतिया' (वागर्थ : दिसम्बर - 96) और 'दो नन्हें मोजे' (सबरंग-98) तक में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इसी ने कवि को वह दृष्टि दी है कि इस पार से उस पार को देखता है जैसे- 'धुँए के पेड़ की तरह उगी है' (जनसत्ता-सबरंग-96) और 'दो नन्हें मोजे' (सबरंग-98)। 'बनता पुल' में पुल के भीतर की जिंदगियाँ दिखायी पड़ती है, जो केदारजी के 'माँझी के पुल' की याद दिलाता है। 'उनके सपनों का रंग जानता हूँ' कविता फुटपाथ की उस जिंदगी को पकड़ती है, जो इस चकाचौंध में ओझल हो रही है, लेकिन उसकी अपनी जिंदगी है, जिसमें राख और आग से बुने सपने हैं। उनकी 'गठरी' कवि के लिए 'नकली तमंचा है और असली क्रोध'। यही 'गठरी' एक लम्बे समय के बाद 'एक मुट्ठी जिंदगी' का विषय बनती है, जो इंसानी जिंदगी का जाला है, 'जिंदगी के यातायात के सिरहाने घर घर घूमने वाली वह एक बेघर जिजीविषा चिम्मड़' है। ज्ञानेन्द्र कुत्ते की अँगड़ाई में भी सौन्दर्य देखते हैं जिसमें 'बनती वह उमंग जो कुत्ते को हवा के आगे-आगे लिए चलती है' और जिसकी परिणति 'खजुही कुतिया' (96) जैसी कविता में होती है, जिसके माँ बनने पर कवि विमुग्ध है। कहता है 'वह कुतिया-मानवी नहीं लेकिन मानवीय-एक माँ-वक्ष आँचल की तरह फैला/ उन आँखों में/ मेरे आगे।' यह ही है लोक सौन्दर्य का खुरदुरापन। खुरदुरेपन का लोक सौन्दर्य। जो यह बतलाती है कि कविता के लिए दर्शन नहीं, दृष्टि चाहिए। पहचान नहीं अहसास चाहिए। चिन्हित नहीं, चीन्हने की प्रवृत्ति चाहिए। इससे ही कविता अपने विषय के लिए भी Accessible बनती है। **इस रूप में ज्ञानेन्द्र की मौलिकता यही है कि कविता के जो विषय हैं, कविता उनके लिए accessible है। यह 'विषयगत प्रशस्तता' ही इनकी विशेषता है, जिसके परिणाम स्वरूप कविताएँ भीतर से फैलती हैं (जड़ों) और बाहर से उभरती है।**

दरअसल ज्ञानेन्द्र की हर कविता से एक रूखड़-बाखड़ चेहरा झाँकता है, जिसका अंकन उसी के आधार पर करते हैं। ज्ञानेन्द्र की यही विशेषता कविता को आरोपित होने से बचाती है और जैसा कि हमने आरंभ में ही कहा, फुटपाथ की जिंदगी को पूरी निजता से पकड़ने के कारण उससे अनेक राहें भी निकलती हैं और लोक व शहर के संधि स्थल का पता भी चलता है। इन्हीं चेहरों से उनके चरित्रगत वैशिष्ट्य का पता भी चलता है और यह जानना बड़ा रोचक है कि 80 के दशक में 'चरित्रों' को आधार बनाकर अपने समकालीनों में सबसे अधिक कविताएँ इन्होंने ही लिखी हैं। इनके चरित्र केदारजी के चरित्रों की परम्परा में विकास पाकर भी अलग हैं, क्योंकि ये दुर्लभ चरित्रों के चितेरे कवि हैं। ये फुटपाथ से धीरे धीरे उभरते हैं और समूचे समाज में फैल जाते हैं व जिनमें 'खून को होने दो गर्म' तक का आक्रोश भी है (शहर की रात में आग-संग्रह में), हालाँकि जब चरित्र आलक्षित थे, तो आक्रोश था, किन्तु जैसे जैसे आगे के विकास में ये लक्षित होकर 'विशेष' के रूप में आने लगे, यह आक्रोश दबता गया है। अब उसमें स्थितियों की मार्मिक अभिव्यंजनाएँ मिलती हैं। 'शहर की रात में आग' कविता में आरंभिक स्थिति के दर्शन होते हैं। बनानी बनर्जी, राम खेलावन, अपना बधवा, से होते जब ज्ञानेन्द्र 1996 की 'एक कर्णप्रिय कीर्तिकथा' के खूँटकढ़वा तक पहुँचते हैं, तो यह स्पष्ट होता है, क्योंकि अब आक्रोश प्रतिक्रियाजन्य न होकर सर्जनात्मक होता है। वह स्थिति से इतर चित्रित नहीं होता। अपना बघवा में कवि विद्रोह का संकेत करता है "जमीन पर गिरने से पहले बघवा के कण्ठ में फँसी गुर्राहट भी उन्होंने ही सुनी थी।" यानी यह कि ये कविताएँ गुर्राहट को तो दर्ज करती हैं लेकिन इसके आगे नहीं बढ़ती।

इन्हीं चरित्रों के बीच समय के अंतर्विरोधों का पता भी चलता है जिस कारण से कभी कभी लिखे गये विषयों पर भी कविताएँ लिखते हैं। 'मशरूम वल्द कुकुरमुत्ता'

(जुलाई 96 आजकल) एक ऐसी ही कविता है और यह महज संयोग नहीं है कि जहाँ एक ओर ज्ञानेन्द्र निराला द्वारा लिखे गये विषय पर अपनी कविता लिखते हैं, वहीं 'खूँटकढ़वा' जैसे चरित्र को पहली बार जगह भी देते हैं। हम देख सकते हैं कि इनके पुरानेपन में कितना नयापन है और नयेपन में कितना पुरानापन है। यूँ 'व्यक्ति' के विविध रूपों की अभिव्यक्ति करती ये कविताएँ बेहद महत्वपूर्ण बन पड़ी हैं। इसे यह भी कह सकते हैं कि ये कविताएँ उन कविताओं से बेहद अच्छी हैं, जो लोक के शब्दों व संस्कारों को दत्त भाव से चुराकर कविताएँ गढ़ते हैं। इस प्रकार ज्ञानेन्द्र की संस्कृत निष्ठता भी (यदि आप ऐसा मानते हैं?) उन लोगों की लोकधर्मिता से बेहद अच्छी हैं जो कविता को सड़ी आलू की तरह इस्तेमाल करते हैं और सड़ी आलू की तरह कविता में बने रहना चाहते हैं।

'रामखेलावन' कविता में कवि जब कहता है-

'आदमी तक पहुँचना चाहते पेड़ों को आदमी से जोड़ना।

धन्धे से कुछ ज्यादा है',

तब यह स्पष्ट होता है कि यह 'जोड़' बाजार के तर्क से संभव नहीं है। इसके लिए 'भावना' की जरूरत है और यह बाजार से पैदा नहीं की जा सकती। बाजार, हमारे संस्कृति को इस हद तक नियंत्रित करता है कि हम कुकुरमुत्ता तक को पैदा करने लगे हैं। अर्थात् उसे हम उसके प्राकृतिक स्वरूप से वंचित कर रहे हैं। प्रकारांतर से यह उत्पादन का उत्पात ही है। 1941 से 1996 तक की इस मानसिकता को पकड़ने के लिए ही कवि ऐसा विषय चुनता है। कवि तो पहले इस 'मशरूम' को कौतूहल से देखता है। फिर धीरे धीरे उसके स्वरूप को पहचानता है और फिर वह खिसिया उठता है-

'मैंने देखा उसे

जमीन से उठकर जिसका दिमाग सातवें आसमान पर चढ़ा

अमीरों का मुँह लगा।

कहा पत्नी को :

सुनो, जल्द पकावो इसे

नहीं तो जाऊँगा कच्चा चबा।[62]

यही परिवर्तन को लक्षित करना उनकी कविता 'संक्रान्ति बेला' (सित0 97 साक्षात्कार) का भी उद्देश्य है जिसमें कवि सबसे पहले ऐसे 'पर्वस्नान' का मजाक उड़ाता है और कहता है 'संक्रांति का सूर्य ही इस तरह/ चमका सकता था असंदिग्ध/ एक मलिन सामाजिक उपयोगिता'। (कवि केदार नाथ सिंह की कविता 'पर्वस्नान' याद आती है) इसके बाद लगातार नष्ट होते मानवीय सभ्यता और सिर फैलाते भौतिक सभ्यता के बारे में एक वृषभ के माध्यम से कहता है-

'अरे। अमरों और मरे हुओं को छोड़ो

खटने वालों और खटालों को

नगर की चौहद्दी के बाहर धकेला जा रहा है

कल के बच्चे जानेंगे, गाय के दुधगर थनों से नहीं

पालिथिन के दुधभर- कि आह दुधहर-पैकिटों से आता है दूध...।[63]

इस अकेली पंक्तियों से बृद्ध साँड़ फुटपाथ की जिन्दगी का प्रतीक बनकर आता है और उस दृश्य को उपस्थित करता है जिसमें एक ओर विशाल भवनों की संख्या बढ़ रही है और दूसरी ओर फुटपाथ के लिए क्रेनो की सहायता से लेकर सुन्दरीकरण किया जा रहा है। यह ही है 'विचित्र चित्रात्मकता' और 'चित्रित विचित्रता'। जिनसे आँखें भर आती हैं। *ज्ञानेन्द्र मानों फुटपाथ को 'हींड़ते' हैं जिस कारण से कविता*

को 'मथने' की जरूरत नहीं पड़ती। इस प्रकार वे कबीर व निराला के साथ खड़े हैं जो जीवन को 'हींड़ते' हैं और कविता लिखते हैं। तुलसी से निजता प्राप्त न कर पाना भी यहाँ रोचक है, क्योंकि तुलसी चूँकि जीवन को मथते हैं, जिससे उसमें एक क्रमिकता का संचार करते हैं और सामंजस्य ढूँढते हैं। वे विशृंखलित नहीं, शृंखलित कवि हैं। जबकि कबीर विशृंखलित है। निराला और ज्ञानेन्द्र भी विशृंखलित है। शायद इसी कारण दोनों में अभिनवता है और रूढ़ि-मुक्ति का प्रयास भी। 'संक्रान्ति बेला' कविता इसका प्रमाण प्रस्तुत करती है जिसमें 'गाड़ियों के गुर्राने और आदमियों के बर्राने'से लेकर 'गहमागहमी से लेकर सहमासहमी' तक के दृश्य उपस्थिति है जिनसे शहर का लोक विधान और लोक के शहरी विधान का पता चलता है। यह दूसरे शब्दों में 'शहर की पाशविकता और पशु की शहरीयता' को भी उजागर करता है जिसमें जहाँ एक ओर पशु की जिंदगी ही बिलाती जा रही है, दूसरी ओर जिंदगी (गरीबों की खास तौर पर) ही पशुवत होती जा रही है। गरीबों की जिंदगी जैसे जैसे छोटी हो रही है, अमीरों की जिंदगी वैसे वैसे बड़ी हो रही है। कवि ज्ञानेन्द्र ने समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र को यूँ एक जगह मिलाया है, वह भी बगैर किसी काव्य शास्त्र के। इस परिवर्तन को पकड़ना कवि के लिए चुनौती है, तो आलोचक के लिए इस कवि को पकड़ना और भी बड़ी चुनौती है। परिवर्तन को लक्षित करना, यूँ ज्ञानेन्द्र का प्रमुख लक्ष्य बनता है, जो न केवल Horizontal है, बल्कि Vertical भी है। Vertical परिवर्तन तो कवि के यहाँ दैनिक क्रिया व्यापार के रूप में खूब आते हैं। 'पेड़ बनता पौधा' (संग्रह) कविता महत्वपूर्ण है, जिसमें 'बकरी व पेड़' के बीच के सम्बन्धों को बड़े ही नाटकीय व मनोरम ढंग से दर्शाया गया है। बकरी पहले पेड़ खाती है, बाद में वही पेड़ उसे छाया देता है। इसका होना ही वास्तव में विकास कहलाता है, ऐसा कवि कहना चाहता है और यह एक बड़ी आत्मानुभूति है। जीवन का यही सहज

क्रिया व्यापार 'बतख के बच्चे' में भी मिलता है जो हमें नागार्जुन व त्रिलोचन की याद दिलाता है। इस रूप में ज्ञानेन्द्र दैनिक से लेकर कठोर क्रिया व्यापारों के कवि ठहरते हैं। इसी दैनिक क्रिया व्यापार उनकी कविताओं में 'मौलिक उद्भावनाएँ' मिलती है जो 'उद्भावक मौलिकता' से निसृत है। परिवर्तन को लक्षित करना ही 'लक्षित परिवर्तन' का संकेत देना है जिसके लिए अलग से कुछ कहना नहीं होता। परिवर्तन और विषंगतियों का मिला जुला रूप उनकी अन्य कवितों का ध्येय भी रहा है जैसे 'वृक्ष विदाई', (पहल-52, 1996) जिसमें सभ्यता का उत्कर्ष, प्रकृति के अपकर्ष का कारण है, 'धुएँ के पेड़ की तरह उगी है' (जनसत्ता-सबरंग-1996) जिसमें पूँजीवाद का उगलता जहर है, 'विध्वंश के बाद' (पुरुष 92) में मानव संस्कृतियों को विनष्ट किये जाने के प्रति गहरा संशय और विक्षोभ है और अपने समय पर गहरी टिप्पणी है (बेघर हो गया है जो हमारे अंत:करण के गर्भगृह में रमने वाला देवता/ उसे कितने बरस का वनवास दिया है हमने/ वह कब लौटेगा अपनी अयोध्या में)। 'युद्ध के विरुद्ध' (दस्तावेज-50) खाड़ी युद्ध पर लिखी कविता है, जो विश्व के विशालतम राष्ट्र अमेरिका के बर्वर कृत्य को उजागर करती उस 'लिबर्टी' के संस्थापक राष्ट्र के अंतर्विरोधों पर तीखा प्रहार करती हुई कहती हैं- "वह शाम की नहीं शर्म की लाली है/ और वह पुत रही कालिख केवल रात की नहीं है।" 'यह पृथ्वी क्या केवल तुम्हारी है' (अक्षरपर्व-97) में पृथ्वी को नष्ट करने वाले 'परीक्षण शक्ति' के विरुद्ध आवाज है (इस पृथ्वी पर मेरा अधिकार/ तुमसे कम तो नहीं); 'दिनांत पर आलू' (साक्षात्कार : सितम्बर 92) में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की सर्वग्रासी प्रवृत्ति की निंदा है। मजे की बात है कि ये सारी कविताएँ 'संग्रह' के बाहर की हैं और 90 के दशक की हैं। इनमें कुछ तो तात्कालिकता की उपज हैं, तो कुछ तल्लीनता, की लेकिन जीवन के बुनियादी राग को बचाने की चिंता सभी में है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज जब बहुत सी कविताएँ, कवि और आलोचक की निगाह से लिखी जा रही है, ज्ञानेन्द्र अकेले ऐसे कवि हैं, जो अपनी निगाह पर भरोसा करते हैं। उनका भावनात्मक नियंत्रण उनके बाहर नहीं है, जबकि बहुतों का बाहर से ही है। इस रूप में इनकी कविताएँ किसी भी प्रकार की निश्चितता के विरुद्ध जाती हुई जड़ों के प्रति गहरी निष्ठा व्यक्त करती है। इनको किसी घिसे-पिटे प्रतिमान से मूल्यांकित नहीं किया जा सकता। इनकी चिंता का मूल बिन्दु वह खुला जगत है, जो नित परिवर्तनशील है, अशेष है और जिनकी पकड़ सामान्य नेत्रों से बाहर है। इस रूप में ये पूर्णकालिक कवि ठहरते हैं और अपने समकालीनों में इसीलिए अलग हैं।

वास्तव में ज्ञानेन्द्र की कविताएँ **गरीब की गठरी की तरह हैं जहाँ सब कुछ खोलने के बाद भी कुछ बचा रह जाता है जिसे गरीब की आखों में देखा जा सकता है।** कवि स्वयं कहता है "पोटली नहीं, एक मुट्ठी जिंदगी/ चढ़ती-उतरती सीढ़ियों पर/ जिंदगी के यातायात के सिरहाने/ घर घर घूमने वाली वह एक बेघर जिजीविषा चिम्मड़"। (एक मुट्ठी जिंदगी : वागर्भ : दिसम्बर : 96) ऐसा इसलिए भी है कि ज्ञानेन्द्र का कवि लोक जीवन में रचे बसे अनबूझ शब्दों को अर्थ-संधान की इच्छा से खींचते है, जिससे उसका परिधान बदल जाता है और कतिपय लोग सोचते हैं कि यह भाषाई व्यवधान है। यह गलत है। वास्तव में 'शब्द-प्रसरण' ही, जैसा कि हमने कहा, इस कवि को अपनी परम्परा से जोड़ती है। बहुत कवि हैं जो लिखते हैं, जोड़ते नहीं। स्वयं अरुण कमल में यह कमजोरी है। उनमें जो मोहक ठंढापन है, वह कविता को पिघलने नहीं देता है। ज्ञानेन्द्र में विस्फारित गरमाहट है, जिससे कविता पसरती है। **अरुण कमल की कविता उभरती है, ज्ञानेन्द्र की पसरती है। अरुण खतरे नहीं लेते। यह उनका स्वभाव है। ज्ञानेन्द्र खतरों से खेलते हैं। यह उनकी**

आदत है। ज्ञानेन्द्र निहारते हैं। अरुण विचारते हैं। ज्ञानेन्द्र विचरते हैं। अरुण टहलते हैं। ज्ञानेन्द्र निहारते हैं, क्योंकि विचरते हैं। अरुण विचारते हैं क्योंकि टहलते हैं। ऐसे में डा0 परमानंद श्रीवास्तव की 'पूर्वग्रह' में की गई टिप्पणी पर पुन: विचारने की जरूरत है जब वे कहते हैं कि ज्ञानेन्द्र 'वृक्ष संवेदना' के कवि हैं।

अपने समय के इन दो महत्वपूर्ण कवियों की तुलना बेहद दिलचस्प है और यह भी कि साठोत्तरी हिन्दी कविता के मुहाने पर स्थित केदारनाथ सिंह की कविता से ये कहाँ भिन्न हैं। हम एक एक कविता का उदाहरण लेते हैं। टूटा हुआ ट्रक (केदार जी), एक टैंक (ज्ञानेन्द्र), नये इलाके में (अरुण) की चर्चित कविताएँ हैं। केदार जी और अरुण कमल के यहाँ सबसे बड़ा संकट 'पहचानने' का है, क्योंकि स्मृति पर भरोसा नहीं है, क्योंकि दुनिया रोज बनती है। इसे ये दोनों कहते हैं जैसे कोई Hypothesis हो। यह कहने के बाद फिर उसको बुनते हैं। केदार जी 'ट्रक' का आलम्ब लेते हैं और अरुण पीपल के पेड़, ढहा हुआ घर आदि का सहारा लेते हैं। कह सकते हैं कि अरुण पीपल के पेड़ का आलम्बन लेते कहीं न कहीं केदार जी का भी सहारा लेते हैं। लेकिन ज्ञानेन्द्र इसे कहीं कहते नहीं। हालाँकि एक टैंक, उनके लिए भी, पुरानेपन के कारण, पहचानने का आलम्ब बनता है और इसके लिए पहले वे उस स्थिति का सन्नाटा बुनते हैं और फिर इस सन्नाटे में जीवन की चहल पहल देखते हैं। वे कहते हैं "गाँव से आई दो विस्मित स्त्रियाँ उसे निहारती है/ एक बच्चा ईंट से उसक ललाट पर निशाने लगाता है/ बारूद उगले वाली लम्बी नली के मुँह से/ उड़ती है एक चिड़िया/ वहाँ उसका घोंसला है"। इस प्रकार केदार जी व अरुण कमल की कविता जहाँ अपनी मूल संवेदना में अंतर्मुखी है, वहीं ज्ञानेन्द्र की बहिर्मुखी है। केदार जी व अरुण कमल की सबसे बुनियादी चिंता व संकट भी 'पहुँचने' का है "ज्ञानेन्द्र का संकट पहुँचाने का है, उसे जो कविता के विषय हैं। तब ठीक ही है कि पहले

दोनों जहाँ उद्देश्य से नियंत्रित है, ज्ञानेन्द्र इससे मुक्त है।

जाहिर बाद है पहले दोनों जहाँ सभ्यता से आतंकित व आक्रांत हैं, ज्ञानेन्द्र उसके मर्म को उद्‌घाटित करते हैं। यूँ कई कविताओं में केदार जी व ज्ञानेन्द्र अपने अपने ढंग से एक जगह है जैसे देहमुक्ति (केदार जी) व संक्रांति बेला में (ज्ञानेन्द्र); माझी का पुल (केदार) और बनता पुल (ज्ञानेन्द्र); बैल (केदार जी) और संक्रांति बेला (ज्ञानेन्द्र) का साँड़। लेकिन केदार जी व ज्ञानेन्द्र का अपना अपना अंदाज है और अपने अपने चरित्र भी।

इसी के साथ ज्ञानेन्द्र व अरुण की आपसी तुलना भी महत्वपूर्ण है और जैसा कि हमने कहा है, अरुण कमल के लिए केदार जी की कविताएँ कठिनाई उत्पन्न करती है, लेकिन ज्ञानेन्द्र इससे मुक्त है। ऐसा इसलिए कि अरुण लगातार व्यवस्था की ओर बढ़ते हैं और ज्ञानेन्द्र लगातार अव्यवस्था की ओर। इस प्रकार पहला जहाँ कविता खाने में अवस्थित होकर व्यवस्थित होता है, दूसरा कविता खाने से बाहर होकर अव्यवस्थित होता है। अरुण सुलभ के व्यवस्थित कवि हैं, ज्ञानेन्द्र दुर्लभ से अव्यवस्थित कवि! अरुण का मार्ग उपलब्ध (उपलबिध का भी) के बीच से होकर जाता है, ज्ञानेन्द्र अनुपलब्ध के बीच मार्ग तलाशते हैं। अरुण हिन्दी कविता को बढ़ाते हैं, ज्ञानेन्द्र फैलाते हैं, जिससे टेढ़े-मेढ़े चलकर छूटे को बटोरते दुर्गम मार्ग अपनाते हैं। एक बाँधता है, दूसरा बटोरता है। एक होल्डाल सम्भालता है, दूसरा गठरी! एक शब्द-साधक है, दूसरा शब्द-शोधक! यूँ दोनों ही लोक मन के सहचर हैं और सहयात्री भी।

इसके साथ यह भी कि अरुण जहाँ अपने को खींच तान कर अपनों से बड़ा करते हैं, ज्ञानेन्द्र बिल्कुल अलग पड़कर बड़े हैं। एक पहले कवि-परम्परा की लम्बाई मापता है, फिर उसके निकट खड़ा होकर अपना विकास करता है, दूसरा इससे मुक्त है और बगैर किसी की लम्बाई मापे अलग से खड़ा होकर अपना काम करता है।

एक धारा में मुक्त है, दूसरा धारा से मुक्त है। एक कविता का नेता है, दूसरा कार्यकर्त्ता। एक औरों को अपने में घुसाकर बोलता है, दूसरा अपने को औरों में घुसाकर कहता है। यूँ दोनों ही अपने को नष्ट करके भी औरों का उपकार करने हेतु कृत संकल्प हैं जो इन्हें सीधे निराला से जोड़ती है।

अरुण कमल : 15 फरवरी 1954 को जन्म। तीन कविता संग्रह : 'अपनी केवल धार (1980), सबूत (1989) और 'नये इलाके में' (1996)। अपने समय के सर्वाधिक चर्चित कवि। कई अलंकरणों से विभूषित। आपकी कविता यात्रा संकलन के रूप में 'अपनी केवल धार' से आरम्भ होकर अब 'नये इलाके में' पहुँच गई है जो संभावनाओं के साथ चुनौतियों का भी इलाका है। देखिये, आगे की यात्रा कैसी होती है, क्योंकि लोक जीवन की गहरी सम्पृक्तता वाले कवि की व्याख्या राजनीति के गहरे आशयों के संदर्भ में होने लगी है और मजेदार बात यह है कि कवि मौन है। यूँ यहाँ भी नाम पर मत जाइये, अन्यथा 'अपनी केवल धार' की हालत होगी, जिसकी केवल दो पंक्तियाँ समूचे काव्य संग्रह के लिए खतरा बन गई हैं। वैसे भी 'नये इलाके में' शीर्षक कविता किसी नयेपन का अहसास नहीं कराती। बस वह पहचान के संकट को अभिव्यक्त करती केदार नाथ सिंह की कविता 'टूटा हुआ ट्रक' की याद दिलाती हैं। अत: जरूरी है शीर्षक से इतर सतह का मूल्यांकन, क्योंकि शीर्षक, आकर्षक होता ही है।

सच बात तो यह है कि ज्ञानेन्द्र पति की कविताओं को पढ़ने के बाद अरुण कमल की कविता ऐसी लगतीहै जैसे किसी बीहड़ प्रदेश से निकलकर समतल प्रदेश में आ गये हों या कि फुटपाथ से निकलकर सड़क पर आ गये हो, या कि गठरी छोड़कर अटैची पकड़ लिए हों ...। लेकिन ऐसा कहना अरुण कमल के महत्व को नकारना

नहीं है, बल्कि उनके ठंढ़ेपन के नीचे की दुनिया को झाँकना है और यह भी देखना कि उनकी कविताओं के शब्द कहाँ से निसृत है या कि उनके भीतर कौन सा चेहरा है। यूँ भी केदार नाथ सिंह को पढ़ने के बाद उनकी कविताएँ थोड़ा खटकती अवश्य है, चाहे जितना भी बड़ा आलोचक उनके कठिन जीवनधर्मिता की बात कर रहा हो। और यह भी कि प्रकारांतर से केदार नाथ सिंह की तरह अरुण कमल भी 'अभ्यासात्मकता' के शिकार होते देखे जा सकते हैं जिस कारण से लम्बे समय तक चलने वाली कविताओं के लिए यह सीमा अवश्य होगी। यूँ दोनों की मूल संवेदना गीतों के निकट होना भी शायद बाधक बन रहा हो!

बहरहाल अरुण कमल एक अत्यंत ही संवेदनशील कवि हैं और इनकी कविता का सौन्दर्य उसके गत्यात्मक विधान में मिलता है। विषय के रूपात्मक व गत्यात्मक दोनों ही पक्ष इनमें एक साथ उपस्थित होकर लोक सौन्दर्य का विधान करते हैं। नये संकलन 'नये इलाके' में तक आते सबसे बड़ा संकट पहचान का ही उत्पन्न होता है जो अपने जटिल संवेदना में अंधेरे का स्वरूप ग्रहण करता है। यह अँधेरा फिर चाहे प्रकृति का हो, या फिर सभ्यता की भौतिकता के आड़ का। कवि अरुण कमल इन सभी अंधेरे में से प्राय: ही रोशनी की किरण देख लेते हैं। (भला हो ऐसे अंधेरे का) इससे यह स्पष्ट है कि कवि वस्तुओं को पहचानते हुए ही पहचानता है। यह एक प्रकार से 'जड़ों के अंधेरे में या फिर अंधेरे की जड़ों में' जाना ही है जहाँ से रोशनी के कल्ले फूटते हैं।

वास्तव में पहचानने का संकट भीड़ होती जाती सभ्यता का संकट है जिसमें मनुष्य स्वयं भीड़ होता जा रहा है। सब कुछ तेजी में है, जिससे कहीं कोई ठहराव नहीं है। एक प्रकार ही हड़बड़ी सब जगह है और इसके संकेत अरुण कमल 'सबूत' संकलन में ही देने लगते हैं। पसन्द, छोटी दुनिया (दोनों 'सबूत' से) ऐसी ही कविताएँ हैं।

'छोटी दुनिया' में कहते हैं-

ऐसा ही होगा इस भीड़ भरे इलाके में

जहाँ इतनी दिक्कत से मिलता है एक कमरा,

और 'नये इलाके में' कवि कहता है-

इस नये बसते इलाकों में

जहाँ रोज बन रहे हैं नये नये मकान

मैं अक्सर रास्ता भूल जाता हूँ;

कोई आश्चर्य नहीं कि बाद में 'बोधिसत्व' कुछ ऐसी ही कविताएँ लिखते हैं- 'मैं अक्सर भूल जाता हूँ अपना हस्ताक्षर...।' यह भूलने की परिस्थितियाँ आदमी के सामने पहचान का संकट उपस्थित करती है, क्योंकि कहीं ठहराव नहीं हैं। कवि एक कविता में कहता है- 'इसमें उन जगहों का क्या कसूर/ फिर भी मुझे ऐसी जगहें पसंद नहीं/ जहाँ से होकर बसें गाड़ियाँ आये जायें केवल कभी रुके नहीं...' (पसन्द 'सबूत' संकलन से) ये जगहें क्यों नहीं पसन्द हैं, क्योंकि वे भीड़ भरी होती हैं, जिनमें आदमी नहीं होते। सिर्फ सामानें होती हैं। वे फिर चाहे ऊँची अट्टालिकायें हों या फिर काँच का बाजार, जहाँ स्तब्धता होती हैं, जीवन नहीं होता, क्योंकि जीवन का कोलाहल पहले भीड़ में बदलता है और फिर भीड़ सन्नाटे में। दरअसल अरुण हमेशा सन्नाटे को पकड़ते हैं और यह सभ्यता के क्षरण का सन्नाटा नहीं होता, बल्कि सभ्यता के वरण का सन्नाटा होता है। फिर उसमें किसी को पहचानना कठिन होता है, क्योंकि उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रभाव जबरदस्त होता है। चीजें जैसे जैसे बहुत व्यवस्थित होती जायेंगी, वैसे वैसे वे अपने मूल रूप से अलग होती जायेंगी और उसी मात्रा में उसमें आवाज की कमी भी होगी। अंत में एक सन्नाटा दीखता है और उस सन्नाटे में पहचानना मुश्किल होता है। सजीव व निर्जीव का फर्क समाप्त हो जाता है। यह अमानवीकरण

नहीं वि-मानवीकरण है, जिसे अरुण कमल की कविताएँ पकड़ती हैं। इसमें विरूपित मनुष्यता के दर्शन होते हैं जिसमें मनुष्य हालाँकि विकास की ओर बढ़ता है, लेकिन उसका स्वरूप लगातार विरूपित होता जाता है। यही सभ्यता संकट है। एक कविता में कवि ऐसा ही कहता है जिसमें ऊँचे होते मकान का दृश्य है जिसकी अंनिम मंजिल से कवि झाँकता है-

यहाँ से दिखते है घरों के आँगन मुँड़ेर

बरामदे भीतर रसोई तक

पर पहचानना मुश्किल है अपना ही घर

अपना ही मुहल्ला लगेगा अनजान

खुदाई में निकली किसी लुप्त सभ्यता का ध्वंसावशेष।[64]

यह ही सभ्यता की स्पंदनहीन ऊँचाई है। लगभग निरुद्वेग! निरुद्देश्य! रिक्त! अवसादपूर्ण! हाट (नये इलाके में) कविता भी कुछ ऐसी ही है जिसमें कवि इन सवको देखता घर लौटा, तो वहाँ पर उसका घर नहीं था। वहाँ ऊँची लौहकपाट युक्त ऊँची अट्टालिकायें आ गयी थीं। कवि अपने ही घर से विस्थापित। उसका घर ही पहचान के परे। और वह घर की बात करता है तब 'द्वारपाल हँसे- तुम किस जन्न की वात कर रहे हो।' भला हो ऐसी सभ्यता की गति का, जिसमें मनुष्य लगातार पहचान से परे होता अपनी 'निजता' ही खोता जाता है। यह ही इनकी कविता में भी 'बोझिल-प्राप्ति'; को उपस्थित करता है। प्रकारांतर से यह केदार जी व ज्ञानेन्द्र पति की उसी प्रवृत्ति का विकास है, जिसमें कवि ऐसी 'बोझिल प्रप्ति' को नकारता है जो पहचान का ही संकट उत्पन्न करती है। इसमें ही 'क्षय-बोध' का भाव भी छिपा हुआ है जो भाषा की आंतरिकता का सूचक है। 'सुख' कविता इसी दृष्टि से बेहद महत्वपूर्ण है

जो केदार जी के 'माझी का पुल' और ज्ञानेन्द्र के 'बनता पुल' से जुड़ती है। इसमें कवि 'मकान' के बारे में कहता है- 'सब कुछ है फिर भी कुछ नहीं'। क्या है, वह जो ऐसी स्थिति को लाता है। कवि कहता है-

जहाँ तुम्हारा शयन कक्ष है वहीं

ठीक उसके नीचे याद करो

कोई वृक्ष था जामुन का

नींव पड़ने के पहले

छोटी गुठली वाले जामुनों का वृक्ष

वही वृक्ष तुम्हें हिला रहा है।[65]

इसका संकेत इसी संग्रह की कविता 'दाना' में भी मिलता है और 'सबूत' संकलन के 'महात्मा गाँधी सेतु और मजदूर' में ही इसका आरम्भ हो जाता है जिसमें भाषाई आंतरिकता के शिल्प के माध्यम से कवि 'क्षय-बोध' को पकड़ता है। इसमें पुल बनाने वालों का जिक्र न होने पर कवि वैसे ही परेशान है जैसे कवि ज्ञानेन्द्र पति अपनी कविता 'खजुराहो' में परेशान है। (यह बात और है कि ज्ञानेन्द्र में जो तीव्रता है, वह अरुण में नहीं मिलती)। कवि अरुण कमल कहते हैं- 'पुल बन गया/ और देखते ही देखते उखड़ गया तम्बुओं का नगर/ रह गयी चूल्हों की ईंटें/ मिट्टी और कालिख में लिपटी/ खूँटों के छेद यहाँ से वहाँ तक/ कहाँ गये वे हजारों मजदूर?"। इसके साथ सबूत संकलन की कविता "मानुष गंध" भी देखी जा सकती है, जिसमें बगैर किसी भाषाई आंतरिकता के नष्ट होते घर की चिंता है जो ठूँठ होते जा रहे हैं। यह पुराने की ओर भागना नहीं, नये के गति को नियंत्रित करना भी है। कवि कहता है- "जो नया जीवन रच रहे हैं/ जो उठा रहे हैं नयी भित्तियाँ/ उनके ही जिम्मे हैं

खण्डहरों को बचाने का भार" और यह अभिलाषा है-

ये खण्डहर मनुष्यता के चरण चिन्ह

कटे बाँस की ठूँठ जड़ें

उगी हैं जिनसे आज की सबके नयी कोंपल

इनकी एक एक ईंट रहे जीवित।[66] (सबूत संग्रह से)

इस ठूँठ को नयी कोंपल की पृष्ठभूमि में देखना वास्तव में उपेक्षित की सर्जना को पहचानना ही है और यह कोई आश्चर्य नहीं कि यह 'ठूँठ' अरुण में बहुत आया है जो निराला की कविता 'ठूँठ' की याद दिलाता है जिसमें कवि कहता है "बैठा एक वृद्ध विहग/ कुछ याद कर"। वास्तव में अरुण कमल किसी वस्तु की हिफाजत उसकी अंतिम अवस्था तक करते हैं और उसी में वे सृजन का स्वरूप तलाशते हैं। यह किसी वस्तु को extinct होने से बचाने का उपक्रम ही उन्हें लोक जीवन को गहराई से समझने की दृष्टि प्रदान करता है और इस रूप में वस्तु की अंतिमता के कवि हैं जिसमें वे जीवन गंध पाते हैं। यह उनके नथुनों तक भरी रहती है जिस पर वे मुग्ध हैं। इसी में वे उम्मीद देखते हैं। इसी में उजाला देखते हैं। यही उनकी कविता की कुंजी है। यही उनकी कविता को प्राकृतिक व मौलिक बनाती है। यही ठूँठ कहीं 'भूसी' के महत्व को पहचानता है (संदर्भ 'भूसी की आग' - अपनी केवल धार), कहीं बाढ़ में बच्चे 'ठूँठ' को उम्मीद की तरह देखता है (उम्मीद कविता-सबूत से), कहीं यह ठूँठ हरा दस्ताना है जो जीरो माइल बताने का कार्य करता है (हरा दस्ताना सबूत), कहीं पेड़ काटने के बाद बचे हुए थम्भ को खूँटा बनाकर उसकी उपादेयता सिद्ध करनी है (निवृत्त : नये इलाके में), कहीं किसी वस्तु के मूल स्वरूप की पहचान करने की जिद में ठूँठ के पाने की बात है (हासिल- नये इलाके में), कहीं त्यागे हुए कुएँ के रूप में भी जल की तरह बचने की इच्छा है (शेष- नये इलाके में), कहीं

कोना के रूप में अंट शंट डालने की जगह है (कोना- नये इलाके में), जिसमें कोने को एक महत्व के साथ प्रस्तुत किया गया है। इस रूप में अरुण कमल ठूँठ जीवन नहीं, ठूँठ में जीवन तलाशते हैं और यह इनमें उतना ही महत्वपूर्ण है जितना ज्ञानेन्द्र में फुटपाथ। अरुण जैसे कवियों के माध्यम सेही वास्तव में वह शेष जीवन बच पाया है, जिसे अन्यथा त्याज्य माना गया है। इस रूप में इनकी कविता नष्ट होने की हद तक जीवन को बचाती है और स्वयं कहती है-

यह वो समय है जब

शेष हो चुका है पुराना

और नया आने को शेष है (यह वो समय- नये इलाके में)

आप देख सकते हैं कि एक ओर स्वयं को पहचानने का संकट है, तो दूसरी ओर कवि 'ठूँठ' को पहचानने का माध्यम बनाता है जो केदारजी में 'ट्रक' है, तो ज्ञानेन्द्र में 'टैंक'। अरुण थोड़ा और नीचे जाते हैं और जड़ तक पहुँचकर उस ठूँठ पर ही पक्षियों को बुलाते हैं। जीवन की तलाश में, जिसे पहले ही ज्ञानेन्द्र में अपनी तोप की नली से चिड़िया को उड़ा दिया है। यूँ जीवन की यह गूँज सुनना ही अरुण का भी उद्देश्य है और इस बिन्दु पर केदार, ज्ञानेन्द्र व अरुण एक जैसे हैं, हालाँकि 'एक टैंक' (शब्द लिखने के लिए ही यह कागज बना है) में ज्ञानेन्द्र 'बारूद उगलने वाली लम्बी नली के मुँह से/ उड़ती है एक चिड़िया' कहकर यहाँ भी बाजी मार ले जाते हैं, जिसे अरुण कमल ने 'नये इलाके में' तक व्यक्त किया है। अरुण तब तक चिड़िया को बैठा ही सके थे। जब तक वे उसके घोंसले के लिए घास-फूस का जुगाड़ करते हैं, तब तक ज्ञानेन्द्र घोंसला बना चुके होते हैं।

बहरहाल इनसे यह तो पता चलता है कि अरुण कमल की कविताएँ हमेशा ही उम्मीद नहीं छोड़ती, वहीं कि 'मौसम चाहे जितना खराब हो'। वे हमेशा ही सुघड़ता

के बीच अनगढ़ता के महत्व को पहचान लेती है और इसी कारण ये कह सकते हैं कि 'चुम्बन के बीच सहसा/ पसीने के नमक के स्वाद।' (चेहरा- नये इलाके में) ये किसी संदर्भ के निचुड़ने के हद तक खिंची जाती है जहाँ मिलता है सूखा विषय! विषय सूखा। वस्तु हरी और भरी। यह ही है इस कवि की विशेषता और साठोत्तरी हिन्दी कविता की लोकधर्मिता। यही कारण है कि यह ठूँठ इनकी कविताओं में अँधेरा बनकर भी आता है जिससे रोशनी प्रकीर्णित होती है। यह सुबह होने के पहले का अँधेरा है। यहाँ भी आप उम्मीद के धरातल पर अँधरे व उजाले के आपसी सम्बन्धों देख सकते हैं। ठूँठ की तरह अरुण में अँधेरा भी बेहद गतिशील है। इनके यहाँ अँधेरा भीगकर भारी हो जाता है जिसमें "पीछे--पीछे देहों की परस्पर परिक्रमा/ घंटियाँ बजतीं" (एक मन्दिर की गाथा-नये इलाके में)। 'रात' कविता स्वयं इसका बखान करती हैं। रात का गतिशील अंधेरा है जो दमे के दर्द से और भी अधिक घना होता जा रहा है। लेकिन इसमें भी एक बल्ब जलता है, हालाँकि "बहुत रात बाकी है अब भी/ इतनी काली रात बहुत कम पानी इसमें।" (नये इलाके में) 'श्रद्धांजलि' (नये इलाके में) में भी धुर अंधेरे के बीच बेकार घड़ी के 'रेडियम' की सार्थकता बताई गई है। यानी यह कि कुछ भी बेकार नहीं है। इतना ही नहीं कवि इस अंधेरे को आनंदित होने की हद तक इस्तेमाल करता है और इसे किसी शाश्वत सत्य की परख करने जैसा बतलाता है-

"कितना अच्छा है रात भर जगकर/ सूर्य को उगते हुए देखना/ देखना अंधकार की खुलती हुई गिरह।[67] और 'नये इलाके में' में जैसे इसी के लिए बना ही हो। मानो संसार का सारा प्रकाश उसे दख रहा है।-

चारों ओर आँधेरा छाया

मैं भी उठूँ जला लूँ बत्ती

जितनी भी है दीप्ति भुवन में

सब मेरी पुतली में कसती (जितनी भी है दीप्ति)

अंधेरे और उम्मीद के संधिस्थल पर अवस्थित संवेदनाओं के माध्यम से कवि कहीं व्यवस्था की खोखली उपलब्धि को ठेंगा दिखाता है, (गृह प्रवेश, असत्य के प्रयोग, रात का ढाबा, घोषणा : नये इलाके में), कहीं सतह पर चल रही विमानवीकरण की प्रक्रिया की पहचान कर लोक को रचनात्मक भावभूमि भी प्रदान करता है (संयोग - नये इलाके में, वार्त्ता वैष्णवन की- सबूत), कहीं विस्मृति के गर्भ से सहसा यथार्थ को पकड़ता है जो इस आपाधापी में कहीं खो गया है, (चेहरा, रात का ढाबा - नये इलाके में) तो कहीं जीवन की एकरसता को पकड़ने की कोशिश करता है (एक बार भी बोली-सबूत) और इन सभी में गजब का समय-बोध हैं। आंतरिक कसमसाहट है। मनुष्य के छीजते जाने की समझ है। 'घोषणा' कविता में तो कवि गजब का मजाक उड़ाता कहता है कि 'मैं भारत का एक नागरिक, एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि नींद/ मुझे राष्ट्र के सर्वोच्च पद से ज्यादा प्यारी है।' 'रात का ढाबा' में तो ढाबा ही शोषण का प्रतीक बन जाता है और दूसरों को चूसकर अपनी भट्टी को जलाता हुआ नजर आता है जिसके बारे में कवि कहता है "कुछ धुवाँ धुवाँ लग रहा है/ चाँद पीछे ढह रहा है" और इन सब परिस्थितियों से होता हुआ वह पूरी व्यवस्था पर लगभग प्रश्न चिन्ह लगाते और मजाक उड़ाते कहता है- 'मेरा नीड़ वहाँ उस तरु पर/ जिसका सोर पताल'। (गृह प्रवेश-नये इलाके में)। इसी सभ्यता में वह विमानवीकरण की प्रक्रिया की परख भी करता है, जो प्रचलित अमानवीकरण से इस कारण से भिन्न है कि इसमें व्यक्ति की विकृति के लिए व्यवस्था के साथ खुद व्यक्ति भी जिम्मेदार है। वह बकरी जो स्वयं निरीह है, एक दूसरी बकरी से लड़ती है और विषय होता है। विखाई को चरने का। कवि पहले बकरी की कातरता को व्यक्त करता है। फिर

उसके पीछे की कुटिलता को अभिव्यक्त करता है-

देखा चारों ओर तो जाकर

नजर टिकी छोटे विरवै पर

कौन चरे बिरवे को पहले

यही विषय था इस विवाद का।[68]

यह अमानवीकरण (संयोग) के भीतर का विमानवीकरण है जो सतह के नीचे है। इस सतह के नीचे का चेहरा क्या है उसे कवि एक अत्यंत मार्मिक कविता में (चेहरा) पकड़ता है और यह कविता हिन्दी साहित्य में तब तक याद रखी जायेगी, जब तक समतल के बीच ऊबड़-खाबड़ की अर्थवत्ता बनी रहेगी, जो कि बनी ही रहेगी। इसके अभिव्यंजना पक्ष पर विमुग्ध हुए बगैर कोई सहृदय उसके जीवंत तत्वों की पहचान नहीं कर सकता। यह न केवल साठोत्तरी हिन्दी कविता में दुर्लभ है, बल्कि आधुनिक हिन्दी कविता में ऐसे हस्तक्षेप करते प्रसंग कम ही आये हैं, जिनके एक 'शब्द' के माध्यम से समूचा ऐतिहासिक, सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश ध्वनित हो सकता है। यह वह 'गूँज' है, जो लम्बे समय तक गूँजती रहेगी। अरुण कमल की कविता का यह चुम्बकीय आकर्षण है जिस पर हम अभिव्यंजना पक्ष पर विचार करते समय विस्तार से लिखेंगे- फिलहाल-

पुआल रौंदे पाँवों पर पानी पड़ने की चुनचुनाहट

चुम्बन के बीच सहसा

पसीने के नमक का स्वाद[69]

(चेहरा : नये इलाके में)

पुन: अरुण कमल में यह 'मूल राग' का द्योतक है जो जड़ों तक जाता है, जिसमें

किसी वस्तु को इस रूप में देखना ज्यादा महत्वपूर्ण है। यही उनमें गतिशील जीवन के प्रसंगों का उद्घाटन करता है ('फिर से' - सबूत), यही उनमें चरित्रों को उभारता है और यही प्रकृति व मानव से सौन्दर्य को उपस्थित करता है। चरित्रों के बारे में तो उनकी स्पष्ट धारणा ही है कि 'केवल शब्दों का फाहा लिये/ जाना चाहता हूँ उस तरफ से/ जो सबसे कमजोर हैं....। (सोये में चलना - नये इलाके में)। इसके लिए उनकी तन्मयता देखने योग्य है जब वे 'शीशे में नाक सटाये' (हाट - नये इलाके में, जेल में याद-सबूत) दृश्यों को देखते हैं। यह शीशे में नाक सटाये हुए देखने का प्रसंग अरुण कमल की कविताओं की केन्द्रीय विशेषता है। संयोग (नये इलाके में) का हरिनंदन, हमारे युग का नायक (नये इलाके में) का 'ठगे जाने के हद तक' सरल व्यक्ति, डेली पैसेंजर (अपनी केवल धार) का डेली पैसेंजर, यात्रा (अपनी केवल धार) का निहाल सिंह- महत्वपूर्ण चरित्र के रूप में आते हैं, जो किसी न किसी रूप में व्यवस्था के शिकार है। यह अवश्य है कि इनमें संघर्षरत चरित्र कम ही आये हैं और वे भी कम हैं जो उपेक्षित हैं और 'विशेष' रूप में (ज्ञानेन्द्र की तरह) जिनका आना कविता के लिए जरूरी हो। फिर भी वे 'मूल राग' के अन्यतम कवि हैं, इसे किसी भी कोण से देखा जा सकता है।

इसके साथ यह ध्यान रखना जरूरी है कि अरुण कमल हालाँकि लोक मन के चितेरे कवि हैं, किन्तु अवसर अक्सर इनकी कविताओं में 'लोक विम्ब' सायास प्रयास के प्रतिफलन के रूप में दिखाई देते हैं। एक प्रकार सचेतनता दिखाई देती है। ऐसी सचेतनता के विरुद्ध आगाह करते ही आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि आवश्यकता से अधिक अप्रस्तुत विधान का सहारा लेना कविता के लिए हानिकारक है। उन्हीं के शब्दों में" यों ही खिलवाड़ के लिए बार बार प्रसंग प्राप्त वस्तुओं से श्रोता या पाठक का ध्यान हटाकर दूसरी वस्तुओं की ओर ले जाना, जो प्रसंगानुकूल भाव उद्दीप्त करने

में भी सहायक नहीं, काव्य के गाम्भीर्य और गौरव को नष्ट करता है। उसकी मर्यादा बिगाड़ना है। (नामवर सिंह के 'कविता के नये प्रतिमान' से उद्धृत) यह जितना 'भाव' पर सटीक है, उतना ही भाषा पर भी। ऐसा लगता है कि अपने 'लोक' प्रतिबद्धता को ये लोक की विम्बवत लड़ियों से बताना चाहते हैं और यह आद्योपांत मिलता है। यह उसमें घुल मिलकर नहीं आता ('एकालाप' कविता का एक ही धोवन में झड़ गई माड़ी जैसी पंक्तियाँ बाहर से चिपकाई लगती है - सबूत संकलन में)। ऐसा उनकी संवेदना का शायद गीतों के निकट होने का परिणाम है, जो बार बार एक सूत्रता को ढूँढ़ने के चक्कर में फँस जाती है। यही स्थिति केदारजी में भी मिलती है। दूसरी ओर ज्ञानेन्द्र पति इससे सर्वथा मुक्त हैं। कहीं भी लोक विम्बों का सायास प्रयास नहीं मिलता। जो आते हैं (और ऐसे बहुत आते हैं) वे घुल मिलकर भी आते हैं। अरुण कमल की 'हक' कविता से (सबूत), ज्ञानेन्द्र की बाद में प्रकाशित कविता 'पृथ्वी सूक्त के वंशधर' की तुलना करते हुए यह तो अहसास होता ही है, इससे अधिक यह भी कि ज्ञानेन्द्र अपने विषय को त्वरा में पकड़ते हैं। अत: उनकी गति 'तेज' होती है। यूँ दोनों ही 'मूल-राग' के कवि ठहरते हैं। अंतर है तो **इसका ही कि अरुण कमल जहाँ 'लत्तरों' (इनकी कविताओं में यह खूब आता है) के कवि हैं। ज्ञानेन्द्र 'गाछों' के कवि हैं और गाछों की बाछें होती हैं। यह किसी से छिपा नहीं है।**

स्वप्निल श्रीवास्तव : 5 अक्टूबर 1954 को जन्म। 'ईश्वर एक लाठी है' (1981) और 'ताख पर दियासलाई' (1992) नाम से दो काव्य संग्रह प्रकाशित। यूँ तो ये 80 के दशक के कवि ठहरते हैं, किन्तु चर्चा बहुत बाद में होती है। ऐसा शायद इनके समकालीनों का बहुत मजबूत होना रहा है। अरुण कमल इनके लिए

सबसे बड़े आड़ रहे हैं। बहरहाल।

स्वप्निल में भी अनुपस्थिति की उपस्थिति है और अंधेरे में रोशनी है। अरुण कमल की तरह इनमें भी कविता निचुड़ने के हद तक जीवन को बचाती है और इस कारण से इनकी कविता 'गुठली' इनकी बुनियादी संवेदना को बतलाती है-

फल खाकर जिसने भी

फेंकी होगी यह गुठली

उसे यह पता नहीं होगा

कि वह अपनी जिंदगी से

कितनी जरूरी चीजें फेंक रहा है।[70]

यह ही 'वस्तु का सामाजिक पक्ष है जिसमें समाज के वास्तविक पक्ष' की अनुगूँज है। यही उपभोक्तावादी संस्कृति में खतरे का शिकार हो रहा है और इसी को बचाकर इन कवियों ने लोक संस्कृति को बचाया है और हिन्दी कविता का बड़ा उपकार किया है। यह ही 'वस्तु' का गतिशील पक्ष है, जो स्थूल के बाहर है। यही देखना सौन्दर्य को उत्पन्न करना है, न कि केवल उसके स्थूल आकृति को। यही देखने की प्रतिबद्धता इन लोकधर्मी-कवियों में दिखाई देती है जिसमें समाज के उपेक्षित वर्ग को भी अपने कविता में चरित्र के केन्द्रीय तत्व के रूप में उभारा। स्वप्निल ने जिसे गुठली के रूप में देखा है, अरुण कमल ने 'ठूँठ' के रूप में पहचाना। निराला पहले ही इसे पहचान चुके थे। मतलब यह कि जितना ही हिन्दी कविता में 'आगे बढ़ो' निराला उतना ही याद आते हैं। बहरहाल...।

स्वप्निल में इसी तरह की कविता ढिबरी, धरन, खाँची (सभी ताख पर दियासलाई से) मिलती हैं जिसमें वस्तु स्पंदित होती है। ऐसी ही स्थिति पहले संकलन की कविता

गेहूँ, बोरसी में भी मिलती है। जिनमें लोक-ताप है। बोरसी ताप के साथ रिश्तों में आत्मीयता स्थापित करती है-

पोतनी मिट्टी से बनी हुई

पृथ्वी की तरह गोल

मजबूत झाँवे की तरह पकी हुई

जैसे वह कुम्हार के चाक पर

ढाली गयी हो

माँ के हाथों बनायी गई बोरसी।[71]

और आग को जिंदा रखने के लिए-

'कहती है माँ/ खुदुर बुदुर न करो/ जिन्दा रहने दो/ बोरसी में आग।'

ऐसी ही स्थिति 'गेहूँ' कविता में भी मिलती हैं, जिसमें जीवन-गंध है। यह बात और है कि अगले संकलन की कविता 'खलिहान' में भी स्वप्निल ने इसी शिल्प को साधा है। शायद कोई जल्दबादी रही हो। ऐसे ही स्थलों पर उनकी कमजोरी भी उभरने लगती है जहाँ उनकी कविताओं में अपेक्षित कसावट का अभाव खटकता है।

यूँ 'गंध व स्पर्श' उनमें खूब आते हैं। पहले दो संकलनों तक तो ये लोक जीवन से रागात्मक सम्बन्ध के रूप में आते हैं, किन्तु बाद की इधर उधर पत्रिकाओं में प्रकाशित कविताओं में ये शहर की प्रतिक्रिया के रूप में दिखाई देती है। यह कवि का बुनियादी संवेदनाओं से लगातार दूर जाने का प्रतिफल ही है। आरम्भ में उनमें लोक जीवन की भीनी गंध के प्रति ललक है, जिसमें ताप व संघर्ष भी है। 'बरसात में घर' में कहते हैं- 'यहाँ बरसात हो रही है/ संभव है हजार किलोमीटर दूर/ मेरे गाँव में भी हो रही हो/ वहाँ की दीवारें/ बिस्कुट की तरह गल रही हो।' (ताख पर दियासलाई)

इसी में वह कहता है- 'पुरखों के बनाये हुए घर में/ गड़े हुए हैं पुराने स्वप्न व स्मृतियाँ'/ 'गमछा में भी स्पर्श व गंध' एक साथ है- 'पसीने की गंध से/ पहचान जायेगा कि/ यह उसके बाप का गमछा है (गमछा)। 'बाबा की खाँसी' से कवि की देह भी हिलती है। उधर 'खलिहान' एक बड़ा परात है 'और बहुत दूर तक सुनाई पड़ती है परात की झनझनाहट'। लेकिन 1998 तक आते आते यह स्वर बदलता है क्योंकि शहर का दबाव बढ़ता है। कवि कहता है 'मुझे इस शहर में एक अजन्मे/ बच्चे का रोना सुनाई पड़ रहा है/ जो हत्यारों के डर से गर्भ से/ बाहर नहीं आना चाहता।' (इस शहर में - बसुधा 42-1998)

लेकिन बात इतनी ही नहीं है। कवि लोक जीवन के आदिम राग को बचाने के लिए भी चिंतित है। जिस आदिम संगीत को सुनने के लिए कवि दुनिया के कोलाहल से भागकर जंगल में जाता है, (संदर्भ : वारिश), वह ही आज संकटग्रस्त है, क्योंकि उसमें शहर का कोलाहल लगातार भरा जा रहा है। इसके लिए कवि कहता है-

"मैं लोक गीतों को आखेटकों से बचाना चाहता हूँ

इन लोक गीतों में दर्ज हैं पूर्वजों की पगध्वनियाँ" (संदर्भ : 1998। वसुधा - 42)

इसके साथ ही जड़ों की गहरी ललक के कारण कार्य में भाषाई आंतरिकता के लक्षण भी मिलते हैं (पहिया, अंतिम कौर तक) और चरित्र भी आते हैं (सुगनु साधू, ईश्वरबाबू) जो साठोत्तरी हिन्दी कविता में मिलता है। प्रकृति के कुछ गतिशील बिम्बों की चमक-दमक भी मिलती है। गठरी के भीतर रोटी का सौन्दर्य की विलक्षण है। इसी गठरी को ज्ञानेन्द्र ने पहचाना है। इसे ही स्वप्निल ने पहचाना है। मजे की बात तो यह है कि सौन्दर्य गठरी और रोटी के बीच है। उस अवस्था में है जिसमें गठरी से रोटी बाहर आती है। रोटी एक संदर्भ को लेकर आती है। इसे ही हम

'उभरता सौन्दर्य' कहने के पक्षपाती हैं। यह अवश्य है कि केदार नाथ सिंह की अच्छाई (शिल्पगत विधान) और कमजोरी (अभ्यासात्मकता) दोनों ही इनमें मिलती है और जल्दी ही दिखाई पड़ जाती है। इससे मुक्त होना असंभव तो नहीं, कठिन अवश्य है, क्योंकि लोकभाव भूमि पर अपनी स्वायत्तता को बनाये रखना बड़ी प्रतिभा की माँग करता है। हम देख चुके हैं कि अरुण कमल तक इससे अछूते नहीं है। हाँ ज्ञानेन्द्र की बात और है। वास्तव में लोक में वैविध्य तब तक नहीं मिलेगी, जब तक आपके देखने में वैविध्य न हो और आपके देखने में वैविध्य तब तक नहीं होगा, जब तक औरों का देखा हुआ आपकी जानकारी में न हो। इसीलिए यह जितना 'डूवना' माँगता है, उतना ही 'सचेतनता'।

X X X X

इसके पहले कि हम 90 के दशक के कवियों का मूल्यांकन करें, कुछ बातों को स्पष्ट करना जरूरी है। सबसे पहले तो 90 के दशक से आशय हमारा यहाँ केवल उस युवा कवियों से है जिनके पहले संकलन 90 के आस पास प्रकाशित हुए हैं और निश्चय ही "आधार प्रकाशन" ने वही कार्य किया है, जो 80 के दशक में संभावना प्रकाशन ने किया था। 1990 तक आते आते हमारा गणतंत्र 40 वर्ष पूरा कर चुका था, और हमने पंचायती राज के संदर्भ में भी मूल्यों के विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया में प्रगति की थी। शहर अब शहर नहीं रहा। लोक अब लोक नहीं रहा। कवि अब कवि जैसे (!) नहीं रहे। सभी कुछ में परिवर्तन हुआ है और सब एक दूसरे के लिए जरूरी बने। राजनीति की भी यहाँ तक एक परम्परा मिलने लगती है। जिस रघुवीर सहाय तक राजनीतिक अभिव्यक्ति की कोई परम्परा नहीं थी, क्योंकि "भारत एक नया राज्य था", वही 90 के दशक के कवियों के पास 40 वर्ष की एक रेखा भी थी जिनसे निश्चय ही राजनैतिक आशयों की कविताओं ने प्रभाव ग्रहण किया।

कुमार अंबुज, विमल कुमार, देवी प्रसाद मिश्र, संजय चतुर्वेदी, प्रमोद कौंसवाल, कात्यायनी, गगन गिल आदि कवियों में इसे देखा जा सकता है जिसमें कुमार अंबुज ऐसी पंक्तियाँ लिखते हैं "अशोक स्तंभ के नीचे बने शेरों में से/ चौथा शेर देखने के लिए जाना होगा नेपथ्य में/ सामने से तो दिखेंगे बस तीन ही शेर....' (क्रूरता संग्रह) इस समय में मुक्तिबोध का 'समय से साक्षात्कार' व निराला का 'समय का अतिक्रमण' दोनों ही देखा जा सकता है।

दूसरी ओर 'भारत एक पुराना समाज है' इस आशय से इसके लोक जीवन की जीवंत परम्परा रही है जिसका विकास केदार नाथ सिंह से होता हुआ इस दशक तक चला आया है। निश्चय ही यह बहुत ही समृद्ध परम्परा व प्रभावोत्पादक रचनाधर्मिता का समय रहा है और 90 के दशक में इसके लक्षण निलय उपाध्याय, एकांत श्रीवास्तव, बद्री नारायण, बोधिसत्व और तमाम उदीयमान कवियों में मिलते हैं जिन्होंने किसी न किसी रूप में लोक मन को बचाये व बताये रखने की कोशिश की है। इन सभी में लोक जीवन में आ रहे (चरित्र व प्रकृति दोनों क्षेत्रों में) परिवर्तनों को रेखांकित करने की कोशिश दिखाई देती हैं। कहीं ढंग से। कहीं जल्दबाजी में। इन कवियों का अलग अलग विश्लेषण भी हम करेंगे।

लेकिन 90 के दशक के कवियों की प्राय: सबसे बड़ी विशेषता, जो कमजोरी ही है, चमत्कृत करने की रही है। प्राय: कवि कविता में कुछ चमकदार पंक्तियाँ ठेलते हैं और इस दम्भ के साथ प्रस्तुत करते हैं मानो किसी अद्भुत सत्य का उद्‌घाटन कर रहे हों। वास्तव में यह उनकी किसी बुनियादी कमजोरी का लक्षण व प्रतिफल ही हैं, क्योंकि इस तरह से उनकी कोशिश कुछ याद करने जैसी ही दीख पड़ती है। कविता को याद कराने के चक्कर में और पाठक को ठूँस ठूँस कर घोटाने के चक्कर में वे कविता में अशिष्टता के

हद तक विशिष्ट बनने की कोशिश कर रहे हैं और ऐसी चीज नहीं उभर पाती, जिसे याद किया जाना जरूरी है। अर्थात् 'विषय' का 'नवोन्मेष उद्घाटन' लगातार खोते जा रहा है और कविता पंक्तियाँ ही लगातार चमकदार बनती जा रही है। इस रूप में ये कवि पंक्तियाँ लिखते हैं, न कि कविता। ये पंक्तियाँ उन्हें कविता की आरोही पंक्ति में खड़ा करने का भाव चाहे भले ही जागृत कर दे, कोई नया भाव जागृत नहीं कर सकती। जो इससे मुक्त हैं, और निश्चय ही ऐसे हैं, कविता की संभावना उन्हीं से है और उन्हीं में है।

दरअसल ऐसे कवियों की कविताएँ उतनी ही बचकानी हैं जैसे किसी व्यक्ति का भाषण। जब कोई व्यक्ति विषय को सही नहीं पकड़ पाता, तो वह उसे उद्धरणों से भरकर ठीक करने की कोशिश करता है और विश्वास करता है कि वह सबसे अच्छा बोल रहा है। हिन्दी कविता में आज लगभग यही स्थिति है। वह उद्धरण बनने की प्रक्रिया में है। यह किसी खोखलेपन को भरने का सुनियंत्रित तरीका है तथा यह सदियों से होता आ रहा है और सदियों तक होता रहेगा। इसी के शिकार साठोत्तरी हिन्दी कविता के धूमिल है। किंचित आलोक धन्बा है और अब तो बहुत सारे कवि हैं।

अत: मैं जोर देकर कहता हूँ कि जबरदस्ती विचारों व भावों की ठूँसाई से वह कविता बेहतर है जो अपने आस पास खाली स्पेस रचती है, जिसमें तनाव है, जिसमें आक्रोश है और जहाँ एक समाज की कथित व व्यथित पीड़ायें हैं। कविता किसी "रजस्वला सहानुभूति" की अपेक्षा नहीं रखती। वह सम्मोहित भी नहीं करती। वह आपको छूती है। फिर चाहे वह भाषाई आंतरिकता का सहारा ले। चाहे कथात्मक स्पंदन व स्पंदनात्मक कथन का। *बदली परिस्थितियों में हमे न तो कवियों का कवि चाहिए और न ही सिनेमा का कवि। रास्ता इसी के बीच का है। यदि है तो?*

नवल शुक्ल : 27 जनवरी 1958 को जन्म। 'दसों दिशाओं में' (1992) पहला काव्य संकलन। लोक जीवन को स्पर्श करते हैं। डूबने से अधिक फैलते हैं। लोक उपादानों के क्षरित होने को मार्मिकता से पकड़ते हैं जिससे प्रकृति के लगातार नष्ट होते जाने का बोध पता चलता है। इनमें लोक जीवन से जुड़ने की संकल्पनायें मिलती हैं। 'धरती से विदा' कविता में इसे देखा जा सकता है कि कैसे ये प्राकृतिक सौन्दर्य के क्षीण होते जाने से विचलित हैं-

कम हो रही हैं

कुछ चीजें लगातार

कुछ वस्तुयें, कुछ नाम

X X X

हवा कम हो रही है

पीने के पानी तक का अकाल

धरती कम हो रही है

और हमारे वायुमण्डल का विस्तार।

इसमें स्पष्ट है कि यह सिकुड़ना, वास्तव में शहरी परिवेश के लगातार फैलते जाने का परिणाम है और इसी के दबाव में कवि को कहना पड़ता है कि मैं कहीं नहीं जाऊँगा बल्कि "स्वरों में फैल जाऊँगा"। इस लगातार हो रहे परिवर्तनों को लक्षित करते नवल 'क्षय-बोध' को पकड़ते हैं, जो साठोत्तरी हिन्दी कविता की अपनी पहचान है। इसे "वर्षों बाद वह जगह" नामक कविता में देखा जा सकता है जिसमें कवि एक नयी स्थिति की मार्मिकता को व्यक्त करता है :

'यहाँ चलते थे हम

तो हमसे बोलते थे मकान

मकान से लगे खेत

और खेतों में बसा गाँव'

और आज क्या हो गया है कि 'हजारों हजारों भवनों के बीच/ क्यों बैठा है शहर'। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि केदार जी की 'नदी', अरुण कमल की 'सुख' कविता की परम्परा में ही यह कविता है। यह बात और है कि कविता की सघन बुनावट में यह कमजोर है। सिर्फ बातें बताने की चेष्टा भर दिखाई देती है। शहर के इसी दबाव के कारण कवि उदास भी होता है। 'अमुक दिन जाना हैं' कविता ऐसा ही अर्थ ध्वनित करती है। इसने लोक में लगातार जगह की कमी पैदा की है। इस रूप में नवल गाँव में शहर के लगातार हो रहे हस्तक्षेप को रेखांकित करते हुए पविर्तनों को बताने वाले कवि हैं। यह परिवर्तन ही उनकी कविता की उम्र को बढ़ाता है। 'बस इतनी जगह' ऐसी ही कविता है। इसी से मुक्ति की इच्छा 'दसों दिशाओं में' शीर्षक कविता में दिखायी देता है।

"बंद हो जायें महल, अटारी, गेट/ मेंढ़क टर्रायें/ फैलती चली जाय पूरी पृथ्वी पर/ घास, पतवार; झाड़, झंखाड़/ बचे खुचे पेड़ लहरायें/ ऐसी बारिश हो/ हो बारिश/ कि सबसे पहले और बाद में/ खूब फुदके गौरैया/ उसकी आवाज/ दसों दिशाओं में फैल जाय/" (दसों दिशाओं में)

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोक जीवन की रागात्मक अभिव्यक्ति तो है लेकिन एक प्रकार का ठंढ़ापन बराबर खटकता है। यदि इसमें थोड़ा संघर्ष पक्ष भी होता या कि शब्दगत ठेठपन होता, तो कवितायें महत्वपूर्ण होती।

निलय उपाध्याय : 28 जनवरी 63 को जन्म। 'अकेला घर हुसैन का'

1994 में प्रकाशित। अंतिम दशक के महत्वपूर्ण कवि। आरा में रहते हैं। अंतिम दशक के कुछ ऐसे कवियों में हैं जो लोक जीवन से रस खींचते हुए लगातार अपनी दृष्टि परिवर्तनों पर लगाये रहते हैं। कोई प्रतिक्रिया नहीं। शहर का कोई दबाव नहीं। लोक के प्रतिरक्षा का भाव नहीं। बस उसमें हो रहे नित परिवर्तनीयता के मार्मिक स्थलों की पहचान करते जाते हैं। लोक शब्दों को रखते नहीं, वे भाव प्रवाह में स्वत: ही आते हैं। लोक के अप्रस्तुत को बताते नहीं, पूरा प्रसंग ही लोक अप्रस्तुत को संरचित करता है। तमाम समकालीन कवि जहाँ लोक जीवन की ठहरी कविताएँ लिखते हैं, (मसलन बद्री नारायण), ये जीवन की जरूरी कविताएँ लिखते हैं। वास्तव में इनके समकालीन कवि 'कुमार अंबुज' जिस राजनैतिक आशयों की गहरी कविताएँ लिखते हैं, वैसे ही ये लोक आशयों की सघन कविताएँ लिखते हैं। इनमें 80 के दशक के बहुत सारे कवियों की तरह स्मृति भी नहीं है क्योंकि ये गाँव को गाँव की आँख से देखते हैं जिस कारण से इनका व्यंग्य भी लोक का है जिसके माध्यम से राजनीति की लोकोन्मुखता को बड़े ही Wit and vigour के साथ समझते हैं। राजनीति भी स्वतंत्र भार में लोकोन्मुखी होती गई है क्योंकि उसने जाना है कि उसका असली वोट बैंक अभी भी वही है जिसे वह अपनी शर्तों पर भुना सकती है। निलय राजनीति के इस पक्ष को पकड़ने वाले बड़े ही संभावनाशील कवि रहे हैं। मंत्री जी मेरे गाँव आना उनकी महत्वपूर्ण कविता है- कवि मंत्रीजी के आने के बारे में कहता है- 'मंत्रीजी, मेरे गाँव आना/ आना/ जैसे सुबह में धूप/ आना/ जैसे हवा में गंध/ आना/ जैसे फलों में स्वाद/....'। फिर कहता है-

दूधों नहाना

पूतों फलना

छप्पन का भोग लगाना

और लौट जाना

जैसे सूखे में बादल।[72]

'सूखे में बादल' यह है अपेक्षाओं का भ्रम, जिसमें सूखे बादल की तरह की भी गूँज है। 'सचिवालय के गेट पर खड़े लड़के' भी ऐसी ही कविता हैं जिसमें बेरोजगारी जैसी समस्या को उठाया गया है। इसी आधार पर लिखी 'अगला गणतंत्र, हालाँकि अपेक्षाकृत कमजोर कविता है, जिसमें विवरणात्मकता ही अधिक है। लेकिन 'बासी भात की तरह ठंढ़े पड़ गये हैं लोग' के माध्यम से जीवन के मार्मिक पक्षों की पकड़ हैं और समय की तीखी पहचान है। यूँ भी बासी 'भात' कवि की केन्द्रिय संवेदना का संवाहक है जिसे एक अन्य कविता 'भात पकने का गीत' में कवि ने साधा है।

वास्तव में कवि सहज शब्दों के माध्यम से ही असहज अर्थो का उद्घाटन करता है जिस कारण से उसमें अन्य कवियों की तरह 'शब्द-रखाव' की स्थिति नहीं मिलती। इसी कारण वह खुद भी कहता है कि 'शब्दों में सहज, अर्थों में संवेदनशील कविताओं के दिन फिरेंगे' (पहले कविताओं के दिन फिरेंगे)। इन्हीं मान्यता के आधार पर वह शब्द-जाल के विरुद्ध है और ऐसे कवियों (दिल्ली माडल) का मजाक उड़ाता है जिनमें 'कभी समझ में न आने वाली परेशानियों की तरह बिम्बों से भरी पंक्तियाँ' (दिल्ली का कवि) मिलती है। वह तो लोक जीवन में रचे बसे भात, लेवाड़. चिहुँकना, हहास, हँकरना जैसे शब्दों का प्रयोग करते एक नये संदर्भगत अर्थ का संचार करता है। तब यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं है कि चिहुँकना व भात कई बार उसकी कविताओं में आते हैं, जो उसकी जड़ों के सूचक हैं और जड़ें भी कई कविताओं में आती हैं। 'भात पकने का गीत' तो सुन्दर कविता है जिसका सौन्दर्य 'नींद की बोरियों' से खुलता है। नींद व भूख का रिश्ता कितना जीवंत है कि दोनों के बगैर काम नहीं चल सकता। किंतु यदि भूख लगी है, तो नींद नहीं आयेगी। वह आ आकर जायेगी। यह वास्तव

में भात की संकृति है जो चावल से भिन्न है। यह भात उस गरीबी का चित्रण है, जो उनके लिए 'फास्ट फूड' से भी अधिक महत्वपूर्ण होता है। कवि कहता है-

ताल दे रहे हैं अदहन

डमक डमक नाच रहे हैं चावल

कल से कुछ नहीं खाया बच्चों ने- कटोरा बजा रहे हैं

खाली कटोरा- खाली हाथ बड़े बड़े कौर उठा रहे हैं

बच्चे गा रहे हैं- भात पकने का गीत

रात उतर रही है नींद की बोरियों से लदी

बच्चे जाग रहे हैं और गा रहे हैं

भात पकने की गीत।[73]

इस कविता का सौन्दर्य चावल के भात बनने की प्रक्रिया में है, जिसमें एक ओर **डमक-डमक** नाचते हैं चावल, तो दूसरी ओर कटोरा बजा रहे हैं बच्चे। जितना तेजी से चावल डमकते हैं, उतनी तेजी से बच्चे खाली कटोरा बजाते हैं। डमकना, यूँ स्वत: ही खालीपन का द्योतक है, क्योंकि इससे पतीली में अल्पांश में ही चावल रहने की बात ध्वनित होती है। उस अल्पांश में एक खालीपन है, जिसे कटोरा बजाकर बच्चे भरते हैं। यह ही लोक यथार्थ है जिसे कुमार अंबुज 'किवाड़' में लिखते हैं- "भूख का सपना/ नींद के चमकदार सूप में झर रहा है/ और दानों के फटके जाने की आवाज/ पूरे ब्रह्माण्ड में गूँज रही है।"

इसी लोक यथार्थ के परिणाम स्वरूप निलय में भी ज्ञानेन्द्र पति की तरह, कविता अपने विषय के प्रति accessible है। वह जिस विषय को पकड़ती है, उसे उसके लोगों ने रचा है। इस रूप में ये कविताएँ विषय के साथ उसके बनाने वाले लोगों

तक जाती है जिसके बारे में 'फाग सुनते हुए' कविता में कवि स्वयं ही कहता है- "अपनी सीमाओं को तोड़ता/ लोक रंग का यह बासंती ह्रास/ इसे इसके कवियों से अधिक उसके लोगों ने रचा है।" किसी विषय की रचना के पीछे लोगों की सत्ता का बोध अन्य कविताओं में भी मिलता है जैसे भाई हो...., पानी पहुँचाने की कविता, पानी पहुँच गया है। इसमें संघर्ष व आकांक्षा दोनों हैं। किसान असुरक्षा बोध के बीच पानी के लिए किस तरह दौड़ता है, यही है इसका विषय। इसमें प्रयत्न पक्ष पर बल देकर कवि ने लोक सौन्दर्य की अद्भुत उपस्थिति दर्ज की है।

निलय उपाध्याय का ध्यान समय व परिवर्तन पक्ष पर भी हमेशा रहता है जो एक समाजशास्त्री के लिए बेहद रोचक है। *ऐसे समय में जब आदमी बिजूखा बनने की प्रक्रिया में है, यह कवि बिजूखा से आदमी बनाता है। यह विलुप्त हो रहे जीवन की खोज ही है जिसे कवि ने 'मकई के दाने' के माध्यम से प्रस्तुत करने की कोशिश की है।* 'मकई के खेत में' ऐसी ही लम्बी कविता है जिसका अंत है-

"ओ किसान हमें घर के चलो
हम तुम्हें बिजूखे से आदमी बना देंगे
कहते हैं मकई के दाने।"

यह उस समय अधिक सार्थक है जब 'बाजार की आँख' (संदर्भ - छ: सौ रूपयों में कविता-पहल-96) कोने-कोने में पहुँच गई है। इसके साथ गाँव में परिवर्तनों को भी एक कौतुहल के बीच कवि पकड़ता है। जिसमें पीढ़ियों का अंतराल समझा जा सकता है। 'रामकली' में एक औरत के वोट देने का प्रसंग है, तो 'गनेश बहू' में 'डाक से भेजते प्यार' पर शर्मिंदगी है। पहले में नारी का नया रूप है तो दूसरे में पुराना। गनेश बहू को परदेश से भेजे पति के प्यार जनक चिट्ठी पर शर्म आती है। तो रामकली सैकड़ों मर्दों के बीच वोट डालकर सबकों अचंभित कर देती है। 'माँ की सीख' में

रूढ़ि को बताया गया है, जिसे पढ़कर रघुवीर सहाय की कविता 'पढ़िये गीता' याद आती है। इस प्रकार नारी जीवन के विविध पक्षों पर पकड़ गहरी होती गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निलय उपाध्याय में लोक जीवन की गहरी समझ है और जड़ों के प्रति तीव्र ललक है। दो विरोधी स्थितियों की पकड़ भी काफी अच्छी है। 'कंछा' कविता में कवि स्वंय लिखता है-

'जिनकी जड़ें होंगी मिट्टी में
फेंक लेंगे कंछा...।'

एकांत श्रीवास्तव : 8 फरवरी 1964 को जन्म। 'अन्न है मेरे शब्द' 1993 में पहला कविता संकलन प्रकाशित। सूचना के मुताबिक 'मिट्टी से कहूँगा धन्यवाद' शीघ्र प्रकाश्य। पहल-55 के मुताबिक इसकी अंतिम कविता 'यातना शिविर' है। 'अन्न हैं मेरे शब्द' संग्रह दो भागों में विभाजित है- धान गंध और नागरिक व्यथा। पहले में शायद लोक को लोक से देखा गया है और दूसरे में लोक को थोड़ा बाहर ले। पहला खण्ड, इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें जड़ों के प्रति गहरी ललक है। हुलास है। दूसरा खण्ड भी, जहाँ कहीं लोक को नगर से देखते हैं ('प्रकार' कविता) जड़ों के प्रति रुचि को व्यक्त करता है, लेकिन ये सब 'फिट' करते हुए देखे जा सकते हैं या कि इनमें जीवन की मार्मिकता की पकड़ न होकर परिभाषित किये जाने की चेष्टा अधिक मिलती है।

एकांत के इस संग्रह की सबसे बड़ी विशेषता अन्न फूटने की ध्वनि को पकड़ने में है, जिसमें उसकी गंध भी है। अर्थात् इनके यहाँ निर्माण के पहले की पीड़ा को देखा जा सकता है। यह सृजन के पहले का विजन है। परिणति के पहले की प्रक्रिया है। यही इमें भाषाई आंतरिकता है जिसके माध्यम से क्षय बोध का पता चलता है।

अनुपस्थिति की उपस्थिति की जानकारी होती है। इसी कारण ये 'मूल राग' के कवि ठहरते हैं।

'मूल राग' से आशय यहाँ वस्तु को 'जड़' में पकड़ना और उसकी संभावनाओं में भी। यह सम्पूर्णता की अनुगूँज है, जिसमें प्रक्रिया व परिणति दोनों है। इससे ही कविता गतिशील होती है और बाहर से बाह्योन्मुखी होते हुए भी अपनी आंतरिक संरचना में 'केन्द्रोन्मुख' होती है। 'पालना', 'फूल', 'एक बीज की आवाज पर' ऐसी ही कविताएँ हैं। 'पालना' में एक बच्चा सोया है, जो बच्चा नहीं है बल्कि वह पूरे ऐतिहासिक व सामाजिक संदर्भ में उपस्थिति है क्योंकि 'जब भी हिलता है पालना/ हिलती है/ पालने की तरह समूची पृथ्वी'। 'फूल' कविता में भी फूल, बीज से लेकर फल तक की यात्रा करता है। ऐसी ही स्थिति 'एक बीज की आवाज पर' कविता में बीज की है, जिसमें पेड़, जंगल, वनस्पतियाँ आदि सुरक्षित हैं। इस प्रकार यह 'मूल राग' अपनी जड़ों की गतिशील पकड़ के रूप में आता है।

इस 'मूल राग' के लिए मार्ग प्रशस्त करने वाली 'लोक-स्मृति' हैं जो अंदर्देशीय, नदी, पहाड़, बैलगाड़ी, धान, पेड़, फूल, घर, चूड़ियाँ आदि के माध्यम से आती हैं। इन सभी में सन्नाटे को तोड़ने की कोशिश है, जो कहीं अनुपस्थिति की उपस्थिति के रूप में आती है, तो कहीं क्षय बोध के रूप में। 'मेले में' कविता इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है जिसमें भीड़ में अपनेपन के खोने की पीड़ा है, क्योंकि इसमें वह व्यावसायिकता है जिसमें जीवन नहीं है। 'घर' यहाँ पर वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में उभरता है। वह प्यार है, भावना है, सम्पृक्तता है। लोक मन है। भीड़ जन्य मेले में सामाने हैं। आदमी नहीं है। धूल है, लेकिन मिट्टी नहीं है। कवि कहता है-

न मैं भटका न खोया

अगर कुछ खोया तो बस एक घर

इस मेले में

जिसे मैं आज तक ढूँढ़ नहीं पाया।[74]

'दंगे के बाद' कविता भी कुछ ऐसी ही है, जिसमें शहरी जीवन को आधार बनाकर क्षयबोध की ध्वनि मिलती है। इसमें दंगे के बाद भी शहर के किसी न किसी रूप में बचे रहने की कथा व्यथा है। सितम्बर 1998, बसुधा 42 तक में प्रकाशित कविताओं में इसे देखा जा सकता है। 'कुटुम्ब' कविता ऐसी ही है जिसमें दंगे में मारे गये समूचे परिवार की तलाश है। इसमें खण्डहर भी बोलते हैं। संग्रह में रिश्तों पर लिखी गयी तमाम कविताएँ इसी स्मृति पर आधृत हैं। माँ, माँ का पत्र, बहनें आदि ऐसी ही कविताएँ हैं। वास्तव में स्मृति आश्रित इन सभी कविताओं में सन्नाटे को तोड़ने की कोशिश है। 'चूड़ियाँ' कविता तो उत्तम है जिसमें है "परदेस गये पिता की/ स्मृतियों की खनक/ जो बनाये रखती है/ घर को घर।" यही स्थिति 'पानी की नींद' कविता में है जिसमें, "आदमियों के जाने के बाद भी/ देर रात तक/ जागता रहता है पानी'।[75]

लोक राग, लोक स्मृति, क्षय बोध, के साथ 'प्रकृति' का भी सुन्दर चित्रण कुछ कविताओं में देखा जा सकता है। वास्तव में आज जहाँ प्रकृति पक्ष कविताओं से लगभग गायब होता जा रहा है। एकांत ने इसे बड़ी बारीकी से अपनी कविताओं में बचाया है। यह इन्हें अपने समकालीनों से अलगाता है। प्रकृति इनके यहाँ जीवन से जुड़कर पूरी गति के साथ उभरती है। 'पंडुक' कविता सुन्दर है, जिसमें जेठ की गरमी के बीच पंडुक के घोसले बनाकर दोपहर की सख्त आवाज को काटने की बात कही गई है। यह ही 'जीवन पक्ष' है, जो कठिन स्थिति के बीच जीवन तलाशता है। 'बारहमासा' में भी हर महीने को जीवन पक्ष से जोड़कर दिखाया गया है। 'धान-गंध' 1 और 2, में बसंत में प्रकृति व उल्लसित जीवन को जोड़ा गया है। 'वसन्त'

कविता में तो पहली ही पंक्ति कहती है 'बसंत आ रहा है/ जैसे माँ की सूखी छातियों में/ आ रहा हो दूध'। यह सब लोक सौन्दर्य की उपस्थिति के ही द्योतक हैं। प्रकृति के साथ ही 'लोक पर्व' का भी चित्रण मिलता है जिसमें कार्तिक स्नान व कार्तिक पूर्णिमा दोनों को विषय बनाकर उसके पीछे के 'खालीपन' को पकड़ने की कोशिश मिलती है। मेले तक को (सूखा कविता में) कहा गया है कि 'इस बार जेबों में/ सिर्फ हाथ रहे/ उसका खालीपन भरते।'

इस प्रकार एकांत किसी वस्तु को उसकी अंतिम अवस्था तक जागृत करने की कोशिश करते हैं। इस कारण ये अंतिमता के कवि भी ठहरते हैं, जो गहरे आशावाद का सूचक है और जो लोक मर्म ही है। किन्तु इनमें वस्तु-वैविध्य का अभाव खटकता है। लोक वस्तु अक्सर दुहराई गई लगती है, जिस कारण से 'लोक' इनमें एक रूढ़ि के रूप में ही आता है (नदी, पहाड़, चिड़िया.....)। 'अन्न' को पक्षियों द्वारा विस्तार देकर दूर तक फैलाने की इच्छा तो है (अन्न- 1, बसन्त), पर यह भूखेपन की नग्नता को उभार नहीं पाता। खालीपन का बजना यहाँ भी है (सिला बीनती लड़कियाँ), लेकिन 'खाली कटोरों' वाली निलय उपाध्याय की संवेदना (भात पकने का गीत) यहाँ नहीं है। इनकी सबसे बड़ी कमजोरी यही है कि ये कविता की महीन बुनाई न कर, मोटी कताई करते चलते हैं। यह शायद स्वभावगत ठंडेपन का ही दोष हो। वर्ष 1998 तक प्रकाशित कविताओं को देखने पर ऐसा लगता है कि ये शीघ्र ही अपने को अभ्यासात्मकता की जटिलता में फँसाकर अरुण कमल व केदार नाथ सिंह की पंक्ति में खड़े हो जायेंगे। एकांत को यहाँ पर सावधान रहने की जरूरत है, हालाँकि उसकी संभावना अल्प है।

बद्री नारायण : 5 अक्टूबर 1965 को जन्म। 'सच सुने कई दिन हुए' वर्ष 1993 में प्रकाशित। इसमें लोक पर्व, लोकाचार आदि के रूप में लोक जीवन के

पक्ष उभारने की कोशिश मिलती है और इस कोशिश में प्रयास का भाव कम, परिणति का अधिक मिलता है, जिससे एक अतिरेकी आत्म विश्वास की बू आती है। 'अब मैं कबूतर पालूँगा' कुछ ऐसी ही कविता है जिसमें कवि 'यांत्रिकता' का शिकार हो गया है। कहीं यह आत्म विश्वास प्रतिक्रियाजन्य भी हो गया है। जैसे 'बाबू रामचन्दर को एक चिढ़ावन' कविता है। वास्तविकता यह है कि कविता यहाँ कुछ उत्पादित सी वस्तु लगती है, जिसमें बाजार का असर अधिक है। कविता में आये शब्द, वस्तु को उसकी सम्पूर्णता में उभार नहीं पाते। कुछ अटके जान पड़ते हैं। ऐसा लगता है कि कविता उकरूँ बैठकर चिंतन कर रही है। अब यह बाथरूम भी हो सकता है, ड्राइंग रूम भी और सड़क भी। निलय व एकांत की जमीनी यथार्थ लगभग नदारद है। लोक सौन्दर्य की दृष्टि से ये कविताएँ निरर्थक होने के हद तक बनावटी है, हालांकि लोक विम्बों की लड़ियाँ खूब मिलती हैं। ये समग्रता में लोक कथाओं की टूटी संग्रहालय जान पड़ती हैं, जिन्हें अब दर्शक भी देखना पसंद नहीं करेंगे।

लेकिन इसके बावजूद कुछ कविताएँ हैं जिनपर ध्यान जाता है और वे वहीं हैं, जिनमें कवि ने भाषाई आंतरिकता के माध्यम से प्रक्रिया व परिणति दोनों पक्षों को देखा है। 'प्रेम पत्र', 'धूप, चाम और निरधिन राम', 'लालमुनि' ऐसी ही कविताएँ हैं। 'लालमुनि' में नारी चरित्र के माध्यम से संघर्ष को उभारा गया है। जो अब सामाजिक अधिक है-

'देगी लाख लाख अशीष

भइया को युग युग जीने की

पुलिस की गोली कूटेगी

सूरज के जोत सा

चमको मेरे बीरन

कस्बे के सूदखोर सेठ का

बही खाता कूटेगी

लालमुनि गोधन कूटेगी।[76]

बोधिसत्व : 11 दिसम्बर 1968। पूरा नाम अखिलेश कुमार मिश्र। 'सिर्फ कवि नहीं' 1991 में प्रकाशित। अगला संकलन बकौल कवि राजकमल से शीघ्र प्रकाश्य। धुर ठेठ के कवि। इधर अपनी सीमाओं से अवगत और संवेदनाओं के विस्तारीकरण की ओर, तमाम विवशताओं के बीच, अग्रसर। शब्द चयन में अरुण कमल जैसे सचेत। अत: उनकी सीमायें भी यदा कदा दिखायी देती हैं। शब्दों का प्रयोग न केवल शब्दों को बचाने के रूप में करते हैं, बल्कि उसे नई अर्थवत्ता भी प्रदान करते हैं। इनका होना शब्दों के होने से है और शब्दों का होना कविता के होने में है। संग्रह से बड़े नाजुक कवि लगते हैं, लेकिन संग्रह के बाहर की कविताओं में परिपक्वता देखी जा सकती है। यूँ यह उनके अध्ययन और संवेदनाओं के लगातार परिमार्जन का परिणाम भी हो सकता है, हलाँकि कि यह भी सत्य है कि तमाम कोंचा-काँची के बीच भी उन्हें लोक संदर्भों के अपने जमीनी यथार्थ को नहीं छोड़ना चाहिए।

बोधिसत्व गाँव की स्मृति के नहीं, बल्कि यथार्थ के कवि हैं और इसीलिए ये गाँव से ही अपनी अभिव्यक्ति को आरम्भ करते हैं। इनके गाँव में खेती है, जमीन है, गारे युक्त घर है, गमकउआ धान है, खण्डहर हैं, सुख्खू मुसहर है, धान में पानी बेराते पिता हैं, झुन्नी बीनती लड़कियाँ हैं, लेउ लगाती औरतें हैं, सुलगते कौड़े की तरह गाँव की गर्मी देती मस्टराइन हैं, बीड़ी पीती मजदूरा औरतें हैं, गहदुरिया में चूल्हा

सुलगाती माँ है, दँवगरा कर चले जाने वाले बादल हैं, ... न जाने क्या क्या है। ये सब लोक जीवन के पक्ष हैं जिनमें प्रकृति है, व्यक्ति है, परिस्थिति है। इन सभी की विशेषता यह है कि इनमें कवि स्थिति का बखान भर नहीं करता, बल्कि उसके मर्म तक पहुँचता है जो उस स्थिति को जन्म देती हैं। इस कारण वह व्यावहारिक पक्ष को भी पकड़ता जाता है। जो 'दाने' (1984) केदार जी में मण्डी जाने से मना करते हैं, वे बोधिसत्व में 'आलू के बोरों' के रूप में शहर की ओर जा रहे हैं (पिता कविता)। ऐसा इसलिए कि कृषक को पैसा चाहिए। यही स्थिति एकांत में भी मिलती है (धान गंध 1) जिसमें अनाजों को बैलगाड़ियों से शहर जाने की बात आती है। यह शहर या बाजार का आकर्षण नहीं है, बल्कि अतिशय मोह से मुक्ति का प्रयास है। यही मोह केदार जी में दानों को मण्डी तक ले जाने नहीं देता। यूँ यह दो दृष्टियों का फर्क है। यह लोक का बदलता पक्ष भी है।

जहाँ कहीं 'स्मृति' आती है (काकी, माँ को पत्र), उसमें भी कुछ अछूते लोक विम्बों को देखा जा सकता है। उसमें 'लोक' की त्याग भावना को ही उभारा गया है और अपनी विवशता को चने की हाँडी में बंदर की मुट्ठी से व्यक्त किया गया है। 'माँ का पत्र' कविता में लोक (माँ) का त्याग देखें-

मैंने सपना देखा माँ!

तुम धान कूट रही हो

तुम आटा पीस रही हो

तुम उपरी पाथ रही हो

तुम बासन माँज रही हो

तुम सानी-पानी कर रही हो

तुम रहर दर रही हो

तुम उधर फटी धोती सी रही हो

तुम मुझे डाक से

कपड़े सिलाने के लिए

रुपये भेज रही हो।[77]

इसको पढ़ते ही नागार्जुन की कविता 'चंदू मैंने सपना देखा' याद आती है, जिसमें इतनी तो समानता है ही कि हर आवृत्ति में एक नया संदर्भ जुड़ता और यह नयापन बिल्कुल पुरानेपन के साथ आता है। लोक जीवन की यह क्रियात्मकता बोधिसत्व की इधर उधर फैली तमाम कविताओं में है।

लेकिन इन शब्दों व भावों को बचाने के साथ कवि को लोक की रूढ़िजन्य अभ्यासात्मकता से भी बचना होगा, अन्यथा कविता में अनंत संभावनाओं के द्वार बंद हो जायेंगे। किसी भी कवि को अपने को परिभाषित होने से बचाना होता है, हालाँकि आरम्भ में यही उसके लिए जरूरी भी होता है। बोधिसत्व इसमें सफल हो सकेंगे। यह अनुमान कोरा नहीं है। "निरंजना के उस पार जैसी 'आजकल' में छपी कविताओं से ऐसी संभावना है। कथा- जनवरी-1999 में प्रकाशित कुछ कविताओं से हम आश्वस्त भी हैं जिसमें 'दहजना' जैसे बड़े ही सार्थक शब्द प्रयोग भी हैं।

इन कवियों के विश्लेषण के पश्चात थोड़ा इसका भी संधान किया जाय कि साठोत्तरी हिन्दी कविता में क्या विषंगतियाँ रही हैं। पहले हमें लोक जीवन परक कविताओं के बारे में सोचते लगता है कि इसमें बहुत सारी कविताएँ स्मृतियों की कविताएँ रही हैं। जहाँ ये स्मृतियाँ सांस्कृतिक भावों की उद्भावक बनती है: वहाँ तक तो ठीक है, किन्तु जब ये केवल धान, गेहूँ, पशु, खेत, मेड़, नदी आदि तक ही सीमित रह जाती हैं, इनकी सीमायें स्पष्ट होने लगती हैं। कहीं ऐसा तो नहीं कि आगे की राह बंद

होने पर पीछे की राह खुलने लगती है? खास तौर पर वहाँ जहाँ आगा-पीछा से भी काम नहीं चलता?

बहरहाल इस दौर की कविताएँ एक प्रकार से 'अनुनादित' (resonant) कविताएँ लगती हैं, जहाँ वस्तु को हल्के से हिलाया जाता है (स्मृति को), फिर उसकी आवाज सुनी जाती है। इसी कारण थोड़ा वैविध्य भी आता है, क्योंकि यदि वस्तु की संरचना जटिल है, जो कि है ही, तो आवाज भी थोड़ी 'वैरियेट' करेगी। इस 'वैरियेट' के भी शेड्स है। कुछ तो वस्तु को हल्का सा कँपा कर छोड़ देते हैं फिर सुनते हैं (मसलन केदार नाथ सिंह), कुछ लोक वस्तु को एक हाथ से पकड़े रहते हैं। जाहिर सी बात है, यदि आप पकड़े रहेंगे, तो आप ध्वनि के मूल तक नहीं पहुँच पायेंगे। आशय यह कि वे 'वस्तु' के ऊपर अपनी अवधारणा को थोप देते हैं। ऐसे कवियों में व्यक्तिगत भाव ही रहता है और इसे छिपाने के लिए कभी कभी वे मिथकों का सहारा लेते हैं, किन्तु वे मिथक भी समाज के न होकर व्यक्ति (गत) के हो जाते हैं। वह एक खतरनाक स्थिति है।

कविता में पहले प्रकार का अन्यतम उदाहरण केदार नाथ सिंह की कविता 'नमक' (उत्तर-कबीर) है। इसका लोक सौन्दर्य अद्भुत है। 'वस्तु' की अपनी frequency पर अनुनादित कविता का यह एक सुन्दर उदाहरण है।

यह जरूर है कि समकालीन हिन्दी कविता के वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में मिथकों, मोटिफ्स, लीजेण्डस आदि की लगातार अनुपस्थिति, हिन्दी कविता की लोकप्रियता के लगातार क्षरित होते जोने का कारण है। दरअसल हिन्दी कविता की जातीय चेतना ही कुछ ऐसी है कि मिथकों से कविता में रोचकता बढ़ती है। इसके कुछ नुकसान तो स्पष्ट है-

1. पहला यह कि यथार्थ का जो नया से नया उद्घाटन संभव हो सकता था,

वह नहीं हुआ, क्योंकि रचनाकार के सोचने की क्षमता लगातार कम होती जाती है। मिथक प्रयोग से चिंतन शैली की पुष्टता स्वयं सिद्ध है।

2. दूसरे यह कि बड़ी कविताएँ कम लिखी जा रही है। इससे कविता में कथातत्व का अभाव दिखायी देता है। इसके अभाव में कविताएँ मात्रा में तो बढ़ी, किन्तु गुण में नहीं। बड़ी कविताओं का यही अभाव हिन्दी कविता की चिंतनीय स्थिति का कारण है।

3. इस कारण से वास्तव में कविता को जहाँ एक ओर से कहानी की चुनौती में कमजोर होना पड़ रहा है, वहीं दूसरी ओर वह मंचीय रागात्मक कविताओं के दबाव का शिकार हो रही है। कविता में कथातत्व का अभाव, कहानी के सामने जहाँ इसे कमजोर करता है, वहीं मंचीय कवियों की लयात्मकता इन कविताओं के पाठक को घटाती है। यह ध्यान देने के विषय है।

4. कथातत्व के अभाव में कविता की रोचकता की कम हुई है। यह अतिशय बौद्धिकता का प्रभाव भी है।

संदर्भ सूची

1. कुँवर नारायण 'तीसरा सप्तक' - पृ0 166 - 'ये पंक्तियाँ मेरे निकट' कविता।
2. डा0 केदार नाथ सिंह - 'रोटी' कविता - प्रतिनिधि कविताएँ' मे संकलित।
3. केदार नाथ सिंह 'मेरे समय के शब्द' - पृ0 78।
4. वही।
5. वही।
6. विजय कुमार - 'कविता की संगत' - पृ0 29।
7. डा0 नामवर सिंह 'विवेक के रंग' में संकलित समीक्षा।
8. विजय कुमार - कविता की संगत - पृ0 49।
9. केदार नाथ सिंह - 'जमीन पक रही है' संग्रह।
10. वही।
11. डा0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - 'बेहतर दुनिया के लिए' - 1985 संग्रह से।
12. स्व0 मान बहादुर सिंह - 'भूतग्रस्त' - 1985 संग्रह से।
13. एकांत श्रीवास्तव - 'बसुधा' 42, सितम्बर 98 में प्रकाशित।
14. बोधिसत्व - 'सिर्फ कवि नहीं' संग्रह की 'टूटी दियरी' कविता।
15. अरुण कमल - 'अपनी केवल धार' - 1980।
16. निलय उपाध्याय - 'अकेला घर हुसैन का' संग्रह।
17. केदार नाथ सिंह - 'अकाल में सारस' संग्रह से।
18. कुमार अंबुज - 'क्रूरता' संग्रह से।

19. नवल शुक्ल - दशों दिशाओं में।

20. केदार नाथ सिंह - 'जमीन पक रही है।'

21. कुमार अंबुज - 'अनंतिम' संग्रह से।

22. विजेन्द्र - 'ऋतु का पहला फूल' संग्रह से।

23. अरुण कमल 'नये इलाके में' संग्रह से।

24. वही।

25. कुमार अंबुज - 'किवाड़' संग्रह से।

26. डा0 केदार नाथ सिहं, 'गड़ेरिया का चेहरा' कविता - 'प्रतिनिधि कविताएँ' में संकलित।

27. कृति ओर जन-मार्च 98 - सं - विजेन्द्र - अंक-3।

28. ज्ञानेन्द्र पति, 'एक कर्णप्रिय कीर्ति कथा' - वागर्थ - दिसम्बर - 96।

29. पहल - 56 वर्ष 1997 में प्रकाशित।

30. मदन कश्यप 'बाँके मियाँ' 'लेकिन उदास है पृथ्वी' में संकलित।

31. निलय उपाध्याय - कईली - 'अकेला घर हुसैन का'।

32. केदार नाथ सिंह - 'यहाँ से देखो' में संकलित।

33. केदार नाथ सिंह 'गाँव आने पर' कविता 'उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ' में संकलित।

34. केदार नाथ सिंह - 'नदी' 'अकाल में सारस' में संकलित।

35. केदार नाथ सिंह - 'जमीन पक रही है'।

36. केदार नाथ सिंह - 'गूँज' - 'उत्तर कबीर' में संकलित कविता।

37. केदार नाथ सिंह - 'रोटी' - 'जमीन पक रही है' में संकलित।

38. केदार नाथ सिंह - 'उत्तर कबीर' शीर्षक कविता।

39. केदार नाथ सिंह - 'प्रिय पाठक' - 'अकाल में सारस' में संकलित।

40. विजेन्द्र - 'धरती कामधेनु से प्यारी' संग्रह।

41. विजेन्द्र - 'नूर मियाँ' कविता - 'धरती कामधेनु से प्यारी' में संकलित।

42. विजेन्द्र - 'जनपद का वृक्ष' - धरती कामधेनु से प्यारी' में संकलित।

43. ऋतुराज - 'सुरत निरत' संग्रह।

44. ऋतुराज - 'गरीब लोग' कविता - 'सुरत निरत' संकलन में।

45. राजेश जोशी - 'मिट्टी का चेहरा' संग्रह से।

46. राजेश जोशी - पहल - 49 - कुछ पुरानी चीजों के पक्ष में।

47. राजेश जोसी - पहल - 49 - दो नन्हें मोजे।

48. मंगलेश डबराल - 'पहाड़ पर लालटेन से'।

49. वही।

50. वही।

51. वही।

52. वही।

53. वीरेन डंगवाल - 'राम सिंह' - 'इसी दुनिया में' ।

54. वीरेन डंगवाल - 'हम औरत ...'

55. वीरेन डंगवाल - 'नदी' - 'इसी दुनिया से'।

56. आलोक धन्बा - नदियाँ - 1996 - 'दुनिया रोज बनती है' संग्रह से।

57. आलोक धन्बा - 'बकरियाँ' संग्रह से।

58. आलोक धन्बा - संग्रह से।

59. वही।

60. वही।

61. ज्ञानेन्द्र पति - खजुराहो - साक्षात्कार जून 98।

62. ज्ञानेन्द्र पति - 'मशरूम बल्द कुकुरमुत्ता' - आजकल 97।

63. ज्ञानेन्द्र पति - 'संक्रांति बेला - साक्षात्कार - सितम्बर 97।

64. अरुण कमल - 'सबसे ऊँची छत पर' - 'नये इलाके में' संकलित।

65. अरुण कमल - 'सुख' - 'नये इलाके में' से।

66. अरुण कमल - 'सबूत' संग्रह से।

67. अरुण कमल - 'एक रात घाट पर' - 'अपनी केवल धार से'।

68. अरुण कमल 'सबूत' से।

69. अरुण कमल 'चेहरा' - 'नये इलाके में' से।

70. स्वप्निल श्रीवास्तव - 'गुठली' -'ताक पर दियासलाई' से।

71. स्वप्निल श्रीवास्तव - 'ईश्वर एक लाठी है' से।

72. निलय उपाध्याय - 'मंत्री जी मेरे गाँव आना' कविता - संग्रह से।

73. निलय उपाध्याय - 'भात पकने का गीत' से।

74. एकांत श्रीवास्तव - 'मेले में' -'अन्न हैं मेरे शब्द' से।

75. एकांत श्रीवास्तव - 'अन्न हैं मेरे शब्द' से।

76. बद्री नारायण - 'लालमुनि' - 'सच सुने कई दिन हुये'।

77. बोधिसत्व - माँ को पत्र - 'सिर्फ कवि नहीं' संग्रह से।

अध्याय - पाँच

भाषायी एवं शिल्पगत परिवर्तन

साठोत्तरी हिन्दी कविता के संदर्भ में लोकधर्मी कविताओं को आधार बनाकर भाषायी व अभिव्यंजना कौशल का मूल्यांकन बड़ा रुचिकर है, क्योंकि इसके मूल में उत्तरोत्तर लोक जीवन के शब्दों की अभिव्यक्ति के लक्षण मिलते जाते हैं। आदिकाल व भक्तिकाल तो इन्हीं लोक शब्दों से अटा पड़ा हैं। आधुनिक काल में भी ये शब्द प्रचुर मात्रा में आये हैं और स्वतंत्र भारत की हिन्दी कविता में तो ये बढ़ते गये हैं। हाँ, इनका संदर्भ अवश्य ही बदलता रहा है।

वास्तव में आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक की काव्य भाषा का मूल्यांकन करने के पहले यह बात स्पष्ट करनी होगी कि भाषा का अर्थ, यहाँ पर भाषा की सर्जनात्मकता से ही है। काव्य भाषा का यह 'सर्जनात्मक पक्ष' आदिकाल से अब तक चला आ रहा है। पहले (आधुनिक काल के पहले) तो भाषा लोक भाषा की सर्जनशीलता पर कोई विवाद नहीं था, क्योंकि भाषा स्वभावत: लोकोन्मुखी थी। यह तो पूँजीवाद के स्पष्ट प्रभाव का परिणाम रहा कि भाषा शिष्ट व लोक दो रूपों में बँटने लगी और यह पूँजीवाद अंग्रेजों का 'कैपिटलिस्टिक पूँजीवाद' ही रहा। इसी के साथ भाषाई शुद्धता पर बल देकर लोकभाषा के महत्व को नकारने की प्रक्रिया भी आरम्भ हुई, लेकिन लोकभाषा जैसा कि इसका स्वभाव है, इसको नजरअंदाज करते स्वभावत: आगे बढ़ी है और बढ़ती रही है। इस रूप में ओवेन बारफील्ड की 'काव्य भाषा' के बारे में दी गई टिप्पणी को ध्यान में रखने की जरूरत है जिसमें उसने कहा है कि 'काव्य भाषा की परिभाषा देने की चेष्टा के बजाय उसके स्वरूप-विश्लेषण पर बल दिया

जाना चाहिए'। बारफील्ड महोदय ने कहा है कि 'जब शब्दों का चयन व नियोजन इस तरह से किया जाय कि वह सौन्दर्यात्मक कल्पना को जागृत करे या करने की चेष्टा करे, तो इस चयन के परिणाम को काव्यात्मक शब्द-समूह (poetic diction) कहा जाता है।[2] स्पष्ट है कि सौन्दर्यात्मक कल्पना को जागृत करना शब्दों का अभीष्ट होता है।

दरअसल 'भाषा' के विकास में यह बात बहुत ही स्पष्ट है कि बोलचाल की भाषा व साहित्यिक भाषा के बीच हमेशा ही एक क्रियात्मक संघर्ष चलता रहता है। बोलचाल की भाषा ही काव्य भाषा के रूप में स्थिर होती है और काव्य भाषा ही बोल चाल से तत्व ग्रहण कर अपने को बदलती चलती है। संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, ब्रज, अवधी, खड़ी बोली आदि सभी पहले लोक भाषाएँ रही, जो बाद में काव्य भाषा बनी। जब एक भाव के लिए एक शब्द स्थिर हो जाता है, तब भाषा व्याकरणबद्ध हो जाती है और उसका विकास रुक जता है। जब तक उस भाव को व्यक्त करने के लिए एक से अधिक शब्दों कई छूट होती है, तब तक वह जनभाषा ही होती है। भाषा की यही स्वच्छंदता लोकमन को सच्ची अभिव्यक्ति प्रदान करती है। बोलचाल व शिष्टभाषा के सम्बन्ध में लिखते हुए डा0 चतुर्वेदी कहते हैं : "बोलचाल के शब्दों में लाक्षणिक क्षिप्रता काव्य भाषा के सम्पर्क से ही विकसित होती है और स्वयं रूढ़ होने पर यह काव्य भाषा बोलचाल के मुहावरे से अपने में नयी रचनाशक्ति उत्पन्न करती है"[3]। कहीं कहीं काव्य भाषा के स्थिर हो जाने पर भी कविता लोकधर्मी होती है (तुलसीदास), किन्तु वहाँ यह भाषाई विधान के स्तर पर न होकर, 'वस्तु' के धरातल पर ही होती है। कहीं कहीं 'वस्तु' व भाषा दोनों स्तर पर लोकोन्मुखी होती है, जैसे कबीर या प्रगतिवाद में।

इस प्रकार कविता की भाषा मूलत: लोकधर्मी होती है, जो विभिन्न रचनाकारों

की **सृजन-प्रक्रिया** में समाहित होकर अपने स्वरूप परिवर्तित कर लेती है। इस रचनात्मक सृजन प्रक्रिया के आधार कवि के अपने भाव चित्र व विम्ब-विधान ही होते हैं क्योंकि कोई भी 'कवि' परम्परा में स्वीकृत भाव चित्रों का प्रयोग अधिक नहीं करता। आवश्यकता पड़ने पर सामान्य से सामान्य शब्दों के आधार पर अपना इच्छित भाव चित्र स्वयं निर्मित करता है"[4]। अब यदि उसके भाव चित्र लोकोन्मुखी हैं, तो निश्चय ही उनकी अभिव्यक्ति भी वह ग्रामीण बोलचाल के शब्दों से ही करेगा और बिल्कुल एक नये अर्थ में। इससे ही कोई भाषा जीवित व जीवंत बनी रहती है। यही पर वह बिम्ब विधान का भी सहारा लेता है और जब यही विम्ब विधान घिसकर प्रतीकों का रूप लेने लगते हैं तो भाषा स्थिर होने लगती है। फिर चाहे वे लोक प्रतीक हों या फिर शिष्ट प्रतीक। चाहे वे मिथक हों या फिर ऐतिहासिक चरित्र नायक। हिन्दी कविता के समग्र विकास में यह दिखायी देता है। संतो का काव्य, तुलसी तक आते आते इसी तरह कुछ रूढ़बद्ध हो गया। भारतेन्दु युगीन लोकोन्मुखता, द्विवेदी युगीन काव्य में इसी प्रकार व्याकरणबद्ध हो गई। छायावाद का भाषा व भावगत वैविध्य (विशेषता निराला का) इसी प्रकार प्रगतिकालीन रीतिवाद (मार्क्सवाद) से अवरुद्ध हो गया। भाषा का वैविध्य उभर नहीं पाई। उसमें ठहराव दिखाई देने लगा। लोक भाषा के वैविध्य का रूप वास्तव में फिर साठोत्तरी हिन्दी कविता की लोकधर्मी कविताओं में ही दिखायी देता है, क्योंकि प्रयोगवाद व नयी कविता का धरातल कुछ और ही था। उसका व्यक्तिवाद लोकभाषाओं व शब्दों के लिए उपयुक्त न जान पड़ा। यूँ भी स्वतंत्र भारत का आरम्भिक काल होने के कारण नयी कविता की मानसिकता ही कुछ और थी।

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी कविता में स्वच्छन्दतावाद के आविर्भाव पर विचार करते हुए लिखा है कि 'जब पण्डितों की काव्य भाषा स्थिर होकर उत्तरोत्तर आगे बढ़ती हुई लोक भाषा से दूर पड़ जाती है और जनता के हृदय पर प्रभाव डालने वाली उसकी

शक्ति क्षीण होने लगती है, तब शिष्ट समुदाय लोक भाषा का सहारा लेकर अपनी काव्य धारा में नया जीवन डालता है। प्राकृत के पुराने रूपों से लदी अपभ्रंश जब लद्धड़ होने लगी, तब शिष्ट काव्य प्रचलित देशी भाषाओं से शक्ति प्राप्त करके ही आगे बढ़ सका। यही प्राकृतिक नियम काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध से भी अटल समझना चाहिए। जब जब शिष्टों का काव्य पण्डितों द्वारा बँधकर निश्चेष्ट और संकुचित होगा, तब तब उसे सजीव व चेतन प्रसार देश को सामान्य जनता के बीच स्वच्छन्द बहती हुई प्राकृतिक भावधारा के जीवन तत्व ग्रहण करने से ही प्राप्त होगा।' आचार्य शुक्ल के अनुसार यह नियम अटल तो अवश्य है पर यह 'जितना स्वच्छन्दतावादी कविता के विषय में लागू नहीं होगा, उतना नयी कविता (प्रगतिवाद) के विषय में लागू होता है।[5] यह साठोत्तरी हिन्दी कविता में और भी मुखर होता है। इसी संदर्भ में डा0 नामवर सिंह ने ठीक लिखा है कि 'पिछले पंद्रह वर्षों से (1935 के बाद से) हिन्दी कविता में जिस वेग से लोक भाषा का प्रभाव बढ़ रहा है, वह संत भक्ति काव्य के बाद कभी भी दिखाई नहीं पड़ा था।[6] इस समय के कविता शीर्षकों से इसका अंदाजा लगाया जा सकता है- निराला की 'तोड़ती पत्थर' (1937) से आरम्भ कर केदारनाथ सिंह की 'जमीन पक रही है' (1980) से होकर एकांत श्रीवास्तव के 'अन्न हैं मेरे शब्द' (1992) तक में इसे देखा जा सकता है।

अपने इसी लेख में डा0 नामवर सिंह लिखते हैं 'इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से यह पता चलता है कि लोक जीवन एक ऐसी शक्ति है जो सामाजिक गतिरोध को तोड़ने के साथ ही साहित्यिक गतिरोध को भी तोड़ता है... नया कवि इस प्राणदायिनी लोकशक्ति के ऋण को स्वीकार करने में गौरव अनुभव करता है और इस स्वीकृति से उसे बार बार पुनर्जीवन मिलता है।" आगे अनुभूति पक्ष पर बल देते हुए वे लिखते हैं "यहाँ ईमानदारी से हमें स्वीकार करना चाहिए कि कुछ सामाजिक कारणों से हममें

से अनेक रचनाकार चाहते हुए भी लोक जीवन के साथ तादात्म्य की गहरी अनुभूति नहीं कर पाते। इसीलिए हमारी कविताओं में लोक भाषा के शब्दों को अपनाने की महत्वाकांक्षा तो रहती है, परन्तु उन्हें खपाने की सफलता बहुत कम पाई जाती है।[7]

इस प्रकार डा0 नामवर सिंह के अनुसार अनुभूति आकांक्षा से नहीं आती। वह आकांक्षा के कार्यान्वित होने की ठोस प्रगति से आती है। इसके लिए जीवन में ऐक्य का होना जरूरी है।

अब यदि हम इस पृष्ठभूमि में **मध्यकालीन हिन्दी कविता** का मूल्यांकन करें, तो बात स्पष्ट हो सकेंगी। भक्तिकाल में कबीर व जायसी की भाषा जहाँ तद्भव प्रधान थी और इस कारण से जन चेतना से जुड़ी थी, वहीं पर सूर व तुलसी की भाषा तत्सम प्रधान है और संस्कृत परम्पराओं की ओर उन्मुख है। कबीर की भाषाई लोकोन्मुखता तुलसी में संस्कृतोन्मुखता में पर्यवसित हो जाती है, यद्यपि यहाँ भी भाव लोक मानस का ही होता है। इस प्रकार सूर व तुलसी में भाषा कुछ कुछ स्थिर होती है, जबकि कबीर व जायसी में भाषा गत्यात्मक होती है। कबीर में अनगढ़ता का सौन्दर्य है, तुलसी में व्यवस्था का। एक का सौन्दर्य तद्भव है, दूसरे का तत्सम। एक गतिशील है, दूसरा स्थिर। भाव के स्तर पर भी ऐसा है, जिसका विवेचन हम पहले ही कर आये हैं। स्वयं सूर व तुलसी का अलग अलग विवेचन करने पर उनकी तद्भवता का पता चलता है जहाँ सूर में भाषा, बाललीला के वर्णन में तद्भव होती है, जबकि सौन्दर्य वर्णन में तत्सम।

आगे **रीतिकाल** में काव्यभाषा जड़ हो जाती है। जड़ता का मतलब तत्समता ही नहीं है। अलंकार भी है। तुलसी की तत्सम बहुलता में लोकोन्मुखता थी, बस रुझान संस्कृत की तरफ था, क्योंकि विषय ही कुछ ऐसा था। रीतिकाल में तुलसी काव्य भाषा की संस्कृतनिष्ठता का यह रुझान उद्देश्यबद्ध हो गया। 'भाखा' में गर्व

करने वाले कबीर, सूर, तुलसी से हटकर केशवदास को ग्लानि उत्पन्न होने लगी। अवधी, ब्रज, खड़ी बोली की जगह अब केवल ब्रज ही प्रयुक्त की जाने लगी। अत: भाषा की जड़ता के कारण लोक प्रवृत्ति का नुकसान हुआ। 'संत कबीर के समय की बहते नीर की तरह 'भाखा' मानो आचार्य भिखारीदास तक आते आते फिर कूप जल में परिणत हो गई। शायद यही प्रवाह की नियति है।'[8] आगे रीतिमुक्त कवियों ने अवश्य ही इसके विरुद्ध विद्रोह किया।

आधुनिक काल की काव्य भाषा एक बदली मानसिकता की उपज रही है। डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ठीक लिखते हैं कि 'मध्यकालीन काव्य भाषा अपने श्रेष्ठ रूप में मूलत: तन्मयता के अनुभव को व्यक्त करती है। यह चाहे भक्त-भगवान की हो या फिर प्रेमी प्रेमिका की'।[9] यह तन्मयता कबीर से लेकर घनानंद तक में मिलती है। ऐसा इसीलिए कि उस समय तनाव न तो भाषा को लेकर था, और न ही जिन्दगी को लेकर। आधुनिक काल का तनाव बहुत समय तक मध्यकाल की इस प्रवृनि से मेल नहीं खा सकता था। अत: आधुनिक काल ने 'तन्मयता' की जगह 'तनाव' को जन्म दिया। इस तनाव को संप्रेषित करने के लिए ब्रजभाषा की संगीतात्मकता वहुत उपयुक्त नहीं रह गई थी। अत: खड़ी बोली ने इसकी जगह ली और फिर 'अर्थ-संयोजन' प्रमुख रूप से उभरा। इस तनाव के साथ अंतर्विरोध भी गहरे जुड़े हैं और मध्यकालीन अप्रस्तुत विधान जहाँ भाषा में घुल मिल नहीं सके थे. आधुनिककालीन विम्ब विधान भाषा में घुल मिलकर उसे गति प्रदान किये। यह बहुत ही उत्साहवर्धक स्थिति रही।

इसी 'तनाव' के कारण आधुनिक काव्य भाषा, मध्यकालीन काव्य भाषा से अलग होती है। डा0 चतुर्वेदी लिखते हैं कि 'संगीत के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रूप हिन्दी साहित्य में आधुनिक कविता में मिलता है, जिसका सारा संगठन भाषा के सृजनात्मक

प्रयोग पर निर्भर करता है। संगीत व छंद का सहारा उसने छोड़ दिया है। सामान्य भाषा में जो उसकी अंतर्निहित शक्ति होती है, उसी से रचना संभव हो जाती है।[10] इस प्रकार आधुनिक काव्य की यह भाषा रीतिकाल से एकदम अलग पड़कर काव्य की 'लय' से युक्त होती है। वास्तव में मध्यकालीन का हमारा अधिकांश काव्य किसी न किसी रूप में 'संगीत' का सहारा लेता है और ऐसा लोक साहित्य का ही प्रभाव रहा है क्योंकि 'लोक साहित्य में सामान्यतया भाषा का सृजनात्मक प्रयोग नहीं मिलता। वहाँ भाव चित्रों का संघटन नहीं मिलता। लोक गीत में तो अधिकतर संगीत के सक्रिय सहयोग में दैनिक बोलचाल की भाषा रहती है। शब्दों का योग गौण रहता है।[11] अत: शिष्ट काव्य व लोक साहित्य का यह अंतर 'संगीत' के आधार पर किया जाता है क्योंकि शिष्ट काव्य में 'संगीत' के साथ 'शब्दों के संघटन' पर भी जोर दिया जाता है।

ऐसा भी नहीं कि मध्यकाल में सूर, तुलसी व मीरा में संगीत ही प्रधान था। काव्य था ही नहीं।' 'निश्चय ही संगीत का सहयोग काव्य के उत्कर्ष की तुलना में कम है[12] फिर भी संगीत प्रधानता के कारण काव्य सौन्दर्य यहाँ दबा नहीं है। अन्यथा तो यह भी लोक साहित्य ही हो जता। आधुनिक काल में यह संगीत, प्रसाद व निराला में मिलता है। निराला ने तो अज्ञेय के साथ स्वीकार भी किया है कि उनका काव्य संगीत प्रधान है।[13] लेकिन निराला में यह जल्दी ही समाप्त हो गया और जहाँ था, गौण रूप से ही, शब्द में अर्थ दिखायी देने लगा। यह 'लय' प्रधान कविता हो गयी, न कि संगीत प्रधान। पर कुल मिलाकर बाद की कविता में काव्य में संगीत की जगह 'अर्थ की लय' पर बल दिया जाने लगा और यही से 'काव्यभाषा' की सर्जनात्मकता का पता चलता है।

इसके अलावा आधुनिककाल की एक और विशेषता है : *बिम्ब-प्रधानता।* जो

कि 'अर्थ संश्लेष' पर बल देती है, न कि 'गोचर प्रत्यक्षीकरण' पर, जो मध्यकाल की विशेषता थी। यहाँ का विम्ब विधान एक प्रकारसे द्वन्द्वात्मक स्थिति की उपज होता है, जिसमें एक अर्थ की विविध छायायें मिलती है। इससे आधुनिक समय की संघर्षधर्मी काव्य का पता चलता है, जो लोकधर्मी काव्य की निजी विशेषता हुआ करता है। काव्य के इस संघर्षधर्मी भाव को विम्ब विधान की इसी द्वन्द्वात्मक प्रवृत्ति ने गति दी है। डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ठीक लिखते हैं कि 'ब्रजभाषा काव्य के विम्ब विधान में दृश्यमयता का तत्व प्रमुख था। चाहे उत्प्रेक्षा के रूप में, चाहे सांग रूपक के रूप में, चाहे शुद्ध विम्ब के रूप में। खड़ी बोली के साथ ही विम्ब प्रक्रिया में दृश्यमयता गौण और अर्थ की द्वन्द्वात्मक क्षमता प्रधान होती गई है[14]। इससे स्पष्ट है कि रीतिकालीन विम्बविधान दृश्यात्मक अधिक था, जबकि आधुनिक काव्य द्वन्द्वात्मक। इससे स्पष्ट है कि 'आधुनिक कविता ने यह क्षमता विकसित की है कि यहाँ पूरी रचना का अर्थ एक और सीधा नहीं है, पर रीतिकालीन श्लिष्ट काव्य की तरह दो अलग-अलग अर्थ भी नहीं रखता। वरन् एक ही अर्थ के दो सूक्ष्म स्तर पर अपने तनाव और संश्लेष से एक वृहत्तर अर्थ की सृष्टि होती है।[15]

इस प्रकार अर्थ-लय व विम्ब-विधान, दोनों दृष्टियों से आधुनिक हिन्दी कविता का विश्लेषण रोचक है और 'काव्य-भाषा' इन दोनों को कैसे सम्प्रेषित करती है, यह भी विश्लेषण का विषय है। खड़ी बोली पर चढ़ी आधुनिक काल की कविता के विविध आयाम, भाषा के स्तर पर खुलते से गये हैं और खड़ी बोली ने भाव व लय के स्तर पर बोलचाल के शब्द से निजता स्थापित करने की लगातार कोशिश की है। भारतेन्दु युग, छायावाद, प्रगतिवाद व साठोत्तरी हिन्दी कविता का विश्लेषण इस आधार पर काफी रोचक है। ड0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इसी को लक्षित कर लिखा है कि 'भारतेन्दु ने कविता की भाषा में अंतर बाद में किया। उनके माध्यम से खड़ी बोली

की प्रतिष्ठा एक बड़ी क्रांति थी, किन्तु उन्होंने यह परिवर्तन अधिकतर गद्य की भाषा में किया। यह भी विचारणीय है कि इसके बाद कविता में खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग श्रीधर पाठक, हरिऔध, मैथिली शरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी आदि करते हैं। किन्तु खड़ी बोली हिन्दी के आरम्भिक प्रयोगकर्त्ता होने के कारण इन कवियों ने बराबर भाषा का सीधा प्रयोग किया। कविता की भाषा जैसी गहरी अर्थ सम्पृक्ति इनकी रचनाओं में देखने को नहीं मिलती। आगे द्विवेदी युग में भी भाषा व्याकरणिक हो जाने के कारण भाव चित्रों के विधान में बहुत परिवर्तन न हो सका।[16] आगे वे लिखते हैं कि 'इस अविकसित काव्य भाषा के अनुरूप ही इन कवियों की संवेदना हैं जो इनके सीमित अनुभव क्षेत्रों का प्रधान कारण हैं।[17] इस रूप में स्वयं डा0 चतुर्वेदी के अनुसार, **'काव्य भाषा के रूप में खड़ी बोली का वास्तविक परिष्कार छायावाद युग में होता है।**[18] यहाँ भाषा में लाक्षणिकता, वक्रता और अनेक प्रकार की भंगिमाएँ विकसित की जाती हैं, जिनके सहारे बात को सीधे सीधे कहने के स्थान पर उसे संप्रेषित करने की चेष्टा की जाती है। शब्दों के अर्थ विस्तार में से इच्छित व वैकल्पिक अंशों को ग्रहण किया जाता है, जो काव्य भाषा बनने की पहली आवश्यक शर्त है। (वही) अत: यह ठीक है कि छायावाद में भाषा का संस्कार व परिष्कार दोनों ही होता है और आधुनिक समय में यह पहली बार होता है। इसकी अपनी सीमाएँ भी रही हैं क्योंकि इसी समय में लिखा गया 'प्रिय प्रवास', 'साकेत', 'पथिक' जैसे प्रबन्ध काव्य में भाषा सर्जनात्मक होने की जगह घटना प्रधान हो जाती है। विवरणात्मक होती है। ऐसा एक ओर खड़ी बोली की प्रारम्भिक अवस्था के कारण होता है, दूसरी ओर इनके मध्यकालीन प्रतीक-विधान से मुक्त न हो पाने के कारण। इसी समय 'निराला' इसके महत्वपूर्ण उदाहरण के रूप में आते हैं, क्योंकि उनका सम्पर्क हमेशा ही जीवित भाषा (बोलचाल) से बना रहा।

छायावाद के तुरंत बाद **उत्तर-छायावाद** में बच्चन, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा, अंचल, माखनलाल चतुर्वेदी, बाल कृष्ण शर्मा नवीन, भगवती चरण वर्मा आदि में छायावाद पूर्व की इति वृत्तात्मकता, सीधी साधी भाषा, को अपनाने का आग्रह मिलता है और इसके कारण का विवेचन करते डा0 चतुर्वेदी लिखते हैं कि, "राष्ट्रीय आंदोलन के उन कठिन दिनों में तात्कालिक अभिव्यक्ति के लिए गुंजाइस अधिक थी।[19] लारेंस डरेल के शब्दों में इन रचनाकारों ने सत्य को सम्प्रेषित करने के बजाय उसे कह देना चाहा। यही कारण है कि सीधी सरल भाषा में गुप्त व प्रेमचंद तो आगे बढ़े, किन्तु यह उनकी सीमा ही बना। एक सीमा के बाद कहने के लिए उनके पास कुछ नहीं रह जाता जिसके बारे में आचार्य नंद दुलारे बाजपेयी ने 'जयशंकर प्रसाद' की भूमिका में लिखा है, 'जीवन के गहरे व बहुमुखी घात प्रतिघातों और विस्तृत जीवन दशाओं में पग-पग पर आने वाले उद्वेलनों को चित्रित करना, उन्हें संभालना और अपनी कला में उन सबको सजीव करना गुप्त व प्रेमचंद की साहित्य सीमा के बाहर है।'

आगे **प्रगतिवाद** में भी भाषा सरल ही रही, कुछ कुछ उत्तर छायावादियों की तरह, किन्तु यह तत्समता से मुक्त तद्भवता की ओर झुकी, जिस कारण से लोकोन्मुखी लेकर गतिशील भाव चित्रों को पकड़ने में समर्थ हुई। इसके लिए यह अतीतोन्मुखी न होकर वर्तमानोन्मुखी हुई और लोक जीवन के संश्लिष्ट चित्रों को पकड़ने में समर्थ हुई। यह बात अवश्य हुयी कि नारों के चक्कर में पड़कर इसने विधान का बहुत ध्यान नहीं दिया जिसके कारण काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से यह कमजोर भी हुयी। यह बात जरूर थी कि अपने मूल स्वर में यह कबीर के निकट जा पहुँचती है, जिसका स्वर आगे की प्रतिबद्ध कविता में पुन: दिखायी देता है, जहाँ विधान (विम्बों) का सहारा लेकर कविता आगे बढ़ती है और लोक सौन्दर्य का रूप धारण करती है। जैसे केदार नाथ सिंह में।

प्रयोगवाद ने भाषाई विधान पर बल दिया। अज्ञेय इसके उद्गाता बने। बिम्बों व प्रतीकों का प्रयोग आरम्भ हुआ। छायावाद की तत्समता से लेकर अंशत: तद्भवता को भी जगह दी गयी। किन्तु भाषा यहाँ कवि से स्वतंत्र न हो सकी। वह कवियों के हाथ की कठपुतली बनकर काव्य चमत्कार करने लगी, जिससे वह लोक जीवन से कट गयी। कहीं कहीं लोक भाषा का प्रयोग करके जनता को रिझाने की कोशिश अवश्य ही की गई पर उसका खुलासा हो गया। भाषा अपने मूल आधार से कट गई। 'प्रत्यक्ष' अनुभव जगत की जगह कवियों ने अपना अपना लोक 'निर्मित' कर लिया और सब अपनी तरह के कलाबाज हो गये। **यह बोलचाल की भाषा भी अज्ञेय के हाथों की कठपुतली बन गयी। इसका प्रवाह न रह सका। यह अज्ञेय की बोलचाल की भाषा बनी, न कि जन सामान्य की।** इसी कारण अज्ञेय की इस भाषा में भी जीवन लयपूर्ण, सामंजस्यपरक, व्यवस्थित ही है, न कि संघर्षमय! यहाँ लोक मन के कवियों का खुरदुरापन नहीं है, बल्कि एक प्रकार की चिकनाई है। इनकी मूल संवेदना 'प्रगीतात्मकता' के लक्षण यहाँ खूब मिलते हैं। यही कारण है कि 'असाध्यवीणा' जैसी लम्बी कविता भी इस लयपूर्ण भाव से आच्छादित लगती है। इसी आधार पर डा0 नामवर सिंह लिखते हैं : 'अज्ञेय की लम्बी कविता 'असाध्य वीणा' अपने आकार की लम्बाई के बावजूद एक प्रगीत है। नि:संदेह, उसमें एक छोटी सी कथा भी है और नाटकोचित संवाद भी। किन्तु भावबोध के स्तर पर पूरी कविता अनुचिन्तनात्मक है और संरचना भी वर्तुलाकार है।[20] अज्ञेय के काव्य व्यक्तित्व के बारे में निर्मल वर्मा की यह टिप्पणी भी महत्वपूर्ण है कि उनके यहाँ 'अर्जित किये हुए सत्य तो मिलते हैं, स्वयंसत्य को तलाशने की अंतर्पीड़ा, पिपासा, सन्देह मन को घुलाती मैल, मैल जो भीतर के सूरज को बार बार झूठों से छिपा लेती हैं, इन झूठों का कातर स्वर, उस सत्य को मथने वाला क्रूर, अश्ववेधी विश्लेषण नहीं

मिल पाता। इस विश्लेषण के अभाव में उनकी पीड़ा भी एक निजी थाती, एक भोग की वस्तु बनकर रह जाती है।[21]

नयी कविता ने अवश्य ही इन 'बोलचाल' के शब्दों को अपने मध्यवर्गीय जीवन अनुभवों से मुक्त किया और साधारण से परिचित शब्दों में नये अर्थ भरने की कोशिश की। यह वास्तव में प्रगतिवाद व प्रतिबद्ध कविता के बीच की कड़ी है। 'नयी कविता' के परिप्रेक्ष्य में ये लक्षण अज्ञेय में मिलते हैं। रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर व भारत भूषण अग्रवाल में मिलते हैं। अज्ञेय की इस प्रवृत्ति को रेखांकित करते डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी कहते हैं कि 'प्रगतिवाद इसकी पृष्ठभूमि में है और नयी कविता का यह स्रोत है।[22] यह सब अज्ञेय के काव्य संकलन "अरी ओ करुणा प्रभामय" 1959 मिलता है। इस संग्रह में 'प्रतीकों, विम्बों, अभिप्रायों के चयन व सामान्य शब्द प्रयोग में उनकी दृष्टि अधिकतर लोक जीवन की ओर रहती है। ठाठफकीरी, मँगनी, हुनरमंद, घुड़का, नंगी डाकिनी, कुलबुलाती, झाँसी, मनिहारी, लकदक, अंटी, डाँगर भसाते जैसे प्रयोग मिलते हैं।[23] 'औद्योगिक बस्ती' शीर्षक कविता का एक अंश है :

बँधी लीक पर रेलें लादे माल

चिहुँकती और रम्भाती, अफराये डाँगर सी

ठिलती चलती जाती हैं।

इसका विश्लेषण प्रस्तुत करते डा0 चतुर्वेदी लिखते हैं कि 'यहाँ लदी मालगाड़ी के चित्र को कवि रँभाती अफराये डाँगर के माध्यम से उभारना चाहता है। इससे पता चल जाता है कि औद्योगिक बस्ती तो है, लेकिन इसकी स्थिति किसी ठेठ देहाती इलाके में है।[24]

निश्चय ही काव्य भाषा का यह अभिनव प्रयोग प्रगतिवाद को नयी कविता से जोड़ता है और इतना ही नहीं 'अज्ञेय' में मिलने वाली इस प्रवृत्ति का पता 'हरी घास पर क्षण

भर' (1949) की कविताओं से भी चल जाता है। किन्तु यह काव्य भाषा अज्ञेय के संस्कार का अनिवार्य अंग नहीं बन पाती।

आगे की **प्रतिबद्ध कविता,** जो साठोत्तरी की लोकधर्मी कविताओं की जननी है, में यह संस्कार दिखायी पड़ने लगता है। अब हर कवि को भाषा में 'अर्थ का विधान' करना होगा, न कि पिटे पिटाये पुरानी भाषा के विविध अर्थों के बीच से किसी का संधान। ऐसा इसलिए कि अब लय, तुक का जमाना तद जाने से भाषा के समानार्थी शब्दों, उनकी पूरी अर्थ छायाओं में, वे अब अप्रासंगिक से हो गये हैं, क्योंकि एक शब्द के ढेर सारे समानार्थी, उस समय तक ही मूल्यवान थे, जब उनकी जरूरत लय-संधान के लिए पड़ती थी। **अब तो एक शब्द में ही विविध अर्थ भरने का समय है, जबकि पहले विविध अर्थ (छायाओं) के बीच एक शब्द का चुनाव करना पड़ता था। यूँ इस क्रम के उलट जाने से कविता में भाषा विधान की प्रासंगिकता भी बढ़ी है।** यहीं पर कवि की प्रतिभा का उत्कर्ष भी दिखायी पड़ता है। यह साठोत्तरी हिन्दी कविता के लोकधर्मी कवियों के द्वारा संभव हुआ है जिन्होंने जहाँ एक ओर भाषा के सामान्य व सर्जनात्मक स्तरों को अन्वेषित किया है, वही काव्य व्यक्तित्व को अधिक समृद्ध व आधुनिक बनाया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दुकालीन काव्यभाषा ब्रजभाषा की तन्मयता के प्रभाव से जहाँ मुक्त हो रही थी, वहाँ पर द्विवेदी युग में शब्दों के व्याकरणिक रूप पर बल दिया जाने लगा था। छायावाद में शब्द में अर्थ भरा जाने लगा था, जवकि प्रगतिवाद में 'शब्द ही अर्थ' बनकर उभर रहे थे। प्रयोगवाद व नयी कविता में 'शब्द संयोजन' प्रमुख रूप से उभरा, जो बदली हुई मानसिकता का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है। मुक्तिबोध का 'सत-चित-वंदना' का यह केन्द्रवर्ती रूप है। प्रतिवद्ध कविता में इसी शब्द संयोजन को आगे विकसित किया गया है जिसमें शव्द-बोलचाल के

अधिक निकट आ सके हैं। तब जाहिर है, इन बोलचाल के शब्दों में उनके प्रयोग के स्तर पर, विम्ब विधान के माध्यम से जन मानस की पीड़ा को अर्थ दिया जाने लगा है। अपने आस्वाद में ग्रामीण परिवेश का एक दमघोटूँ वातावरण उभर सका है।

यदि इसको सूत्रबद्ध किया जाय तो पता चलता है कि

1- भारतेन्दु व महावीर प्रसाद द्विवेदी में 'शब्द शुद्धता' पर जोर होता है।

2- छायावाद में 'शब्दों में अर्थ' भरा जाता है।

3- प्रगतिवाद में 'शब्द-विकसन' मिलता है, अर्थात् शब्द को विकसित किया जाता है।

4- प्रयोगवाद में 'शब्दों को अर्थ' दिया जाता है।

5- नयी कविता में 'शब्द-संयोजन' होता है।

6- अकविता में 'शब्द को ठकठकाया' जाता है।

7- साठोत्तरी में (लोकधर्मी कविताओं में) 'शब्द प्रसरण' मिलता है

साठोत्तरी का यही 'शब्द प्रसरण' जड़ों के प्रति कवियों में ललक उत्पन्न करता है। बाहर से शांत दीखने वाले शब्द भीतर ही भीतर अपनी सांस्कृतिक, सामाजिक व राजनैतिक अर्थों में फैलते हैं। ये अकविता वादियों की तरह 'खड़खड़ाते' नहीं। लोकधर्मी कविताओं का सौन्दर्य इन्हीं जड़ों का सौन्दर्य है जिससे इसमें गति आती है। यही कारण है कि साठोत्तरी हिन्दी कविता में काव्य भाषा व बोलचाल की भाषा के बीच अंतर कम हुआ है। ऐसा इस कारण से कि शिक्षा के प्रचार प्रसार से अब जहाँ बोलचाल की भाषा में खड़ी भाषा हिन्दी का प्रयोग बढ़ा है, वहीं काव्य भाषा भी 'क्लासिकी चेतना' से हटकर बोलचाल की लोक संवेदना के निकट पहुँची है।

अब अधिकांश कवि काव्यभाषा को अपने परिवेश से लेते हैं। इसी को डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है कि 'प्राचीन व मध्यकालीन काव्य भाषाओं का आधार रूप बोल चाल की भाषा से दूर हटा हुआ था- धीरे धीरे यह अंतर कम हुआ है।[25]

यूँ तो जैसा कि हमने पहले बतलाया है, साठोत्तरी में हिन्दी कविता में दो धारायें मिलती हैं- एक राजनैतिक व्यवस्था के समानांतर चलने वाली कविताएँ, जिसके प्रतिनिधि कवि रघुवीर सहाय हैं, दूसरी लोक जीवन की अर्थगत अभिव्यक्ति करने वाली कविताएँ, जिसके प्रतिनिधि कवि केदार नाथ सिंह हैं। इन दोनों प्रवृत्तियों की भाषा भी अलग अलग है। हमारा काव्य-भाषा विषयक मूल्यांकन का क्षेत्र यूँ तो दूसरी प्रवृत्ति का ही है, फिर भी थोड़ी पहली प्रवृत्ति की भी चर्चा करेंगे, जो नयी कविता की कोख से विकसित होकर स्वतंत्र भारत की तात्कालिक समस्याओं को व्यक्त करने वाली बेचैनी के साथ आगे बढ़ती है।

वास्तव में साठ के दशक में रघुवीर सहाय ने काव्य प्रत्यक्ष की इच्छा से विम्ब मुक्त जिस प्रत्यक्षता, नाटकीयता, विडम्बना और बोल चाल की मुद्रा को साधा उसे 'सपाटबयानी' कहा गया। यह एक प्रकार से 'नयी कविता' के विम्बवादी प्रभाव से अलगाने का प्रयास है। सही अर्थों में काव्य भाषा अब प्रचलित लय, छंद, विम्ब आदि से मुक्त होने की ओर अग्रसर रही। इस समय तक भाषा विश्लेषण बेहद महत्वपूर्ण बन जाता है। प्राय: हर कवि आलोचक भाषा विश्लेषण के माध्यम से कवि के अनुभव जगत को पकड़ता है। स्वयं 'अज्ञेय' ने लिखा कि 'काव्य के जो भी गुण बताये जाते या बताये जा सकते हैं, अंततोगत्वा 'भाषा' के ही गुण हैं।[26] 'तारसप्तक' के द्वितीय संस्करण में लिखते हैं, 'काव्य सबसे पहले शब्द है। और सबसे अंत में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है। सारे कवि धर्म इसी परिभाषा से नि:सृत होते हैं। शब्द का ज्ञान-शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़ ही कृतिकार को कृति बनाती

है। ध्वनि, लय, छंद आदि के सभी प्रश्न इसी में से निकलते हैं और इसी में विलय होते हैं। इतना ही नहीं, सारे सामाजिक संदर्भ भी यहीं से निकलते हैं : इसी में युग सम्पृक्ति का और कृतिकार के सामाजिक उत्तरदायित्व का हल मिलता है या मिल सकता है।[27] डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी भी कहते हैं 'कविता उत्कृष्टतम शब्दों का उत्कृष्टतम क्रम है।[28] डा0 नामवर सिंह भाषा के महत्व को निचोड़ रूप से प्रस्तुत करते हैं कहते कि 'यदि भाषा कवि के अनुभव व ज्ञान का साधन है, तो कविता की भाषा का विश्लेषण करके उसके अनुभव की शक्ति को भी मापा जा सकता है।[29] इसके आगे वे लिखते हैं कि अब इस सफाई के लिए कोई गुंजाइस नहीं रही कि कवि ने अनुभव तो बहुत किया किन्तु भाषा की असमर्थता के कारण अपनी बात पूरी तरह नहीं कह पाया।[30]

इसी भाषागत बल के कारण कविता में भाषा की 'सृजनशीलता' या 'सर्जनात्मकता' की धारणा का प्रादुर्भाव हुआ।[31] वे लिखते हैं कि 'किसी नये शब्द को खोजने का अर्थ ही है किसी नये अनुभव खण्ड अथवा वास्तविकता के किसी नये पहलू की खोज।'[32] यह नये पहलू की खोज वास्तव में रघुवीर सहाय में अधिक दिखायी देती है जिनकी एक कविता 'नया शब्द' इसी को रेखांकित करती है।[33] वास्तव में यह काव्य भाषा का विम्ब बहुलता से मुक्ति के भी महत्वपूर्ण कारण रहे हैं जिन्हें डा0 नामवर सिंह ने अपने निबंध 'काव्य विम्ब व सपाटबयानी' (कविता के नये प्रतिमान) में गिनाये हैं। वे लिखते हैं कि 'इसे विरोधाभास ही कहना चाहिए कि जब से कविता में विम्बों की प्रवृत्ति बढ़ी, सामाजिक जीवन के सजीव चित्र दुर्लभ हो गये। सुन्दर विम्बों के चयन की ओर कवियों की ऐसी वृत्ति हुयी कि प्रस्तुत गौण हो गया और अप्रस्तुत प्रधान। इस तरह कवि की दृष्टि ही संकुचित नहीं हुई, कविता का दायरा भी सीमित हो गया- पहले जीवन से खिंचकर प्रकृति की ओर, फिर प्रकृति में भी विशेष प्रकार

के रमणीय दृश्य की ओर- यहाँ तक कि वातावरण का संकेत देने वाले विम्ब भी सिमटकर एक कमरे की वस्तुओं के रूप में रह गये और बाहरी दुनिया एक खिड़की की तकदीर के सहारे बैठ गयी। कविता को चित्र बनाने का नतीजा क्या होता है, यह बात पिछले पंद्रह वर्षों के अनुभव से स्पष्ट हो गयी। यही हाल 'प्रतीक-संकेत' पद्धति का भी हुआ। सांकेतिकता भीरुता का बाना ही नहीं बनी, अज्ञान का कवच भी बन गयी। जहाँ कुछ स्पष्ट न हो, वहाँ संकेत! अंधेरे में जैसे हर किसी को तीर तुक्के चलाने का मौका मिल गया और हर कवि को परम ज्ञानी की तरह पहेली बुझाने की छूट मिल गयी। देखते देखते कविता भी उस दुनिया का आईना बन गयी जिसमें 'सब दूसरों से छिपाते हैं।' यदि इतने पर भी इस कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया न होती, तो विनाश निश्चित था- विनाश सामाजिकता और मानवीयता का ही नहीं, बुद्धि, हृदय व सृजनशीलता का भी।'[34]

डा0 नामवर सिंह यह भी लिखते हैं कि सायास विम्ब विधान का परिणाम यह हुआ कि 'आलोचकों का ध्यान समूची कविता पर न जाकर कुछ चमकते हुए विम्बों पर ही केन्द्रित हो गया। इसका असर स्वयं कवियों पर भी पड़ा जो विम्ब छोड़ने पर आमादा हो गये। कहीं कहीं एक ही कविता के भीतर दो असम्बद्ध विम्ब दिखायी देने लगे। वे लिखते हैं कि 'अधिकांश कविताएँ इधर इसी विधि से गढ़ी जा रही है जिनमें बिखरे विम्बों की एक माला तैयार की गयी है, यहाँ तक कि विम्बों की मणियों के बीच कभी कभी आवश्यक सूत्र का भी लोप रहता है।[35] वे आगे अंग्रेजी साहित्य के आलोचक डा0 एफ0 आर0 लिविस की कुछ पंक्तियाँ 'इमेजरी एण्ड मूवमेंट' (स्क्रूटिनी 1945 में प्रकाशित) लेख से उधृत करते हैं। उसका कहना है कि 'कविता के अंतर्गत जीवंतता के चिन्हों की तलाश में जो आलोचक अपना ध्यान स्थानीय प्रभावों पर केन्द्रित करता है, वह सम्पूर्ण संघटन के विश्लेषण के लिए और चाहे जिन तत्वों

का सहारा ले, 'विम्ब' जैसे अति सुलभ शब्द से संतुष्ट नहीं रह सकता, क्योंकि वह शब्द सहसा एक सरलीकरण को प्रोत्साहित करता है।'

इस प्रकार अपने लेख 'काव्य विम्ब और सपाटबयानी' में 60 के दशक में आई सपाटबयानी की तारीफ करते कविता को विम्ब मुक्त मानते हैं और 1959 के 'तीसरा सप्तक' में प्रकाशित कवि केदारनाथ सिंह के उस 'वक्तव्य' की आलोचना करते हैं, जिसमें उन्होंने यह स्वीकार किया है कि कविता में मैं सबसे अधिक ध्यान देता हूँ विम्ब विधान पर....'। ऐसे वक्तव्य में वे विम्ब के पुनरागमन की बात सोचते हैं। पर यह भी सही है कि केदारजी जैसे कवियों के यहाँ विम्बों का सर्वथा अभाव न रहते हुए भी सपाटबयानी का वह सम्पूर्ण विडम्बनाबोध है। यह सपाटबयानी विम्बों को अपने में पचाकर आगे बढ़ती है, जिससे चौंकाने की प्रवृति, कुछ एक प्रसंगों को छोड़कर, नहीं मिलती। आगे भी यह मिलती है। किसी भी कविता का पूरी तरह विम्ब मुक्त हो पाना तो कठिन है किन्तु यह सच है कि 'छठें दसक के अंत व सातवें दशक के आरम्भ में सामाजिक स्थिति इतनी विषम हो उठी कि उसकी चुनौती के सामने विम्ब विधान कविता के लिए अनावश्यक भार प्रतीत हो लगा। जिस प्रकार सन् 36 तक आते आते स्वयं छायावादी कवियों को भी सुन्दर शब्दों व चित्रों से लदी हुई कविता निस्सार लगने लगी, उसी प्रकार सन 60 के आसपास नयी कविता की विम्बधर्मी निरर्थकता का अहसास होने लगा। समस्या परिस्थिति से सीधे साक्षात्कार की थी। प्रश्न हर चीज को उसके सही नाम से पुकारने का था।[36]

ठीक यही स्थिति रघुवीर सहाय व केदार नाथ सिंह में मिलती हैं। इस दृष्टि से रघुवीर सहाय की कविता 'फिल्म के बाद चीख', केदार नाथ सिंह की कविता 'हम जो सोचते हैं' (अभी बिल्कुल अभी) से 'जमीन पक रही हैं' संग्रह की टूटा हुआ ट्रक, श्री कांत वर्मा के 'माया दर्पण की पंक्तिया 'मेरे सामने समस्या हैं/ किसको किस नाम

से पुकारू/ आईने को आईना कहूँ/ या इतिहास" महत्वपूर्ण हैं जिनमें से हर एक ने सपाट बयानी के मूल्य को पहचाना लेकिन उसे अपनी बुनियादी बिम्ब धर्मिता के प्रतिकूल न रखकर उसे उसके साथ संयोजित किया और अपने मुहावरों को और उनसे उजागर होने वाले काव्य संसार को समृद्ध किया। चित्रमयता को खोये बिना उसे रोजमर्रा की जीवंतता दी।[37] इसके कुछ अतिवाद भी अकविता में दिखायी पड़ते हैं, जहाँ भाषा नग्नता के हद तक सपाट हो जाती हैं लेकिन इसका विकास आगे नहीं होता। रघुवीर सहाय वाली धारा आगे विनोद कुमार शुक्ल, विष्णु खरे, लीलाधर जगूड़ी, से होती देवी प्रसाद मिश्र व विमल कुमार तक में देखी जा सकती हैं। केदार नाथ सिंह वाली भाषा आगे ज्ञानेन्द्रपति व अरूण कमल से होती निलय उपाध्याय तक पहुँचती हैं। यहीं हमारे अध्ययन का विषय भी हैं।

साठोत्तरी हिन्दी कविता की लोकधर्मी स्वरूप वाली कविताओं में भाषा लोक जीवन में रची बसी दिखायी देती है। यहीं से इन कवियों का मिजाज और नैतिक साहस का मूल्यांकन भी होता है। हम जानते हैं कि **छायावाद के चित्रों (विम्बवत भाषा) से मुक्त होकर प्रगतिवाद ने चरित्रों को जोड़ा। नयी कविता ने इन चरित्रों को ठेलकर कविता को चित्रों से युक्त किया। साठोत्तरी हिन्दी कविता ने 'चरित्रों और चित्रों' दोनों को महत्व दिया लेकिन यहाँ की चरित्रवादी (सपाटबयानी) कविता चित्रवादी (विम्बप्रधान) अभिव्यक्ति को इस तरह से समाहित करती है कि वे अलग से चिपकाये नहीं लगते।** चरित्रों का उभार एक वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में यहाँ दिखायी देता है, जिसका उत्स स्वयं केदारनाथ सिंह की कविता में देखा जा सकता है। वास्तव में भाषा का यह विडम्बनात्मक सपाटपन इसके उभार के लिए सबसे अनूकूल जान पड़ा क्योंकि यह व्यक्ति की 'समग्रता' को आधार बनाकर आगे बढ़ता है। यह समग्रता वास्तव में उपेक्षित जनता के पास जाने में ही

दिखायी देती है, क्योंकि उसमें कोई चमकदार विम्ब नहीं होता। उसका मूल्यांकन खण्डों में नहीं, समग्रता में ही संभव है। इसका संकेत, यूँ निराला ने पहले ही दे दिया था।

इस संदर्भ में डा0 नामवर सिंह की एक टिप्पणी बड़ी महत्वपूर्ण है। वे लिखते हैं- 'नयी प्रयोगशील कविता के साथ काव्य भाषा के निर्माण' की दिशा में जो यह मान्यता आई कि कविता की भाषा का आधार बोल चाल की भाषा होनी चाहिए, वह केवल भाषागत स्वाभाविकता अथवा स्थूल प्रकृतिवादी (नेचुरलिस्ट) प्रवृत्ति का ही सूचक नहीं, बल्कि उसके साथ कवि का एक गम्भीर नैति साहस जुड़ा हुआ है, जिसके अनुसार अपने आस पास की दुनिया में हिस्सा लेते हुए ही कविता को इस दुनिया के **अंदर** एक दूसरी दुनिया की रचना करना आवश्यक हो जाता है।[38] यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि बोलचाल की भाषा का प्रयोग एक नैतिक साहस की बात है जो 'सही माने में आज के जीवन की धड़कन को व्यक्त करने वाली लय को गहरे स्तर पर पकड़ना है।[39] इतना ही नहीं 'एक दुनिया के अंदर, दूसरी दुनिया के उद्घाटन' की बात करना भी प्रकारांतर से साठोत्तरी हिन्दी कविता की 'भाषाई आंतरिकता' का संकेत करना है। यह साठोत्तरी हिन्दी कविता के लोकधर्मी कवियों की निजी विशेषता है।

भाषाई आंतरिकता

भाषा की आंतरिकता लोकधर्मी कविताओं को एक अलग स्वरूप प्रदान करती है। यह ध्यान देने की बात है कि जैसे जैसे साठोत्तरी समाज आगे बढ़ता है, चीजें उतनी ही जटिल होकर उलझती व छोटी होती गयी है। वस्तु यथार्थ का यह संकोच ही इस शिल्प को जन्म देता है जिसे भाषाई आंतरिकता कहते हैं, क्योंकि यह उस मान्यता पर आधारित है कि गति को गति के सापेक्ष्य ही पकड़ा जा सकता है। जाहिर

सी बात है यह समस्या के मूल में जाना ही है जहाँ वस्तु का असली स्वरूप विद्यमान है। केदार नाथ सिंह से आरम्भ होकर यह ज्ञानेन्द्र व अरुण कमल से होता हुआ अंतिम दशक की कविताओं तक चला आता है। यह बाहर से चिकनी परत दीखने वाली वस्तु के भीतर की अनगढ़ता को पकड़ना है, और इसमें भी उस अनगढ़ता में कवि जीवन तलाशता है। इसमें कवि लोक विम्बों का निश्चय ही सहारा लेता है, किन्तु उसे आप अलग कर कविता की समग्रता को नहीं पकड़ सकते। यह ऐंद्रिकता के बहाने यथार्थ का उद्घाटन है।

भाषा की यह आंतरिकता वास्तव में निरा प्रयोगवादी कवि अज्ञेय तक में देखी जा सकती है। उनके यहाँ 'मौन' इस आंतरिकता का ही विधान करता है। इसे अज्ञेय ने अंसाध्यवीणा' कविता में असाधारण ढंग से साधा है। इसमें एक 'वीणा' के माध्यम से कई ध्वनियों को सुनने की चेष्टा मिलती है। इस कविता पर डा0 नामवर सिंह की टिप्पणी बेहद रोचक है: 'असाध्य वीणा जिस वज्र किरीटी तरु के दारु से बनी है, उसकी जन्मभूमि हिमालय की ही उपत्यका है। मौन की इस स्थिर भूमि से ही व्यापक जीवन की हलचल की अनेक ध्वनियाँ नि:सृत होती हुई दिखायी देती हैं। इन ध्वनियों का चयन, कलन, व विवरण अत्यंत सावधानी से किया गया है। जीवन की विविधता व व्यापकता का पूरा आभास दिया गया है। वीणा बजती है राज-दरबार में, किन्तु उससे दरबार के वातावरण की ही रूप-छवियाँ नहीं 'ध्वनित होती, बल्कि 'बटिया पर चमरौधे की रुँधी चाँप', 'कुलिया की कटी में मेंड़ से बहते जल की छुल छुल', 'लोहे के सधे हथौड़े की सम चोटें' आदि की भी ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं[40]। इस रूप में वास्तव में इस कविता में असाध्यवीणा एक वस्तु के रूप में न आकर 'संदर्भ' के रूप में आती हैं और **यह 'संदर्भ' ही वास्तविक जगत का उद्घाटन करता है। हमारे समाज में जैसे जैसे यह संदर्भ जटिल होता जाता**

है, वैसे वैसे कविता इसी भाषाई आंतरिकता की ओर उन्मुख होती जाती है।

कहना न होगा, कि इसकी वास्तविक पहचान यूँ तो केदारजी कविता देने लगती है, लेकिन **अरुण कमल** की 'नये इलाके में' संकलित 'चेहरा' कविता इस दृष्टि से बेहद महत्वपूर्ण है जिसमें कवि कहता है *'चुम्बन के बीच सहसा/ पसीने के नमक का स्वाद।'* इस कविता में नयी व्यवस्था का अभिव्यंजना कौशल है, जो चिकनाई के बीच भी खुरदुरेपन की तलाश करता है। यह मुक्तिबोध का 'झाँक झाँक देखता हूँ/ हर एक चेहरा' नहीं है। यह एक चेहरे के भीतर कई चेहरे की मार्मिकता है जहाँ वस्तु को दबाया गया है। यहाँ सोठोत्तरी का 'शब्द' ही महत्वपूर्ण नहीं है। अब यहाँ तक आते पूरा 'वाक्य' महत्वपूर्ण होता है। यह वाक्यों की नाटकीयता व विडम्बना है। इस कविता को आप अलग खण्डों में नहीं पढ़ सकते। पूरी कविता ध्यान में रखनी होगी। **तब उसका समग्र प्रभाव समझ सकते हैं। यह भद्र जन के रुचि के विरुद्ध जनता के श्रम की आवाज है। यह चुम्बन के चुपके पन के विरुद्ध खुलेपन की स्वीकृति है। यह स्वाद का स्वेदजन्य विस्तार है।** पूरी कविता इस प्रकार है-

एक चेहरा कहीं दबा इस चेहरे में
किसी प्राचीन साम्राज्य की स्वर्ण मुद्रा
कोई टूटती बिखरती प्रतिध्वनि
या उड़ते पक्षी की गिरी हुई छाया

अचानक जैसे खोज बत्ती सा घूमता है वह चेहरा
धूल व धूप का खम्भ दूर जा बिखरता
खूब लम्बी परछाइयाँ गाढ़ी गहरी साँसे भरी

जर्जर पंखुड़ी को सूँघ पहचानता हूँ

पुवाल रौंदे पाँवों पर पानी पड़ने की चुनचुनाहट

चुम्बन के बीच सहसा

पसीने के नमक का स्वाद।[41]

प्रकारांतर से वह उस यथार्थवादी भाषा का विस्तार है जिसमें भारत भूषण अग्रवाल की पंक्ति आती है 'तू सुनता रहा मधुर नूपुर ध्वनि/ यद्यपि बजती थी चप्पल।' लेकिन वह यथार्थ का सरलीकरण करती लगती है। अरुण कमल की यह कविता यथार्थ के भीतर यथार्थ का उद्‌घाटन करती है, बगैर किसी गर्वोक्ति के। इस आकंठ डूबे उपभोक्तावादी समाज में, जहाँ चुम्बन के प्रति इतना आकर्षण है, उसमें पसीने के स्वाद की बात को उठाना ही एक बड़े नैतिक साहस की बात है और इसी कारण वे नागार्जुन, त्रिलोचन की साहसवादी परम्परा में बेहद महत्वपूर्ण हैं। **यह वैसे ही है जैसे किसी पाँच सितारा होटल के डाइनिंग रूम की मेज पर बैठे हुए कोई व्यक्ति परोसने वाले के चेहरे को देख रहा हो। यह सामान्य क्रिया व्यापारों के बीच सामान्य बात को सामान्य भाव से पकड़ने की कोशिश है और यही कवि को असामान्य बनाती है।** भाषा की यही आंतरिकता 'सुख' कविता में मिलती है, जिसमें 'शयनकक्ष' के नीचे जामुन का वृक्ष, पुराना कुआँ, कंकाल आदि की बात मिलती है। ध्यान देने की बात है कि यहाँ 'वस्तु' (शयनकक्ष) 'संदर्भ' के रूप में आती है और वह लगातार लोक संदर्भों को उकेरती चलती है। इन सभी में हमेशा पहले एक चुप्पी मिलती है, जो बाद में बोलती नजर आती है। यही स्थिति अपेक्षाकृत नये कवि **निलय उपाध्याय में** मिलती है। वहाँ भात पकने की पूरी प्रक्रिया को एक संवेदना के धरातल पर पकड़ने की कोशिश मिलती है और रात को नींद के बोरियों से तुलना कर रात के भारीपन को दर्शाया गया है।

यह कहना यहाँ पर अप्रासंगिक न होगा कि इन सबके प्रेरणा स्रोत **केदारनाथ सिंह** ही है जिनमें भाषाई आंतरिकता के लक्षण गहरे विद्यमान हैं। उनकी मूल संवेदना ही यही है- 'पकते हुए दाने के भीतर/ शब्द के होने की पूरी संभावना थी।' यह शब्दों की तलाश केदार जी में बेहद महत्वपूर्ण है। इस शब्द-शोधन के माध्यम से केदार जी शब्द के नया संदर्भ खोलते हैं। इसी कविता में वे लिखते हैं-

मुझे लगा मुझे एक दाने के अंदर

घुस जाना चाहिए

पिसने से पहले मुझे पहुँच जाना चाहिए

आटे के शुरु में

चक्की की आवाज के पत्थर के नीचे

मुझे होना चाहिए इस समय

जहाँ से

गाने की आवाज आ रही थी।[42]

इन शब्दों के माध्यम से कवि वास्तव में 'नहाने के बाद देह में बची उष्मा की तरह' (जो एक स्त्री को जानता है) जीवन को बचाना चाहता है और उसके लिए भाषा में काफी तोड़ फोड़ करता है। इस रूप में वह दुर्लभ जीवन की लताश का कवि है। कुछ चमकदार उदाहरण निम्नवत है-

क- तुमने जहाँ लिखा है 'प्यार'/ वहाँ लिख दो 'सड़क'/ फर्क नहीं पड़ता/ मेरे युग का मुहाविरा है/ फर्क नहीं पड़ता/ ..../ और जो भाषा मैं बोलना चाहता हूँ/ मेरी जिह्वा पर नहीं/ बल्कि दाँतों की बीच की जगहों में/ सटी हुई है।[43]

ख- कविता यही करती है/ यही सीधा मगर जोखिम भरा काम/ कि सारे शब्दों

के बाद भी/ आदमी के पास हमेशा बचा रहे/ एक सादा पन्ना।[44]

भाषा की यह आंतरिकता कवि में आगे विकास पाती गयी है और 'उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ' में तो नमक, पुनर्जन्म की आवाज, संतरा, कुएँ आदि इस दृष्टि से काफी सुन्दर बन पड़ी है। इसमें 'नमक' कविता तो अपनी पूरी संरचना में बेजोड़ है। अपेक्षाकृत लम्बी होने के बावजूद आप इसे कहीं से तोड़ नहीं सकते।

समग्रता का यही सौन्दर्य **ज्ञानेन्द्रपति** कविताओं में मिलता हैं, जिसमें वे प्रत्यक्ष के भीतर प्रवेश करते हुए अदेखे को दिखाते हैं। 'खजुराहो' (साक्षात्कार जून 98) कविता इसी आशय की महत्तम उपलब्धि है। उनकी भाषा यहाँ 'टाँकी के टंकन' की भाषा हो जाती है, जहाँ इन शिल्पी हाथों की मार्मिक पकड़ है, जो 'उत्कीर्णित वक्ष की सुधर गोलाइयों' में खो गये हैं। यूँ एक ही समय में लिखी अरुण कमल की कविता 'चेहरा' व ज्ञानेन्द्र की 'खजुराहो' में कैसी समानता है? अरुण 'चुम्बन के बीच पसीने का स्वाद' चखते हैं, तो ज्ञानेन्द्र 'उत्कीर्णित वक्ष के भीतर उँगलियों के निशान' पाते हैं। अपनी परिणति में दोनों ही 'श्रम' के 'क्रम' को रेखांकित करते हैं। यह सत्य नहीं है। तथ्य है। संकलन 'शब्द लिखने के लिए ही यह कागज बना है' की कविता 'बनता पुल' भी ऐसी ही कविता है। यूँ यह एक प्रकार का 'आंतरिक यथार्थवाद' ही है।

शब्द प्रसरण :

हमने पहले कहा है कि साठोत्तरी की लोकधर्मी कविताओं में 'शब्द प्रसरण' मिलता है। इसका आशय 'फैलाव' से ही है। अर्थात् अब के कवि में व्यापकता के साथ गहराई भी मिलती है। प्रगतिशील कवियों की तरह केवल व्यापकता ही नहीं रहती। यह ध्यान देने की बात है कि प्रगतिवादी कवि शब्द को रखकर विकसित करते थे।

साठोत्तरी के ये कवि शब्द-प्रसरण करते हैं, जो भीतर व बाहर दोनों की यात्रा करता है। वास्तव में यह लोक-सम्बन्धों की बढ़ती पकड़ के कारण ही संभव हो सका है। व्यापकता के साथ गहराई आ ही तभी सकती है जब कवि वास्तविकता में प्रवेश करता है और यह प्रवेश आगे बढ़ता ही गया है। केदार नाथ सिंह में भाषाई आंतरिकता का जो भाव-प्रसरण मिलता है, व **ज्ञानेन्द्र पति** में शब्द-प्रसरण के रूप में दिखाई देता है और इस रूप में ये पहले कवि हैं जिन्होंने शब्द को इतना तोड़ा है। वास्तव में शब्द इनके यहाँ 'संस्कार व संदर्भ' दोनों रूपों में आते हैं। ऐसी कविताएँ हमें रोकती हैं। वे कहती हैं कि दरारों के बीच छिपे जीवन को थोड़ा ठहरकर देखने समझने की जरूरत है। इसमें व्यतीत व अनागत का क्रम बना रहता है। इसी कारण इनमें तद्भवता के साथ तत्समता के भी रूप मिलते हैं जिस कारण से इन पर तत्समता का आरोप भी लगाया जाता है। लेकिन ध्यान से देखने पर पता चलता है कि 'शब्द प्रसरण' का यह नायाब नमूना है, जिसमें लोक व शहर के बीच स्थिति उस 'तथ्य' की तलाश है, जो अभी तक अचीन्हा रह गया है। ज्ञानेन्द्रजी का यही शब्द-प्रसरण, वाक्य खण्डों के महत्व को दर्शाता है जिससे यह भी पता चलता है कि कविता में अब 'वाक्य' की सत्ता का महत्व बढ़ रहा है। *जो लोग बहुत गति में होते हैं, वहीं ऐसी कविताओं पर दुरूहता का आरोप लगाते हैं, क्योंकि वे अपनी गति के कारण समस्या का सीधा समाधान चाहते हैं। ज्ञानेन्द्र जी समस्या के समाधान के कवि नहीं है। वे समस्या का संधान करते हैं और समाधान आप पर छोड़ते हैं।* उनकी यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है। संग्रह के बाहर की प्राय: सभी कविताओं में इसे देखा जा सकता है। 'खजुराहो'[45] कविता के आरम्भ में ही कुछ पंक्तियाँ आती हैं-

खजुराहो के अनन्य प्रतिमा अरण्य में भटकते

हम विस्मय-विमुग्ध निहारते

देहाकार...

अब इसमें आपको एक एक शब्द जैसे प्रतिमा, अरण्य, विमुग्ध, निहारते, रोकते हैं। 'खजुराहो' के चित्र में न केवल 'संस्कृति' का अंकन है, बल्कि इन अंकन करने वालों का भी संदर्भ है "घठायी उँगलियों वाले होकर भी कोमलतम छुवन वाले.."। अब जो इसे न समझे और तत्समता का आरोप लगा दे, उसे क्या कहा जाय? वास्तव में ज्ञानेन्द्र में उतनी ही तत्समता है जितनी शिष्ट की विषंगतियों को उजागर करने के लिए जरूरी होती हैं। वे 'घठाई इन्हीं उँगलियों' से उसे दबाते हैं। कोंचते हैं। यह ज्ञानेन्द्र का अपना मुहावरा है, जो भाषा के मोर्चे पर लड़ने से मिला है। इसी कारण ये देर तक ठहरने वाले कवि हैं। इसमें कोई संदेह नहीं। इनकी भाषा ही 'गहमागहमी की जगह सहमासहमी'[46] के जीवन को पकड़ती है, जो हमारे समय का सबसे बड़ा सच है। आज हर आदमी एक दूसरे से डरा है। अत: बाहर से गहमागहमी है, लेकिन भीतर सहमा सहमी है। उनके इसी दृष्टिकोण का प्रतिफलन है कि संक्रांति के सूर्य को वे इसी कविता में 'एक मलिन सामाजिक उपयोगिता' कहते हैं। यह एक बड़े नैतिक साहस की बात है। शब्द प्रसरण के इन लक्षणों को 'वागर्थ' दिसम्बर 96 में प्रकाशित कविताएँ 'एक मलिन पोटली नहीं, एक मुट्ठी जिंदगी', 'यह खजुही कुतिया', तक में देखा जा सकता है। वास्तव में जो कवि वस्तु को जितनी ही निजता से देखता है, वह शब्द को उतना ही तोड़कर बोलता है। इसीलिए उनमें जहाँ उपेक्षित वस्तु के प्रति जिज्ञासा है, वही उपेक्षित शब्दों के प्रति गहरी ललक भी है। इसीलिए वे शब्दों को फैलाते हैं। थोड़ा खींचकर बोलते हैं। इस खींचने में वे दिक-काल से परे जाते हैं। इसीलिए वे एक कविता में लिखते हैं-

ओह! वे आंखें कि जिन आंखों को दीखता है

गंगा-पार, पेड़ों की पीठ-पीछे खड़ी धुआँ उगलती वह चिमनी

साम्राजी पूँजीवाद के दैत्य मुँह में दबा चुरुट है

अप-टू-डेट जो उतरा है, बदले भेष, माया वस्त्र पहने

इंदिरा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे पर बिछी लाल कालीन

पर ठाठ से चलता

बिछी लाल कालीन- जो हरे खेत हैं भारत भू के

फेफड़े हैं भारतीय जनों के।[47]

'शब्द प्रसरण' अरुण कमल की इधर की कविताओं में भी मिलता है। 'नये इलाके में' में संकलित 'चेहरा', 'दाना' कविता में तो गजब की खींचतान है- जहाँ 'शव की गंध व अंतिम साँस से भरा खाली वायुमण्डल है और फिर भी कोई बाहर गाली बक रहा है। यह 'गंध' ही 'अभिसार' कविता में आती है जहाँ 'प्याज की तेज गंध' किसी औरत की गंध लगती है'। यह 'गंध' अचानक उठकर समाप्त नहीं होती। यह फैलती है। प्याज से आरम्भ होकर हींग, जीरे, कपूर से होती औरत तक की यात्रा करती है।

लोक शब्दों का प्रचुर प्रयोग-

साठोत्तरी हिन्दी कविता में शब्द की सत्ता को बेहद महत्वपूर्ण ढंग से देखा गया है। इसमें शब्दों को नये अनुभवखण्ड को उद्भाषित करने की दृष्टि से देखने की चेष्टा मिलती है। यहाँ लोक जीवन में रचे बसे शब्द केवल शब्द मात्र नहीं, बल्कि उनमें जीवन की गहरी समझ है। जीवनेच्छा है और अछूते प्रसंगों को प्रत्यक्ष करने की इच्छा है। शब्द यहाँ अपनी पूरी ऐतिहासिकता व विरासत के साथ विद्यमान हैं। यूँ तो इसका प्रयोग 'अज्ञेय' जैसे प्रयोगवादी कवि में भी मिल जाता है और खूब मिलता

है, किंतु वहाँ पर यह सायास चेष्टा का परिणाम लगता है। साठोत्तरी कविता में यह संस्कारों की उपज के रूप में दिखायी पड़ता है और जैसे जैसे कविता की यात्रा आगे बढ़ती रही है, वैसे वैसे इन शब्दों के प्रति रुझान भी बढ़ता गया है। केदार नाथ सिंह, विजेन्द्र, अरुण कमल, ज्ञानेन्द्र पति से लेकर निलय, एकांत व बोधिसत्व की तमाम कविताओं में देखा जा सकता है। इनमें हर शब्द अपने आप में एक संस्कार है, जिसके पीछे पूरी सांस्कृतिक परम्परा दिखायी देती है। **अरुण कमल** में तो ये शब्द कहीं कहीं अकेले होकर भी पूर्ण दिखायी देते हैं। इनमें न तो खण्डित भाव है और न ही ये किसी भाव खण्ड के सूचक हैं। ये अपनी सम्पूर्ण निजता में विद्यमान हैं। थकुच (धनतेरस), (सबूत संग्रह में), उघारना, उकसना, झटास, उकटेरना (भूसी की आग), छपछपाकर (स्नान-पर्व), (सभी 'अपनी केवल धार' संग्रह से) गिजबिज, भहरेगा, हँकरी (रात), पोरसन, हरगिज, झोलंग खाट, घर का बुहारन, उकटेर (शोक), खोखला, चुक्कू मुक्कू (गृह प्रवेश), उलार (जितनी ही है दीप्ति), चाँड़ती, अंतिम ठोप, ढेले सा भरक रहा है शरीर, अजपाद होते (सभी 'नये इलाके' में संग्रह से) आदि अनंत शब्द हैं जो लोक जीवन की छूटी हुई विरासत को संभालने, संवारने का कार्य कर रहे हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि 'अपनी केवल धार' से 'नये इलाके में' संग्रह तक आते आते इस प्रवृत्ति में इजाफा ही हुआ है। यह लोक जीवन पर चढ़ रही सभ्यता की गंदीपरतों को उघाड़ने का उपक्रम ही है। इसे कुछ कविताओं के माध्यम से देखा जा सकता है। 'धनतेरस', ऐसी ही कविता है जिसमें कवि कहता है-

देखो वे कितनी बेरहमी से **थकुच** रहे हैं

हमारे पुराने बर्तन

और सजा रहे हैं एक पर एक

अपने नये बर्तन![48]

यहाँ पर 'थकुच' शब्द का प्रयोग न केवल वर्तमान सभ्यता की विषंगतियों को उजागर करता है, बल्कि बदलते स्वरूप को भी पकड़ने की कोशिश करता है। इसका कोई विकल्प हो ही नहीं सकता। वास्तव में इन शब्दों की जकड़ इस कारण भी महत्वपूर्ण है कि नयेपन के चक्कर में पुराना लगातार क्षीण होता जा रहा है। कुछ अन्य उदाहरण दृष्टव्य है।

1. 'नदी के अंग से/ मिट्टी उठाता है मुट्ठी में/ और मल मलकर नहाता है। छप छपाकर/ पानी में डूब डूब कर।[49]

2. 'तभी किसी बच्चे ने/ लोहे की सींक से आग उकटेरी।[50]

3. 'अभी गाय हँकरी है/ फड़फड़ करता तोता लोहे के पिंजरे में।[51]

4. 'बार बार जो बदलती रही रस्ता/ बार बार जो पोंछती रही अपने ही छाप/ जो एक पल कभी बैठी नहीं थिर/ पा न कभी वो रास्ता अब तक/ जिसे ढूँढ़ती फिरी सारी धरती उकटेर।[52]

इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। यहाँ पर 'उकटेर' शब्द की सार्थकता देखी जा सकती है। दो भिन्न संदर्भों में यह शब्द प्रयुक्त होकर कितना सुन्दर बन पड़ा है। फिर भी उसका अर्थ उलटने पलटने से ही निकलता है।

ज्ञानेन्द्र पति में ऐसे शब्द प्रयोगों का बाहुल्य है। उनके यहाँ तो शब्द,संस्कृत भाषा जैसे प्रयुक्त होते से लगते हैं, जिस आधार पर कहीं कहीं उन्हें इस आरोप को भी झेलना पड़ता है लेकिन वे होते धुर ठेठ के हैं और उनका प्रयोग वे एक सटीक संदर्भ में करते हैं। इधर की कविताओं में इन प्रयोगों की अधिकता दिखायी देती है। वास्तव में उनके शब्द, प्रसरण के कारण लहराते हुए से जान पड़ते हैं। घरउआ,

नेत्रथक, ममतालु, जोहती, खुंटियायी, उजमैले आदि प्रकार के शब्द प्रयोग मिलते हैं। 'संग्रह' में तो ऐसे शब्द हैं ही, उसके बाहर प्रकाशित कविताओं के शब्द बेहद महत्वपूर्ण हैं। बकान का पौधा, दरद, नवतुरिया गाछ, जबर जिद्दी है बकान (सभी वृक्ष विदाई कविता से), उज्जर, समवेत अँजोर, ममतालु आँख, धुरखेल (सभी 'संक्रांति बेला' कविता से) जबरजिद्दी, झुरकुट, (एक कर्णप्रिय कीर्तिकथा), खजुही कुतिया, उलीचती, करिखाई इत्यादि शब्दों में लोक जीवन को बचाने की एक जिद दिखाई पड़ती है। तब कोई आश्चर्य नहीं कि शब्द 'जबरजिद्दी' इनकी कविताओं के केन्द्र में है।

1. जहाँ तक जिया/ यहाँ तक पहुँचा/ बहुत है/ जबहजिद्दी है बकान/ बाजी बीज ही जीता।

2. यह खोंटकढ़नी क्या बताएँ कहाँ तक जाती है/ और यह पपड़ी पकड़नी बहुत नाजुक है, नाजुक/ जबरजिद्दी मैल को भी मलाई सा उतार लाती है।

इस प्रकार जबरजिद्दी जैसे धुर ठेठ में कवि ने एक आत्म विश्वास व आत्म संयम के भाव का संचार कराया है।

इन दोनों कवियों के वरिष्ठ कवि केदार नाथ सिंह और कनिष्ठ कवि बोधिसत्व, एकांत व निलय में इन शब्दों का सार्थक प्रयोग मिलता है। यूँ केदार जी में सुगबुगाना, किरकिराना, उमगना, पचखियाँ आदि अपेक्षाकृत लोक शिष्ट प्रयोग ही मिलते हैं, जो बाद के कवियों में ठेठपन को पूरे आत्म विश्वास से उजागर करते हैं। **बोधिसत्व** के संग्रह में भरम, मुलझुल, बिरइयाँ, झुराना, लथेरना (बादल कविता), अकन, अहरा, निचाट घाम (बोलो साईं), असूझ (बाबू के लिए), बेराना, पलरी, लेउ, उढ़ार, माँख न मानना, गहदुरिया, उम्मर, नेइं, थहाना, अनकुस, दंवगरा (तुम्हारा रूप), ओद, गढ़ही, अन्नोर, थेंथर, ओनइ, (यहाँ हूँ), समथर, 'दहजना' (कथा- जनवरी - 1999 में प्रकाशित कविता 'मेरे बारे में') जैसे बेहद महत्वपूर्ण शब्द हैं, जिनकी सार्थकता लोक संवेदना को बचाने

में ही है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं-

1. बहुत अनकुस लग रहा है/ इसका धड़म.... धड़म....धड़ - धड़ाम/ लगता है/ ये चले जायेंगे बस दँवगरा देकर।

2. लगा रहा हूँ अपने खेत में/ गमकउआ धान/ पूरे ताल पर ओनइ आया है मेघ/ गिर रहा है महीन कना/ महकती हुई फुहार। (यहाँ हूँ)

ऐसे ही शब्द **निलय उपाध्याय** में भी मिलते हैं। 'हँकरना' शब्द का प्रयोग अरुण कमल के शब्द 'अभी गाय हँफरी है (नये इलाके में) की याद दिलाता है हालाँकि अरुण कमल का यह शब्द प्रयोग निलय के बाद का है। निलय लिखते हैं-

उनके रोने में

कोई बछड़ा हँकर रहा था

कोई गाय मचल रही थी (उनका रोना)

तब स्पष्ट ही है कि यह कवि लोक शब्दों के लिए हँकरते हैं। 'लेवाड़', शब्द भी निलय में नये ढंग से आया है। 'पूँछ पटक/ लेवाड़ ले रही हैं भैंसे।' इसी प्रकार चिहुँकना, (सेहुँड़ का काटा), भात, डमक-डमक, फफकना इत्यादि शब्द भी मिलते हैं। 'चिहुंकना' शब्द तो कई बार आया है। लगता है कवि रह रहकर चिहुँकता है और लोक शब्दों की तलाश में निकल जाता है।

1. बेबा औरतों की आँखें बरस रही हैं/ नींद में चिहुँक रहे हैं बच्चे।

2. बस्ती में/ फिर कोई बच्चा चिहुँका होगा। (सेहुँड़ का काँटा)

ऐसा लगता है कि कवि रह रहकर चौंक रहा है। उसे कुछ भय सता रहा है और इसी चिहुँकने से सामान्य होने में जो समय बीतता है, उसी में कविता का जन्म होता है।

लोक चरित्रों का प्रयोग-

साठोत्तरी कविता में जन जीवन की केन्द्रीयता के कारण लोक चरित्रों का जमकर प्रयोग हुआ है। यहाँ पर चूँकि भाषा विम्बधर्मिता से मुक्त होकर सपाटबयानी से युक्त होकर 'कथ्य' पर बल देती है। अत: लोक चरित्रों के विकास के लिए काफी अवसर दिखायी देता है। यह जन जीवन से लिए गये अनाम व्यक्तियों को नाम देने का एक महत्वपूर्ण प्रयास भी है। यूँ यह समूची साठोत्तरी हिन्दी कविता की ही विशेषता है न कि केवल लोकधर्मी कवियों की। इसी कारण हम यह कह सकते हैं कि जो कवि लोकधर्मी कविताएँ नहीं भी लिखे हैं, उनमें भी चारित्रिक लोकधर्मिता तो मिलती ही है। जैसे रघुवीर सहाय में 'रामलाल', धूमिल में 'मोचीराम', सौमित्र मोहन में 'लुकमान अली', लीलाधर जूड़ी में 'बलदेव खटिक' महत्वपूर्ण चरित्र हैं।

लोकधर्मी कविताओं में केदार नाथ सिंह से लेकर नये कवि तक मैं इस चरित्र को देखा जा सकता है। केदार जी में नूर मियाँ, जगरनाथ दुसाध, बंसी मल्लाह है, तो विजेन्द्र में नूर मियाँ, लादू और बैनी बाबू है। राजेश जोशी में सलीम, मुनीर मियाँ, रमजान मियाँ हैं तो ज्ञानेन्द्र में बघवा, बनानी बनर्जी, राम खेलावन हैं। बोधिसत्व में सुख्खू मुसहर है, तो निलय में कईली है।

वास्तव में ये सारे चरित्र उपेक्षित को अपेक्षित स्तर प्रदान करने के लिए लिये गये हैं। कहीं कहीं ये मात्र परम्परा निर्वाह के लिए डाले गये हैं, लेकिन ऐसी कविताएँ बहुत प्रभावित नहीं कर पाती । इधर के चरित्रों में ज्ञानेन्द्र का 'खूँटकढ़वा' व हरीश चन्द्र पाण्डे का 'हिजड़े' महत्वपूर्ण है। वास्तव में यह उसे देखना है, जो रोजमर्रा के जीवन में है, लेकिन जिसे लोग नहीं देख पा रहे हैं। इनके माध्यम से कवि एक खास परिवेश को उपस्थित करना चाहता है और साथ ही साथ चरित्रों के भीतर के आत्म-विश्वास को भी नजर अंदाज नहीं करता। यह चरित्रों का लौकिकीकरण ही है।

संदर्भ सूची

1. डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी - 'मध्यकालीन हिन्दी काव्य भाषा' - लोकभारती 1991।
2. वही।
3. वही।
4. वही।
5. डा0 नामवर सिंह - इतिहास और आलोचना
6. वही।
7. वही।
8. डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी -उपरिवत।
9. वही।
10. वही।
11. वही।
12. वही।
13. अज्ञेय - 'स्मृति लेख'।
14. डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी - उपरिवत।
15. वही।
16. डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी - भाषा, संवेदना व सर्जन - पृ0 140, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
17. वही।

18. वही।

19. वही।

20. डा0 नामवर सिंह, 'कविता के नये प्रतिमान' - पृ0 15।

21. निर्मल वर्मा - कला का जोखिम।

22. डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी - भाषा, संवेदना व सर्जन - पृ0 22।

23. वही।

24. वही।

25. वही।

26. रघुवीर सहाय - 'सीढ़ियों पर धूप में' की भूमिका।

27. 'तार सप्तक' के द्वितीय संस्करण का वक्तव्य।

28. डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी - भाषा, संवेदना व सर्जन।

29. डा0 नामवर सिंह - 'कविता के नये प्रतिमान'।

30. वही।

31. वही।

32. वही।

33. वही।

34. डा0 नामवर सिंह - 'नयी कविता पर क्षण भर' लेख ज्ञानोदय - 63 में प्रकाशित।

35. वही।

36. वही।

37. अशोक बाजपेयी - धर्मयुग - 23 जून 1968, 'कविता के नये प्रतिमान' में उधृत।

38. डा0 नामवर सिंह - 'कविता के नये प्रतिमान'

39. वही।

40. वही।

41. अरुण कमल - 'चेहरा' कविता - 'नये इलाके में' से।

42. केदार नाथ सिंह - 'आवाज' - 'जमीन पक रही है' में संकलित।

43. 'जमीन पक रही है' की कविता - 'फर्क नहीं पड़ता'।

44. 'जमीन पक रही है' की कविता - सादा पन्ना।

45. साक्षात्कार - जून 98।

46. ज्ञानेन्द्र पति - 'संक्रांति बेला में' - साक्षात्कार - सितम्बर 97।

47. ज्ञानेन्द्र पति - 'धुएँ के पेड़ की तरह उगी है' - जन सत्ता 'सबरंग' - 1996।

48. अरुण कमल - 'सबूत' संग्रह से।

49. अरुण कमल - 'स्नानपर्व' - अपनी केवल धार से।

50. अरुण कमल - 'भूसी की आग' - 'अपनी केवल धार' से।

51. अरुण कमल - रात - 'नये इलाके में' संग्रह से।

52. अरुण कमल - शोक - 'नये इलाके में' संग्रह से।

अध्याय - 6

उपसंहार

कला और साहित्य में जब जब व्यक्तियों द्वारा संरक्षण प्राप्त होता है, तब तब एक ओर जहाँ उसमें बाहरी स्तर पर अतिशय कलात्मकता का विकास होता है, वहीं आंतरिक स्तर पर उसमें संकोच होता जाता है। इस प्रकार यह संरक्षण जहाँ कला/साहित्य के लिए अहितकर होता है, वहीं पर एक optical illusion को भी बढ़ावा देता है। यहाँ यह जानना रोचक है कि व्यक्ति के विकास के लिए कल्याणकारी राज्यों में (Welfare state system) जहाँ यह उत्साहकारी है, वहीं साहित्य के लिए यह घातक होता है। कभी-कभी इस दिशा में राज्यों/संस्थाओं का प्रच्छन्न प्रवेश इस बात की पुष्टि भी करता है, जहाँ राज्य/संस्थाएँ साहित्य हित में ऐसा करने का बहाना ढूढ़ती है और मौका पाकर 'हस्तक्षेप' करती है। यह अत्यंत ही घातक प्रवृत्ति है और इसके अंतर्विरोध आरम्भ काल से ही मिलते हैं। रीतिकाल में यह संरक्षण राजा/महाराजाओं द्वारा प्रदत्त था, जो आधुनिक काल में संस्थाओं द्वारा प्रदत्त है। जैसे रीनिकाल का अधिकांश साहित्य मनुष्यता की उदात्त भूमि से कटता हुआ व्यक्ति की एकनिष्ठ भावभूमि पर संकुचित होता गया, वैसे ही आधुनिक काल का अधिकांश साहित्य भी मनुष्यता की उच्च भूमि से हटकर केवल परिवारों/पुरस्कारों के चक्कर में एक निश्चित कथा/शिल्प में अटकता हुआ नजर आ रहा है। उसका स्वच्छन्द प्रवाह, 'अहो रुप अहो जय' की आलोचकीय संस्थाओं व संस्थागत आलोचनाओं के चक्कर में पड़कर अवरुद्ध होता सा दिखायी दे रहा है। यह प्रवृत्ति अगली सहस्त्राब्दी में बढ़े न, इस पर विचार

अब चूँकि कोई भी साहित्य जन जीवन की अनुभूतियों से प्रकट होता है। अतः उसकी अनुभूति को पकड़ना उसका चरम लक्ष्य होता है और यह कहना उचित ही है कि जन जीवन की अनुभूतियों के लिए लोक मन का अध्ययन करना बेहद महत्वपूर्ण है। इससे ही जीवन के वैविध्य का पता चलता है। इस अध्ययन में हमने इसी जीवनगत वैविध्य का सहारा लिया है और एक लम्बी यात्रा की है।

तब यह कहना ठीक ही है कि लोक जीवन के मर्म को पकड़ने वाले कवियों से ही उस मनुष्यता की रक्षा हो सकेगी, जिसकी आज सबसे अधिक जरूरत है। ये लोक सौन्दर्यपरक रचनाएँ ही वास्तविकता में जीवन के उस मर्म का उद्घाटन कर सकेंगी, जिनमें न केवल संघर्ष की भावना है, वरन् जिसका होना भी उतना ही जरूरी है। यही वह धारा भी है, जिसने साहित्य व समाज को रूढ़ियों से बचाया है। हम जिस किसी भी परम्परा की बात करें। जिस किसी धारा की बात करें वह इन्हीं से होकर गुजरती है। इसका कारण शायद यही है कि इनमें ही सबसे अधिक परिवर्तन होता है और इनसे ही परिवर्तन की प्रवृत्तियों का उदय होता है। ऐसा शायद इनकी अपनी जड़ों से संसक्ति का ही परिणाम रहा है। यह संसक्ति ही हमारे विश्लेषण का उद्देश्य रही है, जहाँ हम हर वस्तु को उसकी समग्रता व ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखते हैं।

इस रूप में साठोत्तरी हिन्दी कविता का विश्लेषण बेहद रोचक बन पड़ा है, जहाँ लोक सौन्दर्य की दृष्टि से इनकी परम्परा में जाना एक नये अनुभव के दौर से गुजरना रहा है। अपभ्रंश के धनपाल कृत 'भविसयत्त कहा' से आरम्भ होकर कबीर से होते हुए जब हम आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र व निराला तक आते हैं, तो एक अजीब सी समानता इन सभी में दिखायी देती है, जिसमें संघर्ष है, परिवर्तन की कामना के साथ परम्परा प्रियता भी है और रूढ़ियों का अतिक्रमण है। यही प्रवृत्ति साठोत्तरी

हिन्दी कविता में आगे बढ़ती है, जो लोक सौन्दर्य के उभरते जाने का कारण बनती है।

इसी आधार पर हमने आधुनिक काल को विश्लेषित करते लिखा है कि आधुनिक काल की कविता बहुत कुछ के टूटने की कविता है। जब भाषा टूटी, छंद टूटा तो भाव भी टूटे। भाव के इन्हीं टूटन के साथ नये भाव भी फूटे और कविता व्यापक जन जीवन से जुड़ी। इस रूप में टूटना, वास्तव में एक वृहत्तर संदर्भ से जुड़ना ही है। भारतेन्दु से आरम्भ होकर यह प्रक्रिया आगे बढ़ती है और साठोत्तरी हिन्दी कविता में अपना विकास पाती है।

इसी कारण साठोत्तरी हिन्दी कविता तक आते आते सौन्दर्य की प्रचलित अवधारणा टूटी और वह आध्यात्मिक धरातल से लोक जीवन तक उतरा। यह ही सौन्दर्य का लौकिकीकरण है जो लोक सौन्दर्य का कारण बना। यही वजह रही कि इस समय में सौन्दर्य का वृत्त बड़ा हुआ और वह 'खुरदुरेपन' का सौन्दर्य बन गया। जैसे जैसे यह खुरदुरापन बढ़ता गया है, वैसे वैसे साठोत्तरी कवियों ने इसकी अभिव्यक्ति दी है। यही कारण है कि अब दुनिया की हर वस्तु काव्य संभावना से युक्त लगती है जो कुछ और नहीं, कर्म सौन्दर्य ही है, जिसमें हर वस्तु/प्राणी की उपादेयता स्वीकार की जाती है। स्वयं प्रकृति सौन्दर्य भी इसी अनगढ़ता का सौन्दर्य बन पड़ा है।

इस रूप में इस धारा के कवियों ने न केवल प्राकृतिक सौन्दर्य को बचाया है, बल्कि उस सौन्दर्य का उद्घाटन भी किया है जो खुरदुरी परतों में छिपा हुआ है। कहना न होगा कि सभ्यता के विकास के साथ साथ जैसे जैसे बाहरी परतों की चिकनाई बढ़ती गयी है, वैसे वैसे इन कवियों के अनुभव जगत का खुरदुरापन भी बढ़ता गया है। साठोत्तरी हिन्दी कविता का सौन्दर्यबोध इसी खुरदुरेपन का सौन्दर्यबोध है। उसके जीवन का सौन्दर्य इसी अनगढ़ता का सौन्दर्य है। जैसे यह अनगढ़ता अनादि और

अबाध है, वैसे ये कविताएँ भी। यही "अबाध गति मुक्त छंद" (निराला) की प्राणवत्ता है। यही लोक मन के कवियों के निरंतर मुक्त (और इसीलिए कविता में युक्त) होते जाने का रहस्य है, जो उन्हें महत्व प्रदान करता है।

संदर्भ सूची

इस शोध प्रबन्ध में मुख्य रूप से जिन पुस्तकों की सहायता ली गई है, उनके नाम इस प्रकार हैं-

(क) पुस्तक नाम -

1. डा0 मैनेजर पाण्डे - 'शब्द और कर्म' - 1981 - धरती प्रकाशन, गंगा शहर, बीकानेर।

2. डा0 मैनेजर पाण्डे - 'साहित्य और इतिहास दृष्टि' - पीपुल्स लिटरेसी प्रकाशन।

3. डा0 मैनेजर पाण्डे - 'साहित्य के समाज शास्त्र की भूमिका' - हरियाणा साहित्य एकेडमी, चण्डीगढ़ - 1989।

4. संकल्प का सौन्दर्य शास्त्र - डा0 अजित कुमार और मन्नू भंडारी - राधाकृष्ण प्रकाशन - 1997।

5. लोक दृष्टि और हिन्दी साहित्य - चन्द्रबली सिंह - 1956 - सत्साहित्य प्रकाशन, लक्ष्मीकुंड, वाराणसी।

6. भारत भूषण अग्रवाल - कवि की दृष्टि - द मैकमिलन कम्पनी आफ इंडिया लिमिटेड, नयी दिल्ली।

7. डा0 नित्यानंद तिवारी - आधुनिक साहित्य और इतिहास बोध - वाणी प्रकाशन, दिल्ली।

8. डा0 देवी शंकर अवस्थी - रचना और आलोचना - 1979 - The macmillan company - New Delhi.

9. डा0 राम दरश मिश्र - हिन्दी कविता - आधुनिक आयाम - वाणी प्रकाशन, नयी

दिल्ली।

10. प्रभाकर श्रोत्रिय - रचना एक यातना है - नेशनल पब्लिसिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1985।

11. डा0 मीरा श्रीवास्तव - कृष्ण काव्य में सौन्दर्य बोध और रसानुभूति हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग - 1976।

12. डा0 राम विलास शर्मा - प्रगतिशील काव्य धारा और केदार नाथ अग्रवाल - परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद - 1986।

13. डा0 राम विलास शर्मा - निराला की साहित्य साधना - भाग 1, 2 और 3।

14. डा0 शर्मा - महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण।

15. डा0 शर्मा - भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ।

16. डा0 शर्मा - नई कविता और अस्तित्ववाद।

17. डा0 शर्मा - परम्परा का मूल्यांकन।

18. डा0 शर्मा - लोक जागरण और हिन्दी साहित्य।

19. डा0 शर्मा - भारतीय साहित्य की भूमिका - राजकमल प्रकाशन, 1996।

20. डा0 नामवर सिंह - कविता के नये प्रतिमान - राजकमल प्रकाशन - 1968।

21. डा0 नामवर सिंह - छायावाद।

22. डा0 नामवर सिंह - आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ।

23. डा0 नामवर सिंह - दूसरी परम्परा की खोज।

24. डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी - साहित्य और संवेदना का विकास।

25. डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी - मध्यकालीन हिन्दी काव्य भाषा - लोकभारती प्रकाशन,

इलाहाबाद।

26. डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी - आधुनिक कविता यात्रा - लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद - 1998।

27. डा0 परमानंद श्रीवास्तव - शब्द और मनुष्य - राजकमल प्रकाशन - 1988।

28. डा0 परमानंद श्रीवास्तव, समकालीन कविता का यथार्थ - हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़।

29. डा0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, सं- आठवें दशक की हिन्दी कविता - प्रकाशन संस्थान, नवीन शाहदरा, दिल्ली - 1982।

30. डा0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - साठोत्तर हिन्दी कविता का परिप्रेक्ष्य - सं -

31. विजय कुमार - कविता की संगत - आधार प्रकाशन, चण्डीगढ़ - 1995।

32. डा0 केदार नाथ सिंह - मेरे समय के शब्द, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली - 1993।

33. डा0 विजयदेव नारायण साही - वर्धमान और पतनशील - वाणी प्रकाशन - 1991।

34. डा0 साही - छठवाँ दशक - हिन्दुस्तानी एकेडमी - इलाहाबाद - 1987।

35. श्रीनारायण चतुर्वेदी - आधुनिक हिन्दी का अदिकाल, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद - 1973।

36. डा0 सत्येन्द्र - मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन - विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा - 1966।

37. डा0 परशुराम चतुर्वेदी - भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ - साहित्य भवन, इलाहाबाद - 1955।

38. डा0 निर्मला जैन - आधुनिक साहित्य - मूल्य व मूल्यांकन - राजकमल प्रकाशन, 1980।

39. डा0 ओम प्रकाश शर्मा - संत साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि - हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद - 1965।

40. डा0 धनंजय वर्मा - लोक मंगल - परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद - 1986।

41. डा0 शिव बालक राय - काव्य में सौन्दर्य व उदात्त तत्व - वसुमती प्रकाशन, 38 जीरो रोड, इलाहाबाद - 1968।

42. डा0 प्रेम शंकर - भक्ति काव्य की सामाजिक सांस्कृतिक चेतना - नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली - 1979।

43. डा0 शिव कुमार मिश्र - भक्तिकाव्य और लोक जीवन- पीपुल्स लिटरेसी प्रकाशन, नयी दिल्ली - 1983।

44. डा0 गोविन्द चन्द्र पाण्डे - मूल्य मीमांसा - राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी - चण्डीगढ़ - 1970।

45. डा0 रमेश कुन्तल मेध - अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा।

46. डा0 नगेन्द्र - भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका - नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

47. मलयज - संवाद और एकालाप - राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली - 1984।

48. डा0 जीवन सिंह - कविता की लोक प्रकृति - अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद - 1990।

49. डा0 सत्य प्रकाश मिश्र - आलोचक और समीक्षाएँ - विभा प्रकाशन, इलाहाबाद - 1990।

50. डा0 परमानंद श्रीवास्तव - नयी कविता का परिप्रेक्ष्य - नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद - 1968।

51. साठोत्तर हिन्दी साहित्य का परिप्रेक्ष्य - संपादक - हिन्दी विभाग, पुणे विद्यापीठ, पुणे नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली - 1987।

52. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास - नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

53. आचार्य रामचंद्र शुक्ल - रस मीमांसा - नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

54. डा0 कमला प्रसाद - सं - लोक साहित्य और संस्कृति - साहित्य वाणी प्रकाशन, इलाहाबाद - 1994।

55. कुमार विमल - सौन्दर्य शास्त्र के तत्व - राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली - 1968।

56. डा0 परशुराम चतुर्वेदी - भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ - साहित्य भवन, इलाहाबाद - 1955।

57. डा0 हरद्वारी लाल शर्मा - सौन्दर्यशास्त्र -मधु प्रकाशन, ताशकंद मार्ग, इलाहाबाद - 1।

58. डा0 सत्य प्रकाश मिश्र - कवि शिक्षा की परम्परा और हिन्दी साहित्य, चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद - 1981।

59. अज्ञेय - कवि दृष्टि - लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

60. डा0 अजय तिवारी - प्रगतिशील कविता के सौन्दर्य मूल्य - 1984 - परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद।

(ख) रचनावली-

1. मुक्तिबोध रचनावली - राजकमल पेपरबैक्स।

2. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी - रचनावली, राजकमल प्रकाशन।

3. निराला रचनावली - राजकमल प्रकाशन।

4. भारतेन्दु समग्र - सं0 - हेमंत शर्मा - प्रचारक ग्रंथावली परियोजना, पिशाचमोचन, वाराणसी - 1।

(ग) पत्रिकायें-

1. 'नयी कविता' अंक - 3, 4, 5, 6 - संपादक - डा0 जगदीश गुप्त और डा0 विजयदेव नारायण साही।

2. पूर्वग्रह - शतांक - 1990।

3. समास - 4, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली - 1995।

4. पहल - इतिहास अंक - 1992, 'नवजागरण और इतिहास चेतना।

5. लोक संस्कृति विशेषांक -सम्मेलन पत्रिका - इलाहाबाद - 1953।

6. लोक संस्कृति अंक, हिन्दुस्तानी विशेषांक - इलाहाबाद - 1984।

7. सापेक्ष 38 - लोक संस्कृति अंक।

8. तार सप्तक - 1943, दूसरा सप्तक - 1951, तीसरा सप्तक - 1959।

9. वसुधा - कविता विशेषांक - 1996।

10. उद्भावना कवितांक - सदी के अंत में कविता - अंक 47, 48 - 1998।

(घ) अंग्रेजी पुस्तकें-

1. S. Alexander - Beauty and other form of values - Mc. Millan Company Ltd., London - 1933.

2. O.C. Ganguly - Indian art and heritage - Oxford Book Co., Calcutta - 1957.

3. James H. Cousines - The philosophy of beauty - Theosophical publishing house, Adyar, Madras - 1925.

4. R. Shastri - Indian concept of beautiful.

5. Sri Aurobindo - The foundation of Indian culture.

6. K.S. Ramaswamy Shastri - Indian aesthetics - 1928.

7. B. Das and Mohanty - Literary criticism : A reading - 1985, Oxford University press.

8. E.H. Car - What is History.